सहजानंद शास्त्रमाला

प्रवचनसार प्रवचन

भाग-1

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी ''सहजानन्द'' महाराज

प्रकाशक

श्री सहजानंद शास्त्रमाला, मेरठ

एवं

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास

गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

http://sahjanandvarnishastra.org/ (सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

प्रवचनसार प्रवचन

प्रथम व द्वितीय भाग

प्रवक्ता:

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ

पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

प्रकाशक:

खेमचन्द जैन सर्राफ,

मंत्री, श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उत्तर प्रदेश)

स्वाध्यायार्थी बन्धु, मन्दिर एवं लाइब्रेरियोंको

भारतवर्षीय वर्णी जैनसाहित्य मन्दिरकी ओरसे अर्धमूल्यमें ।

प्रथम संस्करण १०००] सन् १९७० मूल्य १५)

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आत्म-कीर्तन

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री शान्तमूर्ति पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज द्वारा रचित

हूं स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहं रागवितान।
मैं वह हूं जो हैं भगवान, जो मैं हूं वह हैं भगवान ॥१॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२॥

सुख दुःख दाता कोइ न आन, मोह राग दुःख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुःखका नहिं लेश निदान ॥३॥

जिन शिव ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुंचूं निज धाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥४॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूं अभिराम ॥५॥

ooooOoooo

[धर्मप्रेमी बंधुओ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरों पर निम्नांकित पद्धतियों में भारतमें अनेक स्थानोंपर पाठ किया जाता है। आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें।
२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें।
३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रों द्वारा।
४—सूर्योदयसे एक घंटा पूर्व परिवारमें एकत्रित बालक, बालिका, महिला तथा पुरुषों द्वारा।
५—किसी भी आपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्थ, चौपाई या पूर्ण छंदका पाठ शान्तिप्रेमी बन्धुओं द्वारा।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अध्यात्मयोगी सिद्धान्तन्यायसाहित्य शास्त्री, न्यायतीर्थ
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी

का

प्रवचनसार पर प्रवचन

ज्ञानाधिकार

सर्वव्याप्येकं चिद्रूप स्वरूपाय परात्मने ।
स्वोपलब्धि प्रसिद्धाय ज्ञानानंदात्मने नमः ॥

यह प्रवचनसार कुन्दकुन्द रचित है । भगवान कुन्दकुन्दने बालावस्थामें मुनिपदको धारण किया और निज ज्ञायकरूप आत्माके अनुभवमें अपना जीवन व्यतीत किया । उनके ग्रन्थ समयसार, नियमसार और प्रवचनसार सभीमें अध्यात्मध्वनि है । उनके सर्व ग्रन्थोंका उद्देश्य आध्यात्मिक ज्ञानभावकी पुष्टि करना है ।

पूज्य श्री कुन्दकुन्ददेवका पवित्र जीवन—जब हम कुन्दकुन्दाचार्यके वचनपर दृष्टिपात करते हैं तो ज्ञात होता है कि जन्मकालसे ही उनमें अध्यात्मभावोंके संस्कार भरे हुए थे । जब वे केवल बच्चे थे तब उनकी माता उन्हें पालनेमें सुलाकर ये लोरियां गाया करती थीं—

शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरंजनोऽसि संसारमायापरिवर्जितोऽसि ।
संसारस्वप्नं त्यज मोहनिद्रां श्रीकुन्दकुन्दं जननीदमूचे ॥

अर्थात् श्री कुन्दकुन्दकी माता बचपनमें पालनेमें झुलाती हुई कुन्दकुन्दसे कहती है कि हे बालक आत्मन् ! तू शुद्ध है, समस्त परद्रव्य, पर क्षेत्र, परकाल एवं परभावोंसे रहित है । तू बुद्ध है, ज्ञानमय है, निरंजन है, द्रव्यकर्म भावकर्मसे रहित है, संसारकी अन्तरंग बहिरंग रूप मायासे परिवर्जित है । संसारके स्वप्न, रागद्वेषादि प्रवृत्तियां और मोहिनीनिद्रा-अज्ञानभाव दोनोंको छोड़ो । बार बार इस ही व ऐसे ही गीतोंको बचपनसे ही सुनने वाले कुन्दकुन्द ज्यों ज्यों बढ़ते गये उनकी ज्ञानकला दोजके चंद्रमाकी तरह विकसित होती गई । वे ११ वर्षकी आयुमें पूर्ण विरक्त महाव्रती साधु हो गये । उन्होंने अध्यात्मका पूर्ण मनन किया, आगमयुक्ति के पूर्ण विद्वान हुए, गुरुपरम्परागत उपदेशामृतोंका पान किया तथा स्वानुभवसे ही निज ब्रह्म-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भावका साक्षात्कार किया था। उन्हीं श्रीकुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित प्रवचनसारकी तत्त्वप्रदीपिका नामकी टीकाके रचयिता उत्कृष्ट अध्यात्मयोगी पूज्य श्री १०८ अमृतचंद्राचार्यका यह प्रारंभिक मंगलाचरण है।

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने।
स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानंदात्मने नमः॥

मंगल आचरण—मंगलाचरण शब्दका अर्थ है "मं पापं गालयतीति मंगलं अथवा अथवा मंगं सुखं लाति इति मंगलम् तस्य आचरणं प्रकटीकरणं कथनं तदनुकूलतया प्रवर्तनं वा मंगलम्" जो पापको नष्ट करे अथवा सुखको प्राप्त करावे ऐसे परिणामका प्रकट करना व उसके अनुसार प्रवर्तन करना सो मंगलाचरण है।

यद्यपि भगवत्प्रणीत परमागमका एक एक शब्द मंगल है तथापि जिनके मूलसे परम्परागत जिनसूत्रके निमित्तसे ही सातिशय अलौकिक अनुपम ज्योति जिन्हें प्राप्त हुई उन्हें इस विभूतिके वर्णनके समय उन प्रभुका उस परमात्मभावका बहुमान आये बिना रहता नहीं है, इसी भावके प्रतिफलस्वरूप उत्पन्न हुए योगके निमित्तसे श्री सूरिजी के मुखकमलसे प्रथम ही प्रथम जो वचन सौरभ विकसित हुआ वह मंगलाचरण ही है।

चित्स्वरूपकी सर्वव्यापिता—इस मंगलाचरणमें परमात्माको नमस्कार किया है। परात्मा—पर अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा। इसे ही परात्मा, शुद्ध आत्मा आदि कहते हैं। परात्मा कैसे हैं? सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय सर्व द्रव्योंमें, सर्व क्षेत्रोंमें, सर्व कालोंमें, सर्वभावोंमें, व्यापी है। फिर भी एक चैतन्य स्वरूप है। यहां ये दोनों विशेषण भावकी अपेक्षासे हैं और दूसरा विशेषण भावकी त्रैकालिक सामान्य स्वरूपकी अपेक्षासे है। शुद्धात्मा सर्वज्ञ ज्ञानभावका निज ज्ञेयाकार स्वरूपसे व्यापक है। जहां यह वर्णन आता है कि प्रभु अपने आत्मप्रदेशोंमें रहते हुए समस्त विश्वको जानते हैं वहां ज्ञानकी अपेक्षा तो सर्वज्ञता कह दी है परन्तु क्षेत्रकी अपेक्षा करके संयुक्त दृष्टि बनाई गई है। व्याकरण शास्त्रमें जो धातुएँ जाननेके अर्थमें हैं वे धातुएँ गमनके अर्थमें भी हैं। जिससे यह सामंजस्य बैठता है कि जानना गतिरूपक होता है। व्यवहारमें भी कहते हैं कि मेरा ज्ञान इस सारे कमरेमें है। यहां भी केवल भावकी अपेक्षा विचारो कि ज्ञानका जो स्वरूप है साधारणतया अनुपयुक्त करके उसका विशेषकी दृष्टिसे क्या उत्तर होगा? इसका जो उत्तर होगा वह आत्मप्रदेशोंकी परक्षेत्रगत संकुचितताकी प्रतिष्ठा न करेगा। परमात्मा सर्वद्रव्य, उनके सर्वगुण, उनकी सर्वपर्यायें, समस्त अविभाग अंश, सबको एक समयमें जानते हैं। प्रत्येक आत्माओंका प्रधान लक्षण ज्ञान है। ज्ञान गुणके द्वारा आत्मा लक्षित है तब परमात्मा भी ज्ञान गुणके द्वारा लक्षित होते हैं। वह ज्ञान भावकी दृष्टिसे सर्वविश्वरूप है अतः सर्वव्यापी है। फिर भी एक

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

चैतन्य स्वरूपमय है। ये दोनों बात सामान्य विशेष भावकी अपेक्षासे हैं। वस्तु सामान्य-विशेषात्मक होती है और गुण भी सामान्यविशेषात्मक होते हैं। गुणका विशेष रूप पर्यायसंज्ञित है परन्तु कोई भी पर्याय उस समय गुणसे भिन्न नहीं है और गुणपर्याय द्रव्यसे भिन्न नहीं है।

आत्माके चैतन्यकी अविष्वग्भावता—चित्स्वरूप तो आत्माका सर्वस्व है। कितने ही लोग बुद्धिगत ज्ञानको उत्पन्न विनष्ट देखकर उस ज्ञानसे रहित आत्माकी स्थिति समझकर आत्माको अचेतन अज्ञानी कह देते हैं और ज्ञानके समवाय सम्बंधसे चेतन ज्ञानी कहते हैं। परंतु यह तो विचारो कि आत्माके स्वभावमें जब चैतन्य ही नहीं तब समवायसम्बंधसे चैतन्य आ भी जावो, फिर भी समवायसम्बंधके बिना अथवा चैतन्यस्वभावके बिना आत्मा वस्तु भी क्या है? चित्त तो आत्माका अविष्वग्भावमय धर्म है, प्राण है तथा जब चेतना है तो उसका परिणमन कार्य भी निरंतर है। उसका कार्य है प्रतिभास। सारांश यह है कि आत्मा चैतन्य-मय ज्ञानदर्शनमय है तथा शुद्ध ज्ञान सर्वज्ञ है, शुद्ध दर्शन सर्वदर्शी है। जब हम ऐसी छद्मस्थ अल्पज्ञान इन्द्रिय दशामें भी इतना सब कुछ जान लेते हैं तब जहाँ ज्ञानके आवरक कर्मका, आवरक नोकर्मका सर्वथा अभाव हो गया। उसका ज्ञान सर्वव्यापी न हो, हम लोगोंके ज्ञानसे भी गया बीता ज्ञान हो, ऐसा नहीं। सीमायें अशुद्धावस्थामें होती हैं। शुद्धावस्थामें गुण असीमपर्यायी होता है। भगवान परमात्मा तो सर्वव्यापी व एक चिद्रूप हैं, स्वरूप हैं, ऐसे परमात्माको नमस्कार हो।

आत्माकी स्वोपलब्धिप्रसिद्धता—अब दूसरा विशेषण कहते हैं 'स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय' परमात्मा स्वकी उपलब्धिसे प्रसिद्ध है। स्वकी उपलब्धि चरमसिद्धिको प्राप्त आत्मसिद्धि वाले हैं। वास्तवमें सिद्धपर्याय शुद्धपर्याय स्वकी उपलब्धिका परिणाम है। स्वकी उपलब्धिसे विकसित है। यहाँ स्वका अर्थ है निर्विकल्प अनाद्यनंतस्थायी सामान्य स्वरूप कारणशुद्धपर-मात्मा या कारणसमयसार अर्थात् परमपारिणामिक भाव। शुद्धावस्थारूप मोक्षतत्त्वकी प्राप्ति किस उपायसे होती है? इस बातका वर्णन इस दूसरे विशेषणमें है।

जीवके निज तत्त्व ५ माने गये हैं—(१) औपशमिक भाव, (२) क्षायिक भाव, (३) क्षायोपशमिक भाव, (४) औदायिक भाव, (५) पारिणामिक भाव। इनमेंसे आदिके ४ अर्थात् औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक तो पर्यायरूप हैं और पारिणामिक भाव जिसके कि २ प्रकार हैं—(१) शुद्ध पारिणामिक (२) अशुद्ध पारिणामिक, परम पारिणामिक तो एक ही प्रकार है, ज्ञानदर्शन चेतनामय शुद्ध जीवत्वरूप है किन्तु अशुद्ध जीवत्व अशुद्धपारिणामिक भावके ३ भेद हैं—(१) दसप्राण जीवनरूप, (२) भव्यत्व (३) अभव्यत्व। पारिणामिक भावोंमें से परमपारिणामिक भाव शुद्धद्रव्य रूप है। शेषके ३ अशुद्धद्रव्यरूप हैं व पर्यायार्थिक नयरूप हैं। अब यहाँ जो पर्यायरूप है सो तो कार्य है

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और शुद्धपारिणामिक भाव बंधमोक्षरहित है। किन्तु जो शुद्ध पारिणामिक भावरूप चैतन्य भावकी भावनारूप परिणति है वह शुद्धोपयोगका साधन उपाय है। वह औपशमिक, क्षायिक, क्षयोपशमिक भावरूप है। कथनका सारांश यह है कि प्रभु परमपारिणामिक भाव स्वरूप स्वकी उपलब्धिसे प्रसिद्ध हुए हैं।

निजब्रह्मकी ज्ञानानन्दरूपता—अहो, देखो तो कल्याणका मूल स्रोत यही तो है, इसे ही न जाकर अज्ञानीके यह तत्त्व पासमें होनेपर भी अत्यन्त दूर हो गया है। ज्ञानी होनेपर ही पता लगता है कि अरे यही तो सुखपूर्ण तत्त्व था, अनंतकाल व्यर्थ भटका।

भैया! वैराग्य प्रकाशमें एक कथा लिखी है "एक गृहस्थ साधुके दर्शनको जंगलमें गया, साधु ने उसे बताया कि एक ब्रह्म ही तत्व है अन्य सर्व माया है, अस्थिर है।" उसे उपदेश रुचिकर हुआ और आगे जाननेकी इच्छा हुई और पूछा तब साधु बोले—अधिक विशेष जानना हो तो किसी पंडितजी से पढ़ो। वह कहीं पंडितजीसे पढ़ने लगा और इसके एवजमें पंडितजीके आदेशानुसार उनकी गौशालामें गोबर थापनेकी सेवा करने लगा। १२ वर्ष तक पढ़ा, अन्तमें तत्त्व बताया यही। तब उसे खेद हुआ कि यह तत्त्व तो साधुसे ही जान गया था यही तो तत्त्व है, बारह वर्ष व्यर्थ गोबर उठाया। भाई कितना ही भ्रमण करे, सुखकी खोज करे क्या होता है? सुख तो यही पारिणामिक भावके उपयोगमें है। यही है, अन्य सारा भ्रमण व्यर्थ है।

इसलिये जैसे ज्ञानानंदात्मक परमात्मा है वैसे ही मैं भी स्वभावसे ही ज्ञानानन्दात्मक हूं, जिनके ज्ञान और आनन्द पूर्ण व्यक्त है ऐसे परमात्माके लक्ष्य द्वारा निज ज्ञानानंदात्मक चैतन्य भगवान की भावना रूप, परिणति रूप, अद्वैत भावको नमस्कार हो।

परमात्माको नमस्कार करके अब अनेकान्तमय तेज अर्थात् ज्ञानदात्री सरस्वतीको जयवाद रूप नमस्कार करते हैं—

"हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं जयत्यदः।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमयं महः ॥२॥"

विश्वकी अनेकान्तमयता—"लीलामात्रमें ही नष्ट कर दिया है महान् मोहरूप अंधकारके समूहको जिसने तथा समस्त तत्त्वोंको प्रकाशमान करने वाले अनेकान्तमय तेज प्रतिदिन जयवंत रहे।" चैतन्यस्वरूप स्वयं अनेकान्तरूप है एवं प्रतिभासस्वरूप होनेसे तेज रूप कहलाता है। इस चैतन्यस्वरूपका ही नाम सरस्वती है। सरस्वतीकी शाब्दिक व्युत्पत्ति है:—"सरः प्रसरणं यस्याः सा सरस्वती" अर्थात् जिसका असीम प्रसार होता है, वह सरस्वती विशुद्ध चैतन्य परिणति ही है। सर्व वस्तुयें अनेकान्तात्मक हैं, यह चैतन्य भगवान भी अनेकान्तात्मक है। यह अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावकी अपेक्षासे है, परंतु परके द्रव्य, क्षेत्र, काल

Version 1

एवं भावकी अपेक्षासे नहीं है। समस्त वस्तुयें तथा यह चैतन्य परिणति द्रव्यदृष्टिसे नित्य है, अविनाशी है और पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। त्रिकाल एक स्वरूपकी अपेक्षासे एक है, प्रत्येक पर्याय अथवा प्रत्येक भावोंकी अपेक्षासे अनेक है। इस प्रकार द्रव्यत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व एवं वस्तुत्वादि अनंत धर्मोंसे यह विशुद्ध चैतन्य परिणति युक्त है। इस चैतन्य भगवानका प्रधान एवं असाधारण गुण जो स्वरूप सर्वस्व है वह भी अनेकांतमय है। हम इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं कि "न एकः अपिः अन्तः धर्मः यत्र सः अनेकांतः" अर्थात् जहाँ एक भी धर्म न हो, उसे कहते हैं अनेकांत। आत्मवस्तुके गुणोंके अभेदरूप अखण्ड अनुभवमें आनेपर वह अनुभवात्मक चैतन्य तेज पृथक्-पृथक् धर्मोंकी दृष्टिसे रहित होता है, उस अनुभवको अनेकान्तमय तेज कहते हैं। एक वस्तुमें परिगणित कुछ धर्मोंके सद्भावकी कल्पना करना अज्ञान है क्योंकि यदि वस्तुको विविध विशेष दृष्टियोंसे देखा जाय तो उसमें अनेक अनंत गुण प्रमाणित होते हैं, तथा यदि सामान्य दृष्टिसे देखा जाय तो वह एक अखण्ड वस्तु प्रतिभासित होकर भी अन्यकी तो बात क्या, उस ही एकके विकल्परहित अनुभवमें आती है।

अनेकान्तमय तेज—परमपूज्य भगवत् अर्हंद्देवकी दिव्य ध्वनिकी परम्परासे आगत यह परमागम स्याद्वादपूर्वक वस्तुतत्त्वका निर्णय करेगा। वह निर्णय वस्तुतः स्वकीय विशुद्ध चैतन्यमय परिणतिके अनेकान्तमय तेजसे होगा। इसी कारण प्रातःस्मरणीय पूज्य स्वामी श्री अमृतचंद्राचार्य जी टीका प्रारम्भ करनेके पूर्व ही अनेकांतमय तेजका स्मरण करते हैं। अनेकांतमय वस्तुको प्रकट करने वाला वाङ्मय भी अनेकांतमय है। अतः उक्त श्लोकमें सरस्वती एवं जिनवाणी माताको भी नमस्कार किया गया है ऐसा ध्वनित है। सरस्वती तो भावरूप निगम और आगम है तथा जिनवाणी है शब्दरूप आगम। जो लिपिगत व श्रवणगत है वह जिनवाणी है और जो ज्ञानगत एवं अनुभवगत भाव है वह सरस्वती है। लौकिक जन सरोवरमें कमलके ऊपर हंसके समीप बैठी हुई चतुर्भुजाके रूपमें, सरस्वतीका रूपक बांधते हैं तथा उन चतुर्भुजाओंमें माला, पुस्तक, वीणा एवं शंखकी कल्पना करते हैं। यह कल्पना कल्पना ही है, यदि हमने उसके रहस्य व लक्ष्यपर दृष्टिपात न किया। वह रूपक जिनवाणी व चैतन्यस्वरूपके विकासका उपाय आदि अनेक समुचित तत्त्वोंपर प्रकाश डालता है।

"तालाबकी कल्पनाका भाव प्रसरणसे है। चैतन्यप्रसारकी अनुभूति सरस्वतीका आवास है। सरस्वती परमागमरूप है, परमागम विशुद्ध हृदयरूप कमलमें ही विलास पा सकता है। परमागम चार अनुयोगरूप है। यही अनुयोग परमागमकी चतुर्भुजाएँ हैं:—(१) प्रथमानुयोग (२) करणानुयोग (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग। निर्मल चित्तरूप भव्य हंस परमागमका आराध्य है। यह भव्य ही अपनी रुचिपूर्ण दृष्टिसे सरस्वतीका अन्तर्बाह्य दर्शन करता है। सरस्वतीकी भुजाओंमें स्थित वस्तुयें परमागमके फल प्रवेशके उपाय दर्शाती हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सरस्वतीके करमें स्थित माला यह प्रगट करती है कि अनेक भव्य प्राणी ध्यानद्वारा चैतन्य तत्त्वकी प्राप्ति करते हैं। अनेक भव्य पुस्तक अर्थात् स्वाध्यायसे चैतन्य पोषणमें प्रयत्नशील होते हैं। अनेक भव्य वीणाकी सुमधुर ध्वनिसे प्रसारित आत्मविकासी भजनोंसे निजात्मिक हृदयतन्त्रीपर स्वयंको स्वयंके कल्याणार्थ अन्य सांसारिक परपदार्थोंसे विमुख होकर स्वयंमें लीन होनेके लिये जिनतत्त्वस्वरूप आत्माके गीत गाते हैं तथा कितने ही अनाहत ध्वनिसे पुरस्कृत करके तत्त्वकी आराधना करते हैं। निज चैतन्यतत्त्वकी पोषिका जिनवाणी सरस्वती सदा जयवंत रहे और इसके द्वारा प्राप्य परमलक्ष्यभूत अनेकांतमय तेज सदा जयवंत रहे। यहां भावरूप देवता होनेसे जयवाद रूप नमस्कार किया गया है।

अनेकान्तमय तेजकी महामोहान्धनाशकता—अब अनेकांतमय तेजके विशेषण विशदरीत्या कहे जाते हैं:—वह अनेकांतमय चित्प्रकाश "हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोमं" अर्थात् लीलामात्रमें ही महान् मोहांधकार वितानको लुप्त करने वाला है। समर्थको किसी भी कार्यमें विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता, उसे सर्व क्रियाएँ साधारण ही प्रतीत होती हैं। उसकी जैसे ही चैतन्य तत्त्वकी ओर दृष्टि केन्द्रित हुई कि अनंतसंसार, निबिड मोहांधकार पूर्णरूपेण विलीन हो जाता है, नष्ट हो जाता है। जब तक जीवकी पर्यायबुद्धि रहती है तब तक अनाद्यनंत, स्वसहाय, अखण्ड चैतन्यमय निज तत्त्वपर दृष्टि नहीं होती। निज शुद्ध चैतन्यतत्त्व, जो दूधमें घी की भाँति प्रति समय विद्यमान है, अव्यक्त है परंतु है ज्ञानगम्य, ज्ञानमें प्रतिभासित होते ही अनंतानुबंधी भाव नष्ट हो जाता है। देखो इस चेतनभगवानका विलास। यह चेतनद्रव्य एक है, अखण्ड है पुनरपि बहुप्रदेशी है। यह असंख्यातप्रदेशी होनेपर भी एक-एक अंश कर संयुक्त नहीं है अपितु सम्पूर्ण एक निरंशरूप है। जैसा एक आत्मा एक प्रदेशमें है वही वैसा ही आत्मा सर्वप्रदेशोंमें है। इस तरह असंख्यातप्रदेशी अखंड आत्माके प्रत्येक प्रदेशमें अनंत गुण हैं तथा जो जैसे अनंत गुण सर्व प्रदेशोंमें हैं वही वैसे अनंत गुण सब प्रदेशोंमें हैं या उन अनंत गुणोंके अविभागी समुदायका जो क्षेत्र है वही तो प्रदेश है। एक गुणका कार्य सर्वगुणोंमें व्याप रहा है क्योंकि वस्तु एक अखण्ड है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जैसे एक सूक्ष्म गुणके प्रभावसे सर्वगुण सूक्ष्मरूप है, ज्ञान सूक्ष्म, दर्शन सूक्ष्म, सुख सूक्ष्म, शक्ति सूक्ष्म आदि.... आदि। इस ही प्रकार प्रत्येक गुणोंके कार्य प्रत्येक गुणोंमें व्याप रहे हैं, प्रत्येक गुण प्रत्येक गुणोंमें हैं, फिर भी उनका आधारभूत एक चैतन्य द्रव्य ही है। श्रीमदुमास्वामी विरचित तत्त्वार्थ सूत्रका भी यही वचन है:—

"द्रव्याश्रया निर्गुणा गुणाः।"

प्रत्येक गुणके अनंत अविभागी प्रतिच्छेद हैं, उन सबकी अनंत पर्यायें हैं। इस प्रकार इस चेतनका अनंत विलास हो रहा है। यह विलास अनादिसे चला आ रहा है, और अनंत

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

काल तक चलता रहेगा, परंतु चैतन्यतत्त्वके अवलोकन होनेपर अर्थात् सम्यग्दर्शन होनेपर सबका ढंग बदल जाता है और मोक्षमार्गके विलासमें परिणमन होता है। ऐसा वह अनेकांतमय चित्प्रकाश, जो कि निज दृष्टिमात्रसे ही महान मोहांधकारको नष्ट कर देता है, वह सर्वदा अहर्निश जयवंत रहे, उत्कर्षशील रहे।

अनेकान्तमय तेजमें विश्वकी प्रकाशकता—अब अनेकांतमय तेजका अग्रिम विशेषण "जगत्तत्त्वं प्रकाशयत्" का स्पष्टीकरण किया जाता है:—यह "जगत्तत्वं प्रकाशयत्" अर्थात् समस्त संसारके सम्पूर्ण तत्त्वोंको प्रकाशमान करता है। यह समस्त संसार जाति अपेक्षया ६ द्रव्य रूप हैं:—जीव, पुद्गल, धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय आकाश एवं काल—ये सभी द्रव्य अनेकांतमय हैं, गुणपर्यायमय हैं। इन द्रव्योंमें पुद्गल द्रव्य रूपी है। इसी कारण स्थूल अवस्थाको प्राप्त पुद्गल द्रव्य दृष्टिगोचर होता है। जो कुछ दृष्टिगोचर होता है वह सब पुद्गल द्रव्य ही है। जीव चैतन्यस्वरूप है। धर्मास्तिकाय भी अमूर्तिक है, निरूपी है और है गमन करते हुए जीव पुद्गलोंके गमनमें सहायक निमित्त। अधर्मास्तिकाय अमूर्तिक है और ठहरनेके सम्मुख हुए जीव पुद्गलोंके ठहरनेमें सहायक निमित्त है। आकाश अमूर्तिक है तथा समस्त द्रव्योंको अवगाहन देनेमें सहायक है। काल एकप्रदेशी है और अमूर्तिक है तथा सर्व द्रव्योंके परिणमनमें निमित्तभूत है। इन समस्त द्रव्योंके परिज्ञानका फल है, सर्व परद्रव्योंसे, परक्षेत्रोंसे, परपर्यायोंसे, परभावोंसे भिन्न, मात्र निज चैतन्यमय वस्तुका अवलोकन करना।

कितने ही मनुष्य इसी परमब्रह्मका लक्ष्य करना चाहते हैं किन्तु संकुचित बुद्धिगत कुछ ही धर्मोंका व एक धर्मकी ही प्ररूपणाकी मान्यता करके मूलतत्त्वकी खंडना करते हैं, किन्तु भाई! यथार्थ पूर्ण अखंड अनेकांतमय अभेद वस्तुके अनुभव बिना आनंद समाधान रूप स्थायी सत्य नहीं हो पाता।

कभी बुद्धिकी यह दिशा हो जाती है कि सर्व जगत कल्पना मात्र है, केवल ज्ञानतत्त्व ही है; ज्ञानकी ही ये सब दृष्टिगत वस्तुएँ विवर्त हैं, अतः मायारूप है। परंतु विचारो! यदि यथार्थभूत ज्ञेय वस्तु न हो तो ज्ञानका स्वरूप ही क्या हो? और यदि ज्ञान न हो तो यह विसंवादका अवसर ही क्यों हो? जगत षट्द्रव्यमय है। वे सर्व द्रव्य अनादिसे हैं और अनंतकाल तक रहेंगे। इन्हें न किसीने बनाया है और न इन्हें कोई धारण करता है। अनादिसे ही सभी द्रव्य यथायोग्य नैमित्तिक अनैमित्तिक रूप परिणमते आ रहे हैं। द्रव्यका परिणमन स्वभाव ही है; प्रति समय द्रव्यका परिणमन होता ही रहता है। ऐसे इस जगततत्त्वको प्रकाशमान करने वाला यह अनेकांतमय चैतन्य तेज जयशील होवे; ऐसी भावना ही इसका सत्य नमस्कार है।

वस्तुधर्म—अनेकांत प्रत्येक वस्तुका धर्म है, जो अनेकांतका खंडन करना चाहें वे भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अनेकांतमय हैं और जिन्हें अनेकांतका स्मरण ही नहीं वे भी अनेकांतमय हैं। प्रत्येक आत्मा स्वद्रव्यसे ही है, परद्रव्यसे नहीं है; स्वक्षेत्र प्रदेशसे ही है, परक्षेत्र प्रदेशसे नहीं है; स्वभावसे ही है, परभावसे नहीं है, एकानेक रूप है, नित्यानित्य रूप है एवं अनंत गुणोंसे युक्त है। व्यवहारमें भी देखो एक ही पुरुषमें पितृत्व, पुत्रत्व मातुलत्व आदि अनंत धर्म पाये जाते हैं, विरुद्ध अनेक धर्मोंका अपेक्षा भेदसे अवस्थान होनेमें विरोध नहीं आता।

यहाँ चैतन्य भाव मात्र निज वस्तुकी श्रद्धाके लिये प्रेरणा है। चैतन्यमात्र, ज्ञानदर्शनमात्र, ज्ञानमात्र आत्मवस्तु इसलिये कहा गया है कि यह ज्ञानभाव ही सर्व अनंत गुणोंका अभिन्न प्रतिनिधि है। सर्व गुणोंका अनुभवन ज्ञानमें मिलकर प्रतिभात होकर उनके कार्यसे प्रभावित होकर ज्ञान द्वारा होता है। कितने ही अनुभव बुद्धिपूर्वक बन जाते हैं और कितने ही अनुभव अबुद्धिपूर्वक हो जाते हैं।

इस प्रकार यह अनेकांतमय विलक्षण ज्ञानसूर्य संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसायरूप गहन अंधकारको नष्ट करके प्रकट होता है। आनंद गुण रूप कमल इस सूर्यके उदित होते ही सहजमें ही प्रस्फुटित हो जाते हैं। भव्यलोक सजग, सावधान निज पुरुषार्थमें अग्रसर हो जाता है। अहो! ऐसे निजतत्त्वकी दृष्टि प्राणियोंको अनादिसे अब तक प्राप्त नहीं हुई थी, यही कारण है कि सीधा सरल एवं सुगममार्ग होनेपर भी चतुर्गतियोंमें भ्रमण करना पड़ा। जिस पर्यायमें गया उस ही पर्यायमें उस भवके अनेक समागमोंमें यह मुग्ध ही रहा। एकेन्द्रियसे असंज्ञी पंचेन्द्रिय तकके भवोंमें तो यह करे ही क्या? परंतु संज्ञी पंचेन्द्रिय एवं मनुष्य होकर भी मनका उपयोग विषयसाधनोंके संग्रहमें किया। अब हे आत्मन्! संसार सागरसे तरनेके साधन प्राप्त किये हैं एवं आत्मयोग्यता पायी है अब सब विकल्पोंको त्यागकर निज चैतन्य भावमय स्वयंसिद्ध वर्तमानमें अव्यक्त किन्तु ज्ञानोपयोग द्वारा अन्तर्व्यक्त स्वभावकी आराधना एवं उपासना कर। दृष्ट, श्रुत एवं अनुभूत भोगोंकी आकांक्षारूप अथवा माया, मिथ्या, निदान शल्य आदि विकार भावोंसे पृथक् अनेकांतमय अनाकुल स्वभावमें ज्ञप्ति परिणति विधिसे मग्न होओ, यही सर्वसार है, यही निजतत्त्वकी जय है।

अब टीकाकार पूज्य श्री १०८ आचार्य अमृतचंद्र जी महाराज प्रस्तुत ग्रंथकी टीका करनेके प्रयोजनको बतलाते हैं:—

"परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम्।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥३॥"

प्रवचनसारकी वृत्तिरचनाका प्रयोजन—"रागद्वेषादि विकल्पोंसे रहित, निर्विकल्प ज्ञायक भाव रूप, शुद्ध आत्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न हुए, परमानंदरूप अमृतके प्यासे, भव्य जीवोंके हितके लिये यह प्रवचनसारकी वृत्ति-टीका की जा रही है।" एक बार दृष्टापनकी

Version 1

स्थिति समझ लेनेपर, उक्त स्थितिमें परमानंदका अपूर्व एवं अलौकिक आस्वादन कर लेनेसे, कुछ समयके पश्चात् ज्ञाताद्रष्टारूप स्थितिसे रहित होनेपर अस्थिर अवस्थामें उस परमानंद सुधाकी तृषा पुनः जागृत हो उठती है, ऐसे परमानंदानुभवकी प्राप्तिमें रुचि रखने वाले भव्य जीवोंके यह टीका करनेका प्रयास है। इतनी उत्कृष्ट अध्यात्म चर्चाका, आध्यात्मिक रुचि वाले योग्य पात्रोंके बिना अथवा उनके अभावमें अपात्रोंको दृष्टिमें रखकर किया जाना कठिन है।

परम आनन्द—अब श्लोकमें आये हुये पदोंका अर्थ स्पष्टीकरण किया जाता है। परमानंद परा अर्थात् उत्कृष्ट है, मा कहिये ज्ञप्ति, प्रमितिका ज्ञान अर्थात् उत्कृष्ट ज्ञानको परम कहते हैं, और उसका अविनाभावी जो आनंद है, वही परमानंद है। ज्ञानके बिना प्राप्त आनंद परमानंद नहीं कहा जा सकता। यों तो शून्यवादि "आत्मा कुछ नहीं है श्रम समाप्त होनेपर कोई क्लेश ही नहीं रहता" इस प्रकारकी भावनासे कुछ भी न अनुभव करनेपर आनंद तो प्राप्त कर ही लेते हैं। इसी प्रकार "आनन्द ब्रह्मणो रूपम्" अर्थात् केवल आनंद ही ब्रह्मका रूप है—इस प्रकारकी भावना करते-करते अन्य कुछ उपयोगमें न रहनेसे आनंद प्राप्त हो जायगा, परन्तु वह क्षणिक अनाकुलता रूप परिणमन समाधान रूप न होनेसे यथार्थता व स्थिरता नहीं ला सकता। अतः आत्माका स्वभाव आनंद मात्र नहीं है किन्तु ज्ञान एवं आनंद गर्भित है और सहज आनंदमें गर्भित है सहज ज्ञान।

परमानंदका द्वितीय अर्थ इस प्रकार भी हम जान सकते हैं। परा अर्थात् उत्कृष्ट है, मा-लक्ष्मी शोभा, या ज्ञप्ति स्वभाव जहाँपर ऐसा परम आनंद परमानन्द है। अनादि अनन्त एक स्वरूप, सदा प्रकाशमान किन्तु अव्यक्त, ज्ञानगम्य चैतन्यभावके दृढ़ लक्ष्यभावसे स्वयं होने वाली पर्याय निर्मलताके कारण वह परमानन्द अनुभवकी वस्तु है।

परमानन्दसुधारसपिपासा—आनन्द यह रूपका उपसर्गपूर्वक "टुनदि समृद्धौ" धातुसे कृत प्रत्यय होकर बना है, जिससे यह भाव प्रगट है कि सर्व ओरसे सर्व आत्मप्रदेशोंमें जो समृद्धि रूप है वह आनन्द है और वही परमानन्द ही सच्चा सुधारस है। सुष्ठु दधाति इति सुधा" अर्थात् जो आत्माको दुःखके कूपसे बचाकर उत्तम आनन्दके स्थानमें धर दे,, उसे कहते हैं सुधा। लोकमें तो जिसे इष्ट होता है उसे ही वे सुधा कहने लगते हैं किन्तु परद्रव्य कोई भी आत्माको हितरूप परिणमित तो क्या किसी भी रूप परिणमित करनेमें समर्थ नहीं, मात्र प्रत्येक वस्तु अपने आपको ही परिणमाती है, धारण करती है, अतः मेरे लिए जगतमें कुछ भी सुधारस नहीं है। मेरे चैतन्यभावकी दृष्टि मेरे लिए सुधारस है, चैतन्यभावकी दृष्टिरूप पानेसे मैं उपयोग परिणमनसे ही अमर रहूंगा। उस परमानन्दरूप सुधारसकी तृषासे आतुर एवं उसकी आराधना करनेके अनुरागी भव्य जीवोंके हितके लिये इस टीकाका प्रयास है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भव्यहितार्थ वृत्ति—भव्यानाम्—"भवितुं योग्यः भव्यः" अर्थात् जो रत्नत्रयके विशुद्ध परिणमनरूपसे पर्यायमें होने योग्य हैं उन्हें भव्य कहते हैं। यद्यपि आत्मा स्वादनके महत्त्वको वर्णन करते करते स्वयं आचार्य स्वानुभवमें विभोर होकर समस्त जगतको सम्बोधन करके विशुद्ध मार्गानुगामी होनेका आदेश करें, फिर भी प्रारम्भमें जो प्रवृत्ति होती है वह किसी विशेषको लक्ष्य करके होती है; अतः यहाँ भव्योंके हितके लिये इस टीकका प्रयास है यह बात उचित प्रतीत होती है। पद्मनन्दि पंचविंशतिकामें भव्यका लक्षण निम्नरूपेण किया है—

"तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता।
निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम् ॥"

चैतन्य तत्त्वकी वार्ता भी जिसने विशुद्ध अनुरागसे सुनी है, वह निश्चित ही भव्य है और है पात्र निर्वाणका। चैतन्यभावकी अभिमुखता हुए बिना चैतन्य तत्त्वकी वार्ता सुननेकी भी नहीं होती। अतः जिसकी चैतन्यमें रुचि हुई वही ऐसी वार्ता सुन सकता है और वही भव्य है। हित वास्तवमें आत्मस्वभावकी व्यक्ति ही है, स्वभाव विरुद्धभाव आकुलताका ही अविनाभावी है। यह प्रवचनसारकी वृत्ति है जिसने 'प्रकटिततत्त्वा' अर्थात् गाथाओंमें ग्रथित भावको जिसने प्रकट कर दिया है, स्पष्ट कर दिया है।

प्रकृष्ट वचन—यह ग्रंथ, यह टीका सर्व प्रमाणभूत है। प्रवचन कहिये आगम उसका संक्षिप्त रूप यह प्रवचनसार है या 'प्रकृष्टं प्रमाणीभूतं वचनं यत्र तत् प्रवचनं पारमेश्वरस्यागमः इत्यर्थः।' उस प्रवचनसारकी गाथाओंमें भावको प्रकट किया गया है। अतः इसका प्रवचनसार वृत्ति नामकरण सार्थक है तथा तत्त्वप्रदीपका वृत्ति इसका दूसरा नाम है। पूज्य श्री १०८ आचार्य जयसेन जी महाराजने जो प्रवचनसारकी वृत्ति की है उसका नाम तात्पर्य वृत्ति है। सारांश यह कि जो गाथाके भावकी विवेचना करे उसे वृत्ति करते हैं।

"यह प्रवचनसारकी वृत्ति की जाती है," यहाँ कर्मवाच्यका प्रयोग किया गया है जिससे अध्यात्मयोगी टीकाकार आचार्यश्रीके कर्तृभावका रहितपना ध्वनित होता है। "यह प्रवचनसारकी वृत्ति की जाती है' इस वाक्यमें अहंबुद्धिका बोध नहीं होता, जैसे कि "मैं प्रवचनसारकी वृत्ति करता हूं" वाक्यमें अहंबुद्धि ध्वनित होती है।

आत्मप्रभुस्वरूप—प्रस्तुत प्रवचनसार परमागममें जो सारभूत निज चैतन्य तत्त्व कहा गया है वह मैं ही तो हूं, वह ज्ञातादृष्टा स्वभावी निज चैतन्य तत्त्व अनादिसे मुझमें ही तो विद्यमान है; प्रकाशमान है, किन्तु उसपर दृष्टि न पड़नेसे, उसका अवलोकन न करनेसे उसे त्यागकर अन्य पदार्थ, जिनको आश्रय मानकर मात्रा दुःखके अतिरिक्त कुछ पाया ही नहीं उन्हें ही हितकारी, शान्तिप्रदायी, सुखदाता एवं कल्याणकारी मैं मानता आ रहा हूं। अब मैंने निज आत्मिक चैतन्यनिधिको पहिचान लिया है, अतः परमसार, परमहितरूप मैं स्वयं

Version 1

ही तो हूँ। इस प्रकारकी विविध आत्मसुखकारी भव्यात्माओंका चिन्तवन एवं अंतस्तलमें मनन कर निज चैतन्य भगवानके परम श्रद्धालु टीकाकार आत्मोपलब्धि प्राप्त करके जिन श्रोताओंके हितार्थ कह रहे हैं उनमें भी यही अनंत शक्ति विद्यमान है, वे निर्लिप्त निराकार, निष्कर्म सिद्ध प्रभुके सदृश अनंत शक्तिके अक्षय भण्डार हैं। ऐसी द्रव्यदृष्टिको लेकर...... समझकर ही कह रहे हैं, क्योंकि जो स्वभावसे पूर्ण ज्ञानानंद नहीं वह त्रिकालमें ज्ञानानन्दकी उत्कृष्टता नहीं पा सकता। सिद्ध भगवानकी तरह मैं भी स्वभावत: स्वयं एवं निरंजन हूं, इस दृढ़ श्रद्धाके बिना मोक्षमार्गका प्रारम्भ नहीं होता। यहाँ आचार्य श्री पर्यायरूप नहीं, किन्तु उनके देहस्थित आत्मामें स्वयं अपने आपको सिद्ध प्रभुकी तरह कृतकृत्य, ज्ञानघन, आनन्दमय देख रहे हैं और जीवोंको भी सिद्ध समान देख रहे हैं। ऐसी अलौकिक द्रव्यदृष्टिकी प्रधानता प्राप्त हुई है, जिससे यह कल्याणका अनुपम प्रयास अल्पपरिमाणमें अवशिष्ट रागभावके उदयमें हो रहा है।

ग्रन्थरचनामें मूल प्रेरणा—आचार्य महाराज वस्तु स्वातन्त्र्यके दृढ़ श्रद्धालु हैं, अतः प्रस्तुत ग्रंथमें भी वस्तुस्वातन्त्र्यका विशद वर्णन करेंगे। एक द्रव्य अन्य दूसरे द्रव्यका परिणमन नहीं कर सकता। यह आत्मा जो कुछ करता है वह अपना ही परिणमन करता है, ऐसी वस्तुस्थितिकी अमंद घोषणा भी है, फिर भी इस रचनाकी आत्मीय स्वतंत्र प्रयासरूप पर्याय होनेसे जो भव्य जीव आश्रयभूत हैं और जिनपर रचयिताकी दृष्टि गई है "उनके हितके लिये यह वृत्ति की जा रही है।" यह कथन उपचारसे हुआ है। वास्तवमें तो सिद्ध स्वभावके सच्चे पारखी आचार्य महाराजके अंतरमें वृथा भ्रमवश, संक्लेशोंको सहते हुये भव्योंको देखकर, जो परमकरुणामय वेदना हुई है उसीका यह प्रतिकार है अथवा निजानुभूतिको निर्मल बनाये रखनेका उद्देश्य तो मुख्य रहा है और गौण रूपेण परकल्याणका प्रयोजन रहा है या प्रथम उद्देश्य अंतरङ्ग है और द्वितीय उद्देश्य बहिरङ्ग है। अंतरङ्ग प्रयोजन तो मंगलाचरणसे ही ध्वनित हो गया है। अत: अब श्रीमद् अमृतचंद्राचार्य अपने प्रयासके बहिरङ्ग प्रयोजनको बतलाते हैं कि "परमानन्दरूप अमृतरसके पिपासु भव्य जीवोंके कल्याणके लिये प्रगट हुये हैं तत्त्व जिससे ऐसी प्रवचनसारकी टीका की जा रही है।"

अब गाथाओंके विवरणसे पहिले मूलग्रंथप्रणेता पूज्य श्री कुन्दकुन्दाचार्यके भावोंको एवं गाथाओंके निर्माण कालके भावको श्री अमृतचंद्र जी बतलाते हैं—

जिसका संसार पारावार समीप आ गया है, ऐसा कोई निकट भव्य ही इस ग्रंथका प्रणेता हो सकता है, क्योंकि विषयकषायोंकी विषम शृङ्खलाओंसे निकलना एवं भेदविज्ञान, नीर क्षीर विवेकका प्रयत्न करना अति कठिन है। संसारसे मुक्त होनेकी इच्छा सब संसारियों के होती है, पर संसारजालसे मुक्त बिरले ही हो पाते हैं। अज्ञानी संसारीका संसारसे मुक्त

Report any errors at vikasnd@gmail.com

होना जितना कठिन है आत्मस्वरूपके ज्ञानीको मुक्ति प्राप्त करना उतना ही सरल है।

एक दो भवावतारी व्यक्ति ही इस ग्रंथके रचनेका पात्र होना चाहिए। पूज्य आचार्य श्री कुन्दकुन्द महाराजका संसार अति निकट आ गया था, उनकी विवेक ज्योति प्रकट हो गई थी, भेदविज्ञानकी पैनी छेनीका उन्होंने आश्रय लिया, इसीके फलस्वरूप वे समता सुधाके पात्र हुए। उन्होंने यह ग्रंथ नहीं बनाया किन्तु समता प्राप्तिका ही उन्होंने उद्यम किया है।

शान्ति और क्रान्तिका अभ्युदय—श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्यके बनाये हुए समयसार एवं प्रवचनसार--इन दोनों ग्रंथोंमें लोग छोटे बड़ेपनका भाव लाते हैं कि समयसार और प्रवचनसारमें कौन ग्रंथ बड़ा है? किसमें अध्यात्मरस अधिक भरा है? लोग समयसारको बड़ा समझते हैं। प्रवचनसारमें समयसारकी अपेक्षा ज्ञान, ज्ञेय, चारित्रका एवं प्रमेयका वर्णन अधिक है तथा समयसारमें निमित्त-नैमित्तिकका अच्छा वर्णन है तथा आत्मस्वभावका विशद निरूपण है। समयसार शांतिप्रद ग्रंथ है, उसमें भेदविज्ञानका विस्तृत वर्णन है तो प्रवचनसार क्रांतिका ग्रंथ है। अतः मेरी दृष्टिमें तो दोनों दोनोंसे ही बड़े हैं। श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य का पञ्चास्तिकाय अभ्रान्तिका ग्रंथ है क्योंकि वह द्रव्य सम्बंधी भ्रान्तिको दूर करता है, वह भी अपूर्व ग्रंथ है।

समतामें विवेक—कुन्दकुन्दाचार्यको भेदविज्ञान प्राप्त हो गया अतः उन्होंने इस ग्रंथको आलम्बन बनाकर समताप्राप्तिका यत्न किया। भेदविज्ञानके बिना कौन समताको प्राप्त हुआ?

तीर्थंकर जैसे महापुरुष भी अपने विशाल वैभवका परित्याग कर जब निजात्मामें लीन हुए तब समता सुधाका आस्वादन कर पाये। पर हम उनसे विपरीत हैं और वैभवको जुटाकर समता पाना चाहते हैं। हम अपने जीवनके अंतिम क्षणों तक सांसारिक गृहजालके कृत्योंमें ही निजको कृतकार्य माना करते हैं। जुलाहा कपड़ा बुनता है तो बुनते-बुनते २-४ अंगुल जगह अंतमें छोड़ ही देता है किन्तु मोही जीव अपने जीवनके अंत तक रागभावके तन्तु पूरनेमें ही लगा रहता है, चार-छः मिनटको भी बुनना नहीं छोड़ता। सुख पाना है तो विकल्पोंका नाश कीजिये। धन सम्पत्ति आदिके संयोग वियोगके कारण संसारी जीव नाना विकल्प करते रहते हैं, किन्तु भैया! धनादिकका आना जाना तो कर्मोदयके आधीन है, मनुष्य तो केवल कल्पनाएँ ही कर सकता है, अतः वह अशुभके स्थानमें शुभ कल्पनाएँ क्यों नहीं करता? बच्चे कभी आपसमें जीमनवार करते हैं तो पत्तोंको परोसकर रेतीके दानोंमें बूंदीकी कल्पना करते हैं। पर जब सब काल्पनिक ही वस्तुयें हैं तो फिर ओछी कल्पना करनी नहीं चाहिये।

क्लेशका मूल राग—संसारके जिस पदार्थमें हमारा जितना अधिकार राग होगा, वह पदार्थ निमित्त दृष्टिसे हमारा उतना ही बड़ा शत्रु है और समझना भी चाहिए। बम्बईमें

एक दम्पति रहते थे। दोनों जब शहरमें या अन्यत्र पर्यटनार्थ निकलते तब पुरुष अपनी स्त्री के ऊपर छतरी तान लेता था। उसे अत्यधिक राग था और पत्नीका अल्पमात्र कष्ट भी देखा न जाता था। स्त्री बार बार उसे समझाती, देखो जो आप मुझसे इतना अधिक राग करते हैं, यह आगे जाकर आपको बहुत दुःखदायी होगा किन्तु मोहमदिरासे मत्त पुरुष नहीं मानता था। दैवयोगसे पत्नीका स्वर्गवास हो गया। वह उसके वियोगमें पागल हो गया। हमारा यह राग ही महा दुःखदायी है, दुःखकी खान है। जिनका लक्ष्य करोड़पति बनना है और जो सम्पत्तिमें राग रखते हैं, वे दुःखी हैं, बहुत दुःखी हैं, किन्तु जिनका लक्ष्य भेदविज्ञान प्राप्त करना है, वे सुखी हैं, बहुत सुखी हैं।

मनुष्यभवकी सार्थकता—जीव एक श्वासमें अष्टदश बार जन्म मरणरूप निगोद पर्यायसे निकलकर उत्तरोत्तर ऊंची पर्याय भी प्राप्त करले, उच्च कुलमें जन्म लेकर वेदादिक का अध्ययन भी कर ले, यदि फिर भी वह एकान्तवादसे दूषित रहा तो उच्च कुल पाना एवं ज्ञानार्जन करना व्यर्थ ही गया। उसी प्रकार जैनकुलोत्पन्न होकर भी यदि हम परम्परागत रूढ़ियोंके दास बने रहे, रूढ़ियोंका आलम्बन अन्धविश्वासपूर्वक लिये रहे, उनके रहस्यको न समझे, उनके वास्तविक स्वरूपका स्पर्श भी न किया, सिर्फ परलक्ष्यी ही बने रहे तो जैनकुल में जन्म लेनेका हमने कोई सदुपयोग नहीं किया। परलक्ष्यी पुरुष मोक्षमार्गानुगामी नहीं कहे जा सकते।

तीर्थंकरकी महत्ता—श्री समंतभद्राचार्यने "देवागम" स्तोत्रकी रचना की, किन्तु वे भगवान महावीर स्वामीके अन्धभक्त न थे प्रत्युत गुणरत्न निरीक्षण एवं परीक्षणमें ही उन्होंने अपने स्तोत्रका निर्माण किया है। अतः श्री समन्तभद्राचार्य भगवान महावीर स्वामीके अन्ध-भक्त नहीं अपितु अनन्य भक्त थे। वे भगवान महावीर स्वामीसे कहते हैं:—

"देवागम नभोयानचामरादिविभूतयः।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते नातस्त्वमसि नो महान् ॥१॥

हे भगवन्! आपके कल्याणकोंमें देवगण आते हैं, आप आकाशमें गमन करते हैं, छत्र चामरादि अनेक विभूतियाँ आपके दृष्टिगोचर होती हैं, इस कारण आप हमारे लिये महान् हैं, आराध्य हैं, ऐसी बात नहीं है क्योंकि ये शक्तियाँ तो अन्य मायावी इन्द्रजालिकोंमें भी दिखाई देती हैं। कदाचित् आप यह कहें कि:—

"अध्यात्मं वहिरप्येष, विग्रहादि महोदयः।
दिव्यः सत्यो दिवौकस्वप्यस्ति रागादिमत्सु सः ॥२॥"

मेरा परमौदारिक शरीर है, मैं कवलाहार नहीं करता हूं, शरीर मल मूत्रादिकी बाधा रहित है, तो हे भगवन्! ये सब बातें तो रागी देवोंमें भी पाई जाती हैं। अतः इस कारण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

भी आप हमारे लिये महान् नहीं हैं।

यदि आप कहें, "हम सिद्धार्थके पुत्र हैं, हरिवंशमें उत्पन्न हुए हैं तथा और भी विशेषताएँ बतलाएँ" तो भी आप हमारे लिये पूज्य या महान् नहीं हैं। यथार्थमें आप हमारे लिये महान् इसलिये हैं क्योंकि "आपका ज्ञायकस्वभाव प्रकट हो गया है, रागादिक विकृतभाव दूर हो गये हैं, आप शुद्ध हैं, निरंजन हैं, निर्विकार हैं, निराकार हैं, अतः आप पूज्य हैं, आराध्य हैं, हमारे लिए महान् हैं।" इस प्रकार गुणानुरागी आचार्य समन्तभद्रजी अपने आराध्यदेवकी परीक्षा करके ही उनकी स्तुतिमें प्रवृत्त हुए हैं।

यदि कोई भक्त वीतराग भगवानके यथार्थस्वरूपको न जान करके भी उन्हें नमस्कार करता है, उनकी भक्ति एवं स्तुति करता है तो यद्यपि उससे परम अभीष्टकी सिद्धि नहीं होती, फिर भी उसकी स्तुति निष्फल नहीं जाती। इसीके सम्बंधमें श्री धनञ्जय महाकवि 'विषापहार' स्तोत्रमें कहते हैं:—

"अजानतस्त्वां नमतः फलंयत्,
तज्जानतोऽन्यं नतु देवतेति।
हरिन्मणिं काचधिया दधानस्,
तंतस्य बुद्धचा वहतो नरिक्तः॥"

हे भगवन्! आपको नहीं जान करके भी नमस्कार करने से जो भक्तको प्राप्त होता है वह फल ब्रह्मादिको देव मानकर नमस्कार करनेसे भी प्राप्त नहीं हो सकता। इसका सरल सुबोध उदाहरण यह है कि यदि कोई एक पुरुष तो काचको हरिन्मणि समझकर बाजारमें बेचने जाये, और दूसरा हरिन्मणिको मणि न समझके भी उसे बेचने जाये तो इन दोनोंमें से मणिका मूल्य कौन प्राप्त करेगा? जिसके हाथमें मणि होगी वही मणिका मूल्य प्राप्त करेगा। वैसे ही जो सच्चे देवकी भक्ति करेगा, वही फल प्राप्त करेगा, अन्य नहीं।

एक भक्त तो रागादिकके मैलसे मलिनदेव की भक्ति, स्तुति करता है और दूसरा वीतराग, परम शुद्ध, संसारमायापरिवर्जित भगवान की भक्ति करता है। जो जैसी और जिसकी भक्ति करेगा वह वैसा ही फल प्राप्त करेगा। काँचको मणि समझने वाले और मणि को काच समझने वाले दोनों व्यक्तियोंका अन्तर तो विचारो! काचको मणि समझकर हाथ में रखने वाला पुरुष निर्धन ही है—उसे कुछ धन उसके बदले मिल नहीं सकता, किन्तु मणिको हाथमें रखने वाला धनी ही है क्योंकि वह अतुल धन राशि मणिके बदलेमें प्राप्त कर सकता है। मणिको काच जानने वाला व्यक्ति बुद्धिसे अवश्य रिक्त है पर वास्तवमें रिक्त नहीं हैं और दूसरा व्यक्ति बुद्धिसे रिक्त भी है और वास्तवमें हाथसे भी रिक्त है।

पूज्य पूजकका सामंजस्य—यदि देखा जाय तो आराध्य और आराधक, पूज्य और

Version 1

पूजक और साधक, उपास्य और उपासक दोनोंकी साध्य एक ही श्रेणी है। हाँ! अन्तर इतना है कि सिद्ध भगवानने अष्टकर्म नष्ट करके अष्टगुण प्राप्त कर लिये हैं और हमने अष्टकर्म तो नष्ट नहीं किये किन्तु वैसी ही शक्ति हममें अन्तर्निहित है जैसी की सिद्ध भगवान्में है। भक्त एवं पूजकका विवेक जागृत होना चाहिये। बिना विवेकके पूजककी निर्मल भावाभिव्यक्ति संभव नहीं। अतः शुद्ध, बुद्ध निरंजन सिद्ध भगवान्के भक्तको उन गुणोंकी अनुभूति स्वतः होते रहना चाहिये जिनसे समेत होने के कारण हम उन्हें पूजते, उनकी भक्ति करते हैं। उनके सदृश बनना ही हमारा अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए। भगवान्का स्वरूप उच्च है, उनका स्थान उच्च है और उनकी भक्ति पद्धति भी उच्च है।

भक्तका प्रमुख लक्ष्य—सभी भक्त विपत्तिकालमें जिन देवताको ऊर्ध्वमुख करके ही पुकारते हैं। अद्यपर्यन्त क्या किसी भक्तने अपने इष्टदेवको अधोमुख होकर अर्थात् पाताल की ओर मुख करके पुकारा है? नहीं! नही! इससे ज्ञात होता है कि सच्चे देवका निवास नीचे नहीं, अपितु ऊपर है, सिद्धालयमें है। भक्त उनकी भक्ति अहसानके लिये नहीं करता और न वे सुनते ही हैं, वह भक्ति तो स्वसुख प्राप्तिके लिये ही करता है।

वास्तवमें देखा जाय तो कोई भी भक्त निज इष्टदेवकी आराधना अपने प्रयोजन सिद्ध करनेके लिये ही करता है। भक्तको आराध्यदेवके द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भावके आश्रयसे उनका स्वरूप चिन्तवन करना चाहिए। मूर्तिके समक्ष स्थित होकर उसपर उसकी वीतराग छविपर, उसकी नग्न एवं शांतमुद्रापर और उसकी नासादृष्टिरूप निश्चल निष्काम तथा नयनाभिरामावस्थापर अपनी दृष्टि रखो, इसके पश्चात् निजपर, निजचैतन्य, विशुद्ध, ध्रुव, अहेतुक एवं निजस्वाभाविक परिणतिपर अपनी दृष्टि स्थिर रखो। मूर्तिमें पाषाण, स्वर्ण, रजतादि से निर्मितताका ध्यान करनेसे कोई लाभ नहीं। अरहंत, सर्वज्ञ, वीतराग और सिद्धके रूपमें ही उसका अवलोकन, दर्शन एवं ध्यान करो और फिर उसके सहारे निजशुद्धात्माका ध्यान स्मरण करो, तब भक्त अलौकिक, अनंत, अविनश्वर एवं अचिन्तनीय सुखानुभव करेगा। इसी में उसे लाभ है, सुख शांति है।

स्वानुभवमें जिनबिम्बका आश्रय—हर एकको अपनी योग्यताके अनुसार मूर्तिमें वीतरागताके दर्शन करने चाहिएँ। साधु-सन्त मूर्तिके बिना भी अपने ही आधारपर स्वयं ज्ञायकभावकी आराधना करते हैं पर गृह-जंजालोंमें फँसे गृहस्थ केवल अपने ही आधारपर, बिना मूर्ति आदिकका अवलम्बन लिये तत्त्वका ध्यानी कितनी देर तक रह सकता है? इसलिए भैया! मन्दिर और मूर्तियोंके अवलम्बन गृहस्थोंके समुज्ज्वल एवं उन्नत भविष्यके निमित्त हैं; किन्तु वहाँ मात्र बाह्यपदार्थ या बाह्य क्रियाओंका लक्ष्य न होना चाहिए। मन्दिरमें मूर्तिके दर्शन करते समय आत्मस्थित, ज्ञानानंदमय स्वचैतन्य भगवानके भी दर्शन करने चाहिएँ तथा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

पूजनमें मूर्तिका आश्रय लेकर अनंत सुखके सागर निजात्माका ही पूजन करनेका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। जिनका संसार पारावार निकट है, सम्यग्दर्शनकी पतवार जिन्होंने हस्तगत कर ली है तथा ज्ञान ध्यान एवं तप ही जिनके रत्न हैं; उन्हें केनापि प्रकारेण अंतरंगमें ज्ञायक भावका अवलोकन हो ही जाता है।

अन्धविश्वास और रूढ़ियां त्याज्य—अब श्रीमद् कुन्दकुन्दाचार्य जी के विशेषणका स्पष्टीकरण किया जाता है:—

"अस्तमित समस्तेकान्तवाद विद्याभिनिवेशः" अर्थात् जिनका समस्त एकान्तरूप अभिप्राय नष्ट हो गया है अतएव उन्हें किसी पक्षका परिग्रह नहीं रहा। वर्तमानमें ऐसे अनेक उदाहरण देखनेको मिलते हैं कि कितने ही विद्वान ऊँचेसे ऊँचा अध्ययन कर लेते हैं तथा दिगम्बर जैन दर्शनके ग्रन्थोंको भी पढ़ाते हैं और उनके पढ़ानेसे उन्हें सम्यग्ज्ञान भी हो जाता है किन्तु फिर भी कुलपरम्परागत रूढ़िका पक्ष नहीं छोड़ पाते।

बनारसमें एक पंडित जी थे, वे ऊँचे विद्वान थे। जैन धर्मपर उन्हें सच्ची श्रद्धा भी हो गई फिर भी वे रात्रिके अन्तिम प्रहरमें गंगामें खड़े होकर कुलपरम्परागतानुसार विविध दैनिक क्रियाएँ करते रहे। जब उनसे पूछा गया कि आपकी यथार्थ श्रद्धा व्यक्त होनेपर भी आप क्रियाएँ विपरीत क्यों करते हैं? उत्तर मिला "श्रद्धा तो हमें आत्मस्वभावकी हो चुकी है फिर भी जो कार्य पहलेसे करते आये हैं, उन्हें करनेके लिये अनादि संस्कारवश शरीर चल पड़ता है। अतः स्पष्ट है कि यहाँपर पंडितजीके सूक्ष्म पक्षका परिग्रह तो है ही।

पक्षवादिताकी चरमसीमा—जैन दर्शन यथार्थ तत्त्वका प्रतिपादन करता है। कितने ही लोग तत्त्वकी यथार्थताको समझ ही नहीं पाते। अतः इससे हैरान होकर उन्होंने कह रखा है कि:—

"हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्।
न गच्छेज्जैनमन्दिरं, न पठेज्जैनदर्शनम॥"

हाथीके पग तले कुचले जाकर मर जाना अच्छा है किन्तु जैनमन्दिरमें जाना और जैन दर्शनको पढ़ना ठीक नहीं। यह भी ठीक ही है, क्योंकि जो जिन-मन्दिरमें जायगा अथवा जो जिन-दर्शन पढ़ेगा वह जैन हो जायगा। यह बात उन मोहियोंको अभीष्ट नहीं, अतः उन्होंने ऐसी विषाक्त उक्तियाँ गढ़ रखी हैं।

"हस्तिनाताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैन मन्दिरम्"

इसके निराकरणमें जैन दर्शनके अनुयायियोंने भी ठीक ही लिखा है:—

"हस्तिनाताड्यमानोऽपि न त्यजेज्जैनमन्दिरम्"

अर्थात् हाथीके पग तले कुचले जानेपर भी जैनमन्दिरमें जाना न छोड़ना चाहिए।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

अनेकान्तकी उपयोगिता—सचमुचमें जैनदर्शन इतना सरल और यथार्थ प्रतिपादक है कि जो इसे एक बार भी हृदयकी आँखोंसे देख लेता है तो अवश्य ही वह इसका अनन्य श्रद्धालु हुये बिना नहीं रहता। अनेकान्त जैन-सिद्धान्तका प्राण है। इस अनेकान्तको हम एक उदाहरण द्वारा समझ सकते हैं। यह काचका गोला जो हम हाथमें लिए हैं, यह सदा रहेगा या नहीं रहेगा? इसका जो आकार प्रकार है वह तो सदा रहने वाला नहीं है पर इसका जो द्रव्य है वह सदा रहेगा, उसका कभी नाश नहीं होगा। वस्तुकी यह अनेकान्तरूपता सदा बनी रहती है और इसके प्रतिपादनको ही स्याद्वाद कहते हैं। यही जैनदर्शनका स्वरूप है और इस स्याद्वादको माने बिना संसारका कोई काम नहीं चल सकता। देखो! इस हाथकी तीन अंगुलियोंमें कौन छोटी है और कौन बड़ी है? न किसीको छोटी कह सकते हैं और न किसीको बड़ी। वे परस्पर एक दूसरेकी अपेक्षासे छोटी बड़ी हैं। एकान्तवादी भी इस बात को मानते हैं और एक ही व्यक्तिमें अनेक बातोंसे उसमें मामा, चाचा, नाना आदि अनेकरूप का व्यवहार करते हैं, किन्तु वस्तुस्वभावको अनेक धर्मात्मक नहीं मानते, यही उनका मिथ्याभिनिवेश है।

क्रियायें प्रमुख लक्ष्यकी पूरक हों—जिन धर्मके दार्शनिक और आध्यात्मिक शास्त्र यद्यपि कुछ कठिन है तथापि यदि आप निरन्तर अभ्यास करते रहेंगे—उन्हें सुनते रहेंगे तो अवश्य ही उनके ज्ञाता एवं मर्मज्ञ हो जावेंगे। आध्यात्मिक ज्ञान होना बहुत आवश्यक है। जितनी भी हमारी व्रत, तप, क्रियायें हैं, वे तब इसी ज्ञानमात्र भावको दृढ़ताके लिए हैं। जो भी क्रियाएँ होती हैं वे कोई भी रहस्यसे रिक्त नहीं होती, यदि उन्हें कोई न समझे और क्रिया करे तो वह कर्मकाण्डी कहलाता है। यदि लक्ष्यपर दृष्टि रहे और क्रियाएँ करे तब तो वह निश्चयसे व्यवहारके मार्गपर चलते हुए बोधके रथमें बैठा है।

किसी सेठ जी के यहाँ जीमनवार थी। भोजनके अनन्तर कुछ व्यक्तियोंको दाँत कुतेरनेके लिए सींककी आवश्यकता पड़ी। उन्होंने पत्तलमें से एक सींक निकालकर दाँतका मैल निकाला जिसे देखकर सेठ जी ने सोचा कि इन लोगोंने हमारी पत्तलोंमें खाया और उन्हीमें छेद किया। अगली जीमनवारमें सेठ जी ने पत्तलके साथ-साथ चार-चार अंगुलकी सींक भी परोसवा दी। सेठ जी की मृत्यु हो जानेपर उनके पुत्रको जीमनवार करनेका अवसर आया। उन्होंने सोचा कि मेरे पिताने ४ तरहकी मिठाई बनवाई थीं, अतः मुझे उसमें भी अच्छी जीमनवार करना चाहिए। इसलिए ६ तरहकी मिठाई व सींक भी परोसवा दी जिससे कि पिता के किये गये कार्योंमें बेटा किसी भी कार्यमें पीछे न रह जाय। उसके भी परलोक सिधार जानेपर उसके पुत्रने अपने बापके समयसे ड्योढ़ी चीजें बनवाईं और तदनुसार ८-६ अंगुल लम्बी और मोटी एक-एक दातुन भी जीमनवारमें परोसी। यह क्रम यहाँ तक बढ़ता गया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

कि तीसरी–चौथी पीढ़ीमें उसके यहाँ विविध मिष्टान्नोंके साथ एक-एक हाथका डंडा भी परोसा जाने लगा। देखो ! एक बार लक्ष्य भ्रष्ट होनेसे कहाँ तककी नौबत आ गई। यदि लक्ष्य रहता तो बात सींकसे आगे न बढ़ती। उसी प्रकार हमारी जितनी भी क्रियाएँ हैं उन सबका लक्ष्य पहिचानना चाहिए। जिसको इस लक्ष्यकी दृष्टि हो जाती है, उस मनुष्यकी बाह्य प्रवृत्ति भी उचित हो जाती है। वह मधु मांसादिक सेवन नहीं करता। उचित प्रवृत्ति सम्यग्दर्शनकी अनुमापक है, समयसारमें भी लिखा है:—

"जिनके भेदविज्ञान होता है, उनके उसी क्षण क्रोधादिकी निवृत्ति भी होती है। अर्थात् अन्तरंगके भावोंके अनुसार बाह्य आचरणमें अन्तर आता ही है। जिनके कषायादिकमें अन्तर नहीं उनके भेदविज्ञान होनेमें शंका ही है।"

अहो भव्य जीवो ! पुण्य पापकी कथा तुमने अनंतकालसे सुनी है, तद्रूप अनेक क्रियायें की हैं और उनका फल देखा है, उनका अनुभवन किया है परन्तु क्या तुमको सुखका सोपान मिल सका ? एक बार चिरकालसे अपरिचित अपनी कथा सुनो, अनुभवन करो। तुमको वह आनन्द प्राप्त होगा जो आनन्द इन्द्रादिकके ऐश्वर्य अनंत बार भोग करके भी नहीं मिल सका।

क्रियाका फल अन्तर्भावनाके आश्रित है—हमें हर क्रियाको करते हुए अपना लक्ष्य विशुद्ध एवं निर्मल रखना चाहिए। जिन्होंने अपने लक्ष्यका निर्णय नहीं किया, अपने अंतरङ्ग भावोंको बाह्य क्रियाओंमें विस्मृत कर दिया, वे वास्तविक मार्गसे कितने दूर भटक गये हैं, इसका उन्हें ज्ञान नहीं रहता। हम भगवानके समक्ष जल चढ़ाते समय "जन्म जरा मृत्यु विनाशनाय जलं निर्वपामिति स्वाहाः" तो कहते हैं किन्तु अन्तस्तलमें यही मन्द स्वर गूंजता रहता है 'हे भगवन ! मैं धनसम्पन्न हो जाऊँ, मैं पुत्रवान हो जाऊँ, मेरा सदा सम्मान हो आदि।" तो भैया ! सीधा यही क्यों नहीं कहते ? "पुत्र-पौत्रोत्पादनाय जलं निर्वपामिति स्वाहाः।" हम भगवानकी पूजा करें, जोर-जोरसे नामोच्चारण करें किन्तु उन क्रियाओंमें जब तक भावनाकी प्रमुखता नहीं होती तब तक हमारी क्रियाएँ निष्फल ही हैं। अन्तरङ्ग भावनाओंकी बाह्याचरणमें भी रक्षा करनेके लिये मुमुक्षु एवं जिज्ञासुओंके लिये सम्यग्ज्ञानको वृद्धिगत करनेकी आवश्यकता है और आवश्यकता है एकान्त मिथ्याज्ञानको मिटानेकी, विध्वंस करनेकी।

साधकमें पर्यायदृष्टि नहीं होती—भगवन् कुन्दकुन्दाचार्य एकान्त दुरभिनिवेशसे विमुक्त थे। कोई योगी या मुनि यदि स्वयंमें यह अनुभव करता है कि मैं मुनि हूँ, तो वह उसी समयसे मिथ्यात्वी है। वास्तवमें जिन वस्तुओंसे प्रयोजन छूट जाता है, वे वस्तुएँ स्वयमेव छूट जाती हैं। सच्चे संतसे वस्तुएँ स्वतः सम्बंध विच्छेद कर लेती हैं किन्तु झूठे साधुसे वस्तुएँ अपना निकट सम्बंध जोड़ती हुई प्रतीत होती हैं किन्तु ऐसा साधु त्यागीका अभिनय मात्र

Version 1

करता रहता है। सच्चा साधु अपनी विकृतावस्था एवं विविध गतियोंमें प्राप्त पर्यायोंपर दृष्टि नहीं रखता, किन्तु उसकी दृष्टि सदा निज चैतन्य प्रभुकी शुद्ध, बुद्ध, निर्विकार, अहेतुक, ज्ञान-दर्शनरूप वास्तविक अवस्थापर ही केन्द्रित रहती है। "मैं शुद्ध हूं, बुद्ध हूं, निरञ्जन हूं एवं मैं संसारकी माया मोह आदिसे रहित हूं, स्वयंमें लीन, स्वयं सिद्ध और स्वयंमें पूर्ण।" ग्रंथकी इन प्रारम्भिक बातोंका समझना ही ग्रंथका समझना है। दर्जीके कपड़ेका आकार प्रकार बतलाना कपड़े सिलानेका ही कार्य है।

अमृत शब्दकी तात्त्विक परिभाषा—यह कहा जाता है कि चन्द्रमासे अमृत झरता है और यह भी कहा जाता है कि देवताओंके कंठसे अमृत झरता है तथा वे उसका पान करते हैं। अमृतका पान करने वाला अमर हो जाता है, किन्तु अमृतसेवी देवताओंकी तो मृत्यु होती है फिर अमृत क्या वस्तु है? मेरे ध्यानसे अमृत कोई पौद्गलिक वस्तु नहीं है किन्तु ज्ञानमात्र परिणमनको अमृत कहते हैं, क्योंकि वह कभी नष्ट नहीं होता। उस ज्ञानमात्र परिणमनपर जिसकी दृष्टि हो जाती है वह अमर हो जाता है। हमें सदा इसी अमृतका नित्य प्रति सेवन करना चाहिए। ज्ञानके समान संसारमें सुखका अन्य कोई उपाय नहीं है। गृहस्थोंके विविध कार्योंके सम्पादनमें, भोगोपभोग द्वारा पंचेन्द्रियोंके विषय सुखोंकी प्राप्तिमें व्यस्त मानव शान्तिके दर्शन तक न कर सका। जब बाह्यपदार्थोंमें सुख एवं शान्ति देनेका स्वभाव ही नहीं फिर उनसे सम्पर्क बढ़ाकर हम सुखी हो जायें, यह हो नहीं सकता। अतः इनसे विमुख होकर इनकी प्रवृत्तिको निवृत्तिमें परिणत कर देना ही श्रेयस्कर है। अशुभादि क्रियाओंसे निवृत्ति रूप मार्ग अपनानेमें अन्तरंग चारित्रका प्रादुर्भाव होता है, जो अविनश्वर है। इस प्रकारकी सुधासरिता जिनके हृदयमें प्रवाहित हो रही है ऐसे श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्य, श्री आचार्य कुन्दकुन्द रचित प्रस्तुत ग्रंथ प्रवचनसारकी टीका करते हैं। सांसारिक गृह-जंजालों में फँसा मानव अपने इष्ट पदार्थको अमृत मानता है। ऊँट नीमके पत्तोंको इष्ट मानता है तो क्या नीमके पत्ते अमृत हो गये? नहीं, सम्यग्ज्ञान ही अमृत है, उसका पान करके ही हम अमर हो सकते हैं।

समताभावमें पक्ष-परिग्रह भी बाधक है—बाह्य परिग्रह छोड़ना सरल है किन्तु अंतरंगमें स्थित पक्षके परिग्रहका छोड़ना अति कठिन है। भगवान कुन्दकुन्द बाह्य परिग्रहसे मुक्त तो थे ही, पर अन्तरङ्गमें भी समस्त एकांत रूप पक्ष परिग्रहसे सर्वथा विमुक्त थे। साधु अथवा मुनि मित्र और शत्रु महल और श्मशान, कंचन और काच, निन्दा और स्तुति, अर्चन और असि प्रहार आदि इष्टानिष्ट समस्त अवस्थाओंमें समता सुधाका ही निरन्तर आस्वादन करते रहते हैं। कविवर दौलतराम जी ने कहा भी है:—

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

"अरि मित्र महल मसान कंचन काच निन्दन थुति करन ।
अर्घावतारन असि प्रहारनमें सदा समता धरन ॥"

मुनिके अन्तरमें विद्यमान यह समता भाव कोई पौद्गलिक वस्तु नहीं है कि किसी पौद्गलिक पदार्थको ठोक पीटकर समता निकाल ली जाय। जब तक पक्ष परिग्रह नहीं मिटता, तब तक माध्यस्थ भावरूप समताका उदय नहीं हो पाता। किसी स्थान तक पहुंचनेके दो मार्ग हैं। पहिला सरल है और दूसरा कठिन है और ऐसा कठिन जिसमें सफलताकी असंभावना है तब सरल मार्ग बताये जानेपर भी यदि कोई कठिन मार्गका ही अनुसरण करे तो यह कार्य उसका दुराग्रह ही है। वैसे ही सम्यग्ज्ञान एवं परिग्रहके त्यागमें ही सुख निहित है इत्यादि श्रवण करके भी यदि कोई रूढ़ियाँ एवं परिग्रहके संचयको ही सुख माने तो उसे हम मन्द बुद्धिके अतिरिक्त और क्या कह सकते हैं ?

सम्यग्दृष्टि निन्दा प्रशंसासे सुखी-दुःखी नहीं होते—ज्ञायक भावरूप आत्माका न कोई शत्रु है और न कोई मित्र है। निजका ही निज शत्रु है और निजका निज ही मित्र है। ज्ञायकस्वभावीके लिये महल और मसान दोनों समान हैं। काच और कंचनके भेदसे उसे प्रयोजन ही क्या है ? भगवान आदिनाथ षाण्मासिक उपवासके बाद आहारके लिये निकले तो कोई उनके समक्ष हाथी लाकर खड़ा करता था तो कोई घोड़े, कोई मणि मणिक्यादिसे पूर्ण स्वर्ण थाल समर्पित करता था तो कोई अपनी कन्याएँ तक उन्हें भेंट रूप देनेके लिए तैयार हो गये। पर भगवान आदिनाथको उनसे क्या प्रयोजन था ? वे उनसे मुक्त थे, असार जानकर उन्हें त्याग चुके थे। अज्ञानी मनुष्य निन्दकपर रोष और प्रशंसकसे राग करते हैं किन्तु ज्ञानी उस प्रकारके रागद्वेषसे बहुत दूर रहता है तथा ज्ञायक शुद्ध चैतन्यभावके बहुत समीप ही उसका निवास होता है। अज्ञानी जीव शरीरको ही मैं समझता है, इसी कारण वह निन्दा और प्रशंसा करनेका परिश्रम करता है तथा स्वयंके निन्दित या प्रशंसित होनेपर दुःखी और सुखी होता है परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव शरीरसे भिन्न ज्ञायक भावमय आत्माको जानता है इसलिये उसके परिणाम सम एवं विषम परिस्थितियां तथा इष्टानिष्ट पदार्थोंमें समान रहते हैं। भैया ! मरणके बाद यह शरीर, जिसे तुम अपना मान रहे हो अग्निमें जला दिया जाता है, अतः वह तुम्हारा कैसे है ? यदि है तो उसे तुम्हारे साथ ही जाना चाहिये था।

पक्ष एवं विषयकषाय ही आत्माके पतनके कारण हैं—आचार्य श्री कुन्दकुन्द पक्ष परिग्रहका अभाव होनेसे निष्पक्ष थे। जब तक मनुष्यके हृदयमें किसी बातका या किसी जाति या पदका पक्ष होता है तब तक वह निष्पक्ष नहीं बन सकता। एक समयकी बात है कि हंस-हंसनीका एक जोड़ा मानसरोवरको जा रहा था, मार्गमें जाते हुये रात्रि हो गई। वे एक स्थानपर रात्रिमें विश्राम करनेके लिये उतरे। एक कौआसे उन्होंने पूछा—क्यों भैया ! हम

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

एक रात तुम्हारे यहाँ बिता सकते हैं ? कौआने अनुमति दे दी । प्रातः जब हंस युगल जानेको उद्यत हुआ, तो कौआने हंसनीको पकड़ लिया और बोला—यह तो मेरी स्त्री है, मैं इसे नहीं जाने दूंगा । हंस यह सुनकर बड़ा दुःखी हुआ । उसने अनेक प्रकारसे समझानेका प्रयत्न किया किन्तु कौवेने एक न मानी । अन्तमें हंसने कहा कि हम इसका निर्णय पंचोंके ऊपर छोड़ देवें और जो निर्णय वे करेंगे वह दोनोंको मानना होगा, ऐसा किया गया । पाँच पंच निर्वाचित किये गये । सब मामला सुनकर दो पंचोंने हंसनीको कौवेकी स्त्री बतलाया और दो ने हंसकी स्त्री सिद्ध किया । अंतमें सरपंचने अपनी जातिका पक्ष लेकर हंसनी कौवेकी स्त्री है, अपना निर्णय सुना दिया । यह सुनकर कौआ मूर्च्छित होकर धराशायी हो गया । सचेत होनेपर पूछा गया कि तुम इस निर्णयसे मूर्च्छित होकर क्यों गिर पड़े ? तुम्हें तो प्रसन्नता होनी चाहिए थी । कौआ बोला भाइयों ! पंचोंमें परमेश्वर निवास करता है यह मुझे स्मरण था और मुझे यह दृढ़ विश्वास था कि कमसे कम सरपंच तो झूठ नहीं बोलेगा । जब जातिका पक्ष लेकर सरपंचने ही झूठ कहा तो सच्चा न्याय और कौन दे उकता है ? तात्पर्य यही है कि जब तक निष्पक्षता नहीं आती तब तक उसके वचनोंमें सत्यता एवं यथार्थता तथा दृढ़ता नहीं आ सकती । योगीश्वर श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी अत्यन्त निष्पक्ष थे, उन्हें मोक्षलक्ष्मीका उपादेय रूपसे दृढ़ निश्चय था । सर्व पुरुषार्थोंमें मोक्षका पुरुषार्थ ही सारभूत पुरुषार्थ है अन्यथा सांड भी अपने सींगोंसे किसी घूरे (कूड़ा-करकटका ढेर) को उखाड़कर अपने ऊपर फेंकता है और स्वयंको पूर लेता है, फिर पूंछ हिलाकर और गर्दनको ऊँची-नीची करके दहाड़ता है तथा स्वाभिमानसे चारों ओर देखता है, मानो वह कहता है कि हे दुनियाके लोगो ! देखो मैंने कितना बड़ा पुरुषार्थ किया है । इसी प्रकार अज्ञानी जीव भी विषयकषायरूप घूरेको उछाल-उछालकर अपने आपको पूर लेता है और अपनेको बड़ा पुरुषार्थी एवं वैभवशाली समझता है । पर ऐसे मिथ्याभिमानसे क्या लाभ है ? इस तरह विषयकषायोंमें फँस करके अपना क्या उत्कर्ष पालेगा, समझमें नहीं आता । अभी-अभी कोई दिन तो ऐसा आवेगा कि मृत्यु होगी और आत्मा एकाकी रह जायगा, तब क्या अवस्था होगी ? अपने उपार्जित कर्मोंका पाप-पुण्यका फल क्या भोगना नहीं होगा ? तुम्हें इसका कुछ भी ध्यान नहीं है । भैया ! इस अपनी आत्माका भी तो कुछ ध्यान रखो । इसे विषयकषायोंसे दूर रखकर बचाना ही स्वदया है । स्वदया करके परदया करना ही श्रेष्ठ है । जो स्वदया न करके मात्र परदया करनेमें अपने कर्तव्यकी इतिश्री मानते हैं, वे सत्पथपर नहीं हैं । जब तक मनुष्य स्वदयाको नहीं करता तब तक सच्ची परदया भी नहीं कर सकता, किन्तु स्वदयाके करने वालेके परदया तो स्वयमेव हो जाती है ।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य स्वदयासे ओतप्रोत थे, तभी उनके निमित्तसे अभूतपूर्व परदया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अभी तक हो रही है। यहाँ यह बताया जा रहा है कि भगवान कुन्दकुन्द कैसे हैं ? उन्होंने प्रस्तुत ग्रंथमें क्या कहा है तथा उनके कथित ग्रंथमें क्या-क्या सार-रत्न संचित हैं ? श्रीमद् कुन्दकुन्द केवल ११ वर्षकी अवस्थामें ही दीक्षित हो गये थे। सरकार १८ वर्षके व्यक्तिको बालिग मानती है किन्तु जैन शासन ८ वर्षके बालक को भी बालिग मानता है।

साधक परवस्तुका कर्ता-भोक्ता नहीं—भगवान् कुन्दकुन्दने मोक्षलक्ष्मीको उपादेय रूप से निश्चय किया है। वह मोक्षलक्ष्मी सकल पुरुषार्थोंमें सार है, अतः निश्चयसे आत्माके हितरूप ही है। लोकमें भी कहते हैं कि अपनी वस्तु ही भली होती है और यह मोक्षलक्ष्मी आत्मस्वरूप ही है, अत: भलो है, उत्तम है, श्रेष्ठ है अत: सारभूत है। भैया ! ये बाहरी कोई भी वस्तुएँ आत्माका हित नहीं कर सकतीं और केवलज्ञान ही जानेका नाम ही तो सम्यग्दर्शन है। अपनी आत्मामें ही तीव्रानुराग करना चाहिए। कहा भी है:—'स्वशुद्धात्मरुचिः सम्यग्दर्शनम्' अर्थात् निज शुद्धात्मामें रुचि, श्रद्धा या दृढ़ प्रतीतिका होना सम्यग्दर्शन है। ऐसे सम्यग्दृष्टि जीवकी बड़ी विचित्र गति होती है। वह "गच्छन्नपि न गच्छति, पश्यन्नपि न पश्यति, कुर्वन्नपि न करोति, हसन्नपि न हसति एवं जल्पन्नपि न जल्पति" की अलौकिक स्थितिमें होता है, अर्थात् वह विविध क्रियाएँ करते हुए भी उनमें रमता नहीं, उनमें लिप्त होता नहीं, वह कभी लक्ष्य भ्रष्ट नहीं होता, किसी कार्यको करते हुए भी अपने उद्देश्यको भूलता नहीं, कभी ध्येयसे हटता नहीं। वह निरंतर अपने ज्ञायकभावमें जागरूक रहता है। वह जानता है कि मैं परका कुछ हित नहीं कर सकता। मैं जो कुछ भी करता हूं वह स्वहितके लिये ही करता हूं। मैं क्या सबके हितके लिये यह सब कुछ बोल रहा हूं ? नहीं, मैं सबके आश्रयसे स्वयंके लिये ही कह रहा हूं। इस प्रकार अपने ही मार्गको स्वच्छ कर उसपर ही चलनेका यह प्रयत्न कर रहा हूं।

आत्माका ज्ञाता स्वभाव ही सौख्यपूर्ण स्वदेश है—प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचिको जानता है। सभी समझ सकते हैं कि मेरी रुचिमें क्या वस्तु है ? यदि रुचिमें स्त्री, पुत्र एवं मित्रादि हैं तो समझो कि हम निजात्माकी रुचिके विरुद्ध हैं और सन्मार्गसे बहुत दूर भटक चुके हैं तथा यदि केवल ज्ञातादृष्टा स्वभावरूप ही रहनेकी उत्कण्ठा हो तो समझिये कि मैंने सन्मार्ग पा लिया। ज्ञायकभावके दर्शन कर लेने पर आत्माके परिणामोंमें कितनी विरक्ता एवं शरीरके प्रति कितना निरपेक्षाचरण हो जाता है कि उसे अपनी आत्मामें लीनताके अतिरिक्त अपने शरीरसे कोई ममत्व या मोह नहीं रहता। इसका वर्णन समयसारमें एक स्थल पर किया गया है—

छिज्जदुवा भिज्जदुवा णिज्जदुवा अहव जादु विप्पलयं।
जम्हा तम्हा गच्छदु तहविहुण परिग्गहो मज्झ ॥"

Version 1

इसीकी टीकामें कहा है, छिद्यतां वा, भिद्यतां वा, नीयतां वा विप्रलयं यातु वा, यतस्ततो गच्छतु वा, तथापि न परद्रव्यं परिगृह्णामि। यतो न परद्रव्यं। मम स्वं, नाहं परद्रव्यस्य स्वामी। परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वं, परद्रव्यमेव परद्रव्यस्य स्वामी। अहं एव मम स्वं, अहं एव मम स्वामी।

अर्थात् यह शरीर चाहे छिद जाय, चाहे भिद जाय चाहे कहीं चला जाय, चाहे प्रलयको प्राप्त हो जाय और चाहे जहाँ कहीं भी चला जाय, तथापि मैं परद्रव्यको ग्रहण नहीं करता हूं, क्योंकि परद्रव्य मेरा 'स्व' निज धन नहीं है और न मैं परद्रव्यका स्वामी हूं ? परद्रव्य ही परद्रव्यका स्व है और वही उसका स्वामी है। इसी प्रकार मैं ही मेरा स्व हूं और मेरा मैं ही स्वामी हूं।

परपदसे हटकर स्वपदमें आनेका अनुरोध—भैया ! देखो ! बाह्य वस्तुएं जो दिखती हैं वे तो अजीव हैं और मैं ज्ञाता द्रव्य हूं, फिर मैं उनमें क्यों लुभाया जा रहा हूं ? हम सबको तो यह चाहिये कि सभी सभीसे निपटकर अपने आत्माके स्वरूप अपने ही चैतन्य भावमें विश्राम करें। लोकमें भी तो ऐसा ही हम लोग किया करते हैं। जैसे कोई एक जयपुर निवासी विदेशमें देशाटनको गया। कई दिनों बाद जब वह लौटता है तो कोई व्यक्ति उससे पूछता है कि भैया ! कहाँ जा रहे हो ? उत्तर मिलता है कि भारत जा रहा हूं। जब वह भारतके बन्दरगाह पर उतरता है तो लोग पूछते हैं कि भैया ! कहाँ जा रहे हो ? वह कहता है राजपूताना जा रहा हूं। राजपूतानामें प्रवेश करते ही पूछा जाता है—कहाँ जाओगे ? उत्तर मिलता है—जयपुर जावेंगे। जयपुर स्टेशन पर उतरते ही तांगे वाला पूंछता है—किस मुहल्लेमें जाओगे ? वह उत्तर देता है—जौहरी बाजार जावेंगे। ताँगे वाला फिर पूछता है किस गलीमें जायेंगे आप ? हल्दियोंके रास्तेमें ले चलो; वहां पहुंचनेपर वह अपने मकानका नम्बर बतलाता है। अपने मकानमें जाने पर फिर वह अपने कमरेमें जाकर विश्राम करने लगता है। इसी प्रकार भैया ! गृहस्थ लोग भी गृहस्थी एवं स्त्री, पुत्र, धन, वैभवादिके विदेशमें पहुंचे हुए हैं। जैसे जयपुर निवासी विदेशमें सुखी नहीं था वैसे ही गृहस्थी लोग भी धन, मित्र, पुत्र, कलत्रादिके विदेशमें, उनके सम्पर्कमें स्वयंको कदापि सुखी अनुभव नहीं कर सकता। अतः भैया ! अपने आराम, विश्राम एवं सुख शान्तिका उपाय सोचो। सुख शान्ति का उपाय यही है कि प्रथम सोना, चाँदी एवं धन-धान्यादि अचेतन पदार्थोंसे अपनेको हटालो, और फिर स्त्री पुत्रादि तथा उनके सम्बन्धी जन चेतन पदार्थोंको अपनेसे अलग कर दो। देखो भैया ! हम तुम्हें नातेदारी माननेसे मना नहीं करते। नातेदारी तो करो, पर रिश्तेदारी मत करो। नातेदारीका शब्दार्थ होता है ना—ते—दारी अर्थात् 'ना' माने नहीं, 'ते'

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मानें तेरी, और "दारी" माने सम्बन्ध। अर्थात् तुम्हारा किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, ऐसी मान्यताको नातेदारी कहते हैं।

काश! यदि यह आजकी विरक्त बुद्धि बचपनमें होती, तो कितना उत्कर्ष होता? अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। आज भी अच्छी तरह भेद-विज्ञान करके अपने लक्ष्य पर आ जाना चाहिए। वैराग्यपूर्ण अल्पायुका होना भी श्रेष्ठ है पर रागद्वेषपूर्ण दीर्घायुका पाना श्रेष्ठ नहीं। भेद-विज्ञानका आश्रय तो लो! कल्याणका अनन्तपथ आपके चरण चिह्नोंसे सुशोभित होनेके लिये उत्सुक होगा।

प्रत्येक द्रव्य अपना स्वयं स्वामी है—वास्तविक नातेदारी बनाये रखनेके लिये स्त्री, पुत्र, मित्रादिसे अपनेको हटाओ और फिर क्रमशः शरीरसे आत्मबुद्धिको भी दूर करो तथा फिर अपने को रागद्वेषादिसे पृथक् ज्ञायक भावरूप समझो और तदन्तर क्षायोपशमिक ज्ञान रूप भी हम नहीं हैं, ऐसा निश्चय करो तथा अपनेको उससे भी जुदा समझो फिर आप कहेंगे कि केवल ज्ञानरूप तो हूं। सो भैया! वह केवलज्ञान मेरे स्वभावके अनुकूल ही तो परिणमन है, परन्तु वह स्वभाव नहीं है; क्योंकि स्वभाव अनादि अनन्त होता है। इस प्रकार सबसे लक्ष्य हटाकर अपने शुद्ध चैतन्य भाव रूप अपने आरामके कमरेमें प्रवेश करो। अपने शुद्ध चैतन्यभावको जाने बिना मिथ्यात्वी विषय-व्यामोहके कारण स्व-भवनसे निकल कर कितनी ही दूर चला गया किन्तु वापिसीमें सोचता है कि अरे! इस बाह्य कूड़ा-कर्कटमें कैसा फंस गया? बाह्य पदार्थ नोकर्म अवश्य है पर मैं अपनी विकल्प बुद्धिसे ही परमें फंसता हूं। जिसकी स्वमें दृष्टि है वे सम्यग्दृष्टि हैं और जिनकी घसीटे करोड़ोंमें दृष्टि है वे स्वात्म-मार्गसे च्युत हैं।

जगतमें जितने भी पदार्थ हैं उनमें से न कोई किसीका रक्षक ही है और न संहारक। वे स्वयंके ही रक्षक और संहारक हैं। एक कथा है कि एक मुनि एक निर्जन वनमें तपस्या कर रहे थे कि इतने में एक सम्राट वहाँ पहुंचा। उसने पूछा हे साधो! तुम इस नवींन वय में क्यों इस घोर वनमें कठिन तपस्या कर रहे हो? मैं अनाथ हूं, उत्तर मिला। सम्राट पुनः बोला—यदि तुम्हारा कोई नाथ नहीं है तो चलो मैं तुम्हारा नाथ हूं और तुम्हारी सर्व प्रकारेण रक्षा करूँगा। साधु ने प्रश्न किया—तुम कौन हो? मैं इस देशका राजा हूं। मेरे पास सर्व प्रकारकी सुख सामग्री एवं भोगोपभोगकी वस्तुएँ विद्यमान हैं, चलो! मेरे साथ चलो! राजाने सहानुभूति बतलाते हुये यह कहा।. साधु बोला—किसी समय तो मैं ऐसा ही था, मेरे पास भी सभी प्रकारका वैभव था। यह सुनकर सम्राटको आश्चर्य हुआ और उत्सुकतापूर्वक पूछा फिर छोड़कर क्यों चले आये? साधुने अपनी व्यथा सुनाई—एक बार मुझे भयंकर शिर दर्द हुआ। राजवैद्योंने बड़े-बड़े उपचार किये, किन्तु किसी भी प्रकार

Version 1

कम नहीं हुआ। सहस्रों प्रयत्न करने पर भी मेरे कुटुम्बीजन लेश मात्र भी मेरे कष्टको न बँटा सके। तब मेरा अन्तर्चेतन बोला—अरे ! संसारमें तेरा कोई नहीं है—यह नातेदारी और रिश्तेदारी सब असत्य है और मिथ्या है—अतः मैं तो अनाथ हूं। बस ऐसा बोध जागृत होते ही मैं साधु बन गया और इस बनमें रहकर अपने दुःखके कारणोंकी इतिश्री करनेमें लगा हुआ हूं। सम्राट साधुका उत्तर सुनकर मौन रहा और अपने नगरको चला गया। संसारका प्रत्येक प्राणी मुनिके समान ही अनाथ है। जब यह प्राणी अपनेको अनाथ समझकर परसे दृष्टिको हटाकर स्वमें रत हो जाता है तभीसे वह सनाथ बन जाता है क्योंकि वह जान लेता है कि मैं मेरा ही स्वामी हूं।

भौतिक साधना ही दुःखका कारण है—तुम्हारे साथ अनेक प्रकारकी बाह्य विपदायें भी लगी हुई हैं। आपको कैसे विषयकषायोंके लोलुपी वातावरणमें रहना पड़ रहा है ? जो परिग्रहमें व्यासक्त हैं, आडम्बर वाले हैं, उनमें रहनेका अवसर आ गया है। फलस्वरूप इच्छाएँ और इच्छाओंके कारण पुनः आवश्यकताएँ बढ़ती जा रही हैं। एक ग्राम निवासी जिसने मिठाई नहीं चखी, जिसे सौन्दर्यपूर्ण वस्त्रोंसे प्रयोजन नहीं, जिसने शहरके आडम्बर में परिचय नहीं किया, ऐसे व्यक्तिके तृष्णा भी नहीं, व्याकुलता भी नहीं। जब शहरमें आया मिठाई खाई, रईसोंकी मोटरें देखीं कि इच्छा बढ़ी और बीमार पड़ गया ईर्ष्यासे। अतः जीवनमें अशांत हो गया। हमारे बिगाड़का कारण कुसंग है, विषयकषायोंसे भरा वातावरण है। किन्तु भगवान कुन्दकुन्द ऐसे दूषित वातावरणसे दूर थे, बहुत दूर थे। वे आध्यात्मिक ज्ञानसाधनामें संलग्न थे। उन्होंने मोक्षलक्ष्मीको ही उपादेय निश्चित किया। वह मोक्षलक्ष्मी "भगवत्पंचपरमेष्ठिप्रसादोपजन्या" अर्थात् भगवान पंचपरमेष्ठीके प्रसादसे उपजन्य है। जो जिसकी भक्ति करता है वह उसके उपास्यके अनुरूप हो ही जाता है। वास्तव मे रागके समयमें इतना जरूर है मन्दरागकी भक्ति अन्य जातिकी है और तीव्र रागकी भक्ति अन्य जातिकी। अतः मैं तो यही मानता हूं कि यहाँ जितने मनुष्य हैं वे सभी भक्त हैं, पुजारी हैं। भेद केवल यही है कि यदि कोई धनका भक्त है तो कोई स्त्रीका और कोई भगवानका। किसीका चित्त स्त्री पुत्रादिकी सेवा शुश्रूषामें लगा है तो किसीका मुक्तिलक्ष्मीकी आराधनामें। श्री कुन्दकुन्दाचार्य सच्चे भक्त थे। इसी कारण उन्होंने मोक्षलक्ष्मीको ही उपादेय रूपसे माना और उसे पंचपरमेष्ठीके प्रसादसे उपजन्य समझकर वे पंचपरमेष्ठीके आश्रयसे अपने स्वरूपमें लीन होते थे। देखो कहाँ तो उनकी स्थिति और कहाँ हम लोगोंकी ? इतना जीवन खोया, किसमें चित्त था ? किसकी भक्तिमें लीन रहे ? उस भक्तिसे क्या शान्ति पाई ? कुछ नहीं, पाई अशान्ति और बारम्बार उसी अशान्तिका कड़ुवा घूंट शान्ति समझकर पी गये, परंतु कभी मुक्तिका उपाय न सोचा, न विचारा।

लोग कहेंगे कि यदि सभी विरागपूर्ण जीवन-यापन करने लगें तो संसार कैसे चलेगा ?

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

मानो दुनियाका उन्होंने ठेका ले रखा हो। जैसे मुक्तिमार्ग चलते हुए भी दुनिया अभी तक चलती रही तथैव भविष्यमें भी चलेती रहेगी। भैया! तुम दुनियाकी चिन्ता न करो, चिन्ता करो अपने आत्मकल्याण की, जिससे सहज आनन्दरूप शाश्वत परमधामकी प्राप्ति होगी, अपनेपर लक्ष्य रखो, परको लक्ष्य मत बनाओ। यही स्वाधीन होनेका प्रशस्त मार्ग है।

घरमें जाकर स्त्री, पुत्र, मित्रादिसे राग कथाएँ तो बहुत कीं, अब उस पुरानी आदत को बदलकर वैराग्य कथाएँ करो जिससे तुम्हारा भी धर्म सधे और श्रोताका भी। आत्म-कथा ही सत्कथा है। उसके सुने बिना तुम्हें सुख शान्ति न मिल सकेगी।

मोक्षकी परिभाषा—अब कहते हैं कि वह मोक्ष लक्ष्मी कैसी है? "परमार्थसत्याम्, अक्षयाम्" अर्थात् वह मोक्षलक्ष्मी परमार्थ सत्य है और अविनाशी है क्योंकि वह परम पवित्र है, शुद्ध है और केवल निज स्वरूप है। अंग्रेजीमें शुद्धको (प्योर) कहते हैं जिसका तात्पर्य खालिससे है अर्थात् पर सम्बन्धके अभावका नाम ही शुद्ध है। कल्पना कीजिये इस चौकीपर (सामने रखी चौकीकी ओर संकेत करते हुये) कबूतरने बीट कर दी। हमने नौकरसे कहा—इसे शुद्ध कर दो। उसने पानी डालकर बीट धो डाली। बस! चौकी शुद्ध हो गई। जिस प्रकार बीटके संसर्गका अभाव चौकीका शुद्ध होना कहलाता है उसी प्रकार आत्माके ऊपर जो कर्ममलरूप बीट लगी हुई है, उसे भेदविज्ञानरूप निर्मल जलसे धोकर साफ कर डालना ही आत्माका शुद्ध होना है। आत्मासे परपदार्थके संयोगका दूर कर देना ही उसकी शुद्धता है। आत्माको शुद्ध करो, इसका मतलब यही है कि कर्मरूप मलको धो डालो। भैया! पर-संगको भेदविज्ञान रूप जलसे धोकर एक शुद्ध ज्ञायकरूप बन जाओ।

श्री आचार्य कुन्दकुन्द इस शुद्ध, बुद्ध ज्ञायकभावरूप अक्षय मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्तिका लक्ष्य रखने वाले थे। हमें भी अपनी शक्ति प्रमाण प्रयत्न करना चाहिए और उसके प्रति श्रद्धा रखनी चाहिये। कवि द्यानतरायजी ने कहा भी है:—

> "कीजे शक्ति प्रमाण, शक्ति बिना सरधा धरे।
> "द्यानत" सरधावान, अजर अमर पर भोगवे।"

आचार्य श्री कुन्दकुन्दने मोक्षलक्ष्मीका उपादेयरूपसे निर्णय किया है। निर्णयके बाद ही हम निर्बाध और अमोघरूपसे अपना पथ सुगम और सरल बना सकते हैं। श्री कुन्दकुन्दाचार्यने यह निर्णय किया कि शुद्ध ज्ञायकभाव ही उपादेय है। इसीको अन्य शब्दोंमें इस प्रकार कह सकते हैं। कुछ मत करो, कुछ मत बोलो, कुछ मत सोचो, जो होता हो सो हो, मुझे तो एक निज लक्ष्मी ही उपादेय है।"

मङ्गलाचरणमें धर्मपरम्पराका प्रकाश—"प्रवर्तमानतीर्थनायकपुरःसरान् भगवतः पंच-परमेष्ठिनः प्रणमनवन्दनोपजनितनमस्करणेन संभाव्य सर्वारम्भेण मोक्षमार्गं संप्रतिपद्यमानः

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

[illegible] आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षमार्गकी सिद्धि होते हुए प्रतिज्ञा करते हैं कि वर्तमानमें जिनका तीर्थ चल रहा है, ऐसे भगवान महावीरको आदि लेकर शेष अन्यको भी आदर करके ग्रंथ प्रारम्भ करते हैं— [illegible] वर्तमान तीर्थंकरोंका इस अर्थको [illegible] इस भरतक्षेत्रमें आज जो शासन चल रहा है, वह यद्यपि भगवान महावीरका है तथापि उस शासनको आदि पुरुष, धर्मके धुरन्धर, परम गुरु भगवान ऋषभदेवने प्रतिपादित किया और बीचमें भगवान अजितनाथ आदि तीर्थंकरोंने भी। वर्तमानमें प्रचलित जैन शासन 'वर्तमान तीर्थंकरोंका शासन' कहलाता है। विदेहमें भी सीमंधर आदि तीर्थंकर आज वर्तमान हैं, पर उन्हें इस नामसे न कहकर विद्यमान बीस तीर्थंकरोंके नामसे पुकारा जाता है। वे आज विद्यमान अवश्य हैं, पर यहाँ उनका शासन प्रवर्तमान नहीं है।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब यहाँ चौबीस तीर्थंकरोंका शासन प्रवर्तमान है तो पूर्वानुपूर्वी ऐसा क्यों नहीं कहा? इसका उत्तर यह है कि सम्भवतः आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेवने पश्चादानुपूर्वीकी अपेक्षा कथन किया है। किसी बातको व्यवस्थित ढंगसे कथन करनेको आनुपूर्वी कहते हैं। वह आनुपूर्वी तीन प्रकारकी होती है। पूर्वानुपूर्वी, पश्चादानुपूर्वी और यथातथानुपूर्वी।

किसीके एक-दो-तीनसे लेकर १० तक क्रमशः कथन करनेको पूर्वानुपूर्वी कहते हैं और अन्तके आदिसे लेकर एक तक विपरीत क्रमसे गिननेको पश्चादानुपूर्वी और १०, १५, २०, ५०, ४०, ३० आदिका उच्चारण अनुलोम या विलोम क्रमसे करनेको यथातथानुपूर्वी कहते हैं। इन तीनोंमें से प्रकृत नमस्कार पश्चादानुपूर्वीसे किया गया समझना चाहिए। दूसरी बात यह भी है कि परम्परासे तीर्थ आ तो रहा है किन्तु बीच-बीचमें कितने ही बार शिथिलता आ गई थी। आजका यह वर्तमान तीर्थ भगवान द्वारा प्रकाशित है। भगवान महावीर वर्तमानमें तीर्थप्रवर्तनके साक्षात् कारण हैं, अतः ग्रंथकारने उनको सर्वप्रथम स्मरण किया है। सत्पुरुष कृतज्ञतासे परिपूर्ण होते हैं; अतः जिनके वर्तमान तीर्थसे भव्यजीवोंका उद्धार हुआ है, उनका स्मरण करना कृतज्ञताद्योतक ही है।

'[illegible]' करनेका प्रयोजन— 'भगवतः पंचपरमेष्ठिनः' इस पदका यह अर्थ है परमे उत्कृष्टे पदे तिष्ठति इति परमेष्ठी अर्थात् जो परमपदमें अवस्थित हैं, रहते हैं, वे परमेष्ठी हैं। भगवान अरहंत परमेष्ठी हैं, क्योंकि वे घातिचतुष्कके अभावसे उत्पन्न हुये अनन्तज्ञान, अनंतदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य रूप परमपदमें रहते हैं। सिद्ध भगवान भी परमेष्ठी हैं, क्योंकि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रूप तीनों प्रकारके कर्म मलोंसे रहित शुद्ध सिद्धावस्थारूप परमपदमें रहते हैं। आचार्य महाराज भी परमेष्ठी हैं क्योंकि वे भी अपनी तपस्या, त्याग, तेजस्विता आदिके साथ-साथ शुद्ध चारित्रका पालन करते हुये अन्य भव्य जीवोंको भी उनका परिपालन कराते हैं। संघके समस्त साधु उनका शासन मानते हैं और उसपर चलते हैं, अतः वे भी परमेष्ठी हैं, उपाध्याय महाराज अनादि निधन श्रुतके द्वादश अंगोंका स्वयं अध्ययन करते हैं और अन्य समीपस्थ भव्य जीवोंको भी पढ़ाते हैं, सदा मुमुक्षु एवं जिज्ञासु जनोंको धर्मोपदेश देनेमें निरत रहते हैं। संघके समस्त साधु जन उनके वचनोंको अरहंतके समान प्रमाण मानते हैं, अतः वे भी परमेष्ठी हैं। जिनका मन विषयकषायोंसे दूर हो गया, आरम्भ परिग्रहके जो सर्वथा त्यागी हैं, जो ज्ञान, ध्यान और तपमें सदा अनुरक्त हैं, ऐसे साधुगण भी परमेष्ठी ही हैं। इस प्रकार श्री० आ० कुन्दकुन्द देव वन्दना और नमस्कार करके प्रभुको समादृत करते हैं। वस्तुस्वरूपसे देखा जाय तो हमारी और पाँचों परमेष्ठियोंकी सभी की चेतन जाति एक ही है। शक्तिसे, द्रव्यसे जो वे हैं, सो हम हैं।

'णमो अरहन्ताणं' का उच्चारण करते हुये श्री आ० कुन्दकुन्द मानों यह भाव व्यक्त करते हैं कि जैसे स्वपुरुषार्थसे वे अरहन्त बने वैसे ही मैं भी स्व-पर दृष्टि रखकर अरहन्त बनने जा रहा हूँ। अरहन्त, सिद्धरूप मेरा भी स्वरूप है, अतः उसी मार्गपर मैं भी चल सकता हूं।

हम लोग घरमें भी देखते हैं कि उत्साहहीन व्यक्तिसे कोई कार्य कराया नहीं जा सकता है। जब जिस कामके करनेका मनुष्यमें उत्साह होता है तभी वह उस कामको भली भाँति सम्पन्न कर सकता है। अतः आ० कुन्दकुन्द पूरे उत्साह और उल्लाससे ओत-प्रोत होकर ग्रन्थरचनाका उपक्रम करते हैं।

भक्तका उद्देश्य—सच्चा भक्त भगवानकी किस प्रकार स्तुति करता है, जरा उसे देखिये—

बिराग सनातन शान्त निरंश, निरामय निर्भय निर्मल हंस।

अर्थात् सिद्ध-भगवान विराग हैं। भक्त मनमें सोचता है कि मेरा स्वरूप भी तो विराग है। यह जो राग वितान मेरे दिखाई पड़ रहा है, वह मेरा स्वभाव नहीं है। इसे मैं निज पुरुषार्थ जागृत करके दूर कर सकता हूं। यही बात आत्मकीर्तनमें भी कही है 'वे विराग यहँ रागवितान'। इसमें भी 'मैं राग वितान' न कह कर 'यहं राग वितान' कहा है। लोग भी कभी अपनेको 'यह ससुरा नहीं मानता' ऐसा देहको लक्ष्यमें रखकर कहा करते हैं। कभी कषायको लक्ष्यमें रखकर कहते हैं कि 'यह ससुरी नहीं मानती'। इन दोनों उक्तियोंमें भेद कर रखा है। ज्ञात होता है कि अनुभवकर्ता भी अपनी दृष्टिमें शरीर और

Version 1

कषाय भी भिन्न-भिन्न ही है, मानता है। सम्यक्त्वी निजको रागी न समझकर व्यक्तिरूप तत्त्वमें भेद मानता है स्वभावमें नहीं।

सिद्ध भगवान सनातन हैं। 'सना-सर्वकालं तनोति व्याप्नोतीति सनातनः' अर्थात् चिरकाल तक अपने एक स्वरूपसे अवस्थित हैं। मैं भी अपने चैतन्यभावकी अपेक्षा सदा चेतन ही हूं, कभी अचेतन नहीं हो सकता। भगवन्! आप शान्त हैं क्योंकि सर्वविकल्प जाल आपके शान्त हो चुके हैं। मैं यद्यपि संकल्प विकल्पोंसे भरा नजर आता हूं तथापि मेरा आत्मा सबसे परे है, शान्त स्वरूप है। यदि स्वभावमें अशान्तिका प्रदेश हो जाय, तो वह कभी नहीं निकले। स्वभावदृष्टिसे देखो—ये विभाव पर्यायें अशान्ति आदिक जलमें तैल के समान ऊपर ही ऊपर तैर रही हैं, उनका अन्तः प्रवेश नहीं है।

द्रव्यदृष्टिसे भक्त और भगवानमें समानता—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन चारोंकी अपेक्षासे हे भगवन्! आप निरंश हैं। उनमें कहीं कोई अंशपना नहीं हैं। द्रव्यकी अपेक्षा आप निरंश अखण्ड चिन्मय पिण्ड हैं। मैं भी द्रव्यकी अपेक्षा निरंश हूँ, मेरे में भी कोई अंश या खण्ड नहीं है।

संसारमें धर्म ही महान् है, वह भवसागर तरनेके लिये दृढ़ सेतु है। धर्मशून्य जीवन जीवन नहीं। जब तक जीवनमें धर्म क्रियान्वित नहीं होता तब तक मनुष्यका जीवन गर्भ-वास ही समझना चाहिए। वास्तवमें जीवनका प्रारम्भ होता है धार्मिक श्रद्धा, आत्म-विश्वास एवं आत्म-विकास होने पर। इहलौकिक एवं पारलौकिक जीवन सुखी एवं समृद्ध बनानेके लिये शुभ क्रियाओं द्वारा पुण्य बन्ध आवश्यक है—वह आपके जीवन पथमें पाथेय का काम देगा किन्तु शुभकी अपेक्षा शुद्ध सदा महान और महत्वपूर्ण रहा है।

द्रव्य दृष्टिसे भक्त और भगवानमें समानता—क्षेत्रकी अपेक्षा सिद्ध भगवान असंख्यात-प्रदेशी हैं तो मैं भी असंख्यातप्रदेशी हूँ। असंख्यातप्रदेशी होने पर भी सिद्ध भगवान या मेरी आत्मामें कोई अंश या खण्डरूप विभाग नहीं हैं कि अमुक स्थानपर ज्ञानगुण है और अमुक स्थान पर दर्शन गुण है। अतः उस अपेक्षा दोनों निरंश हैं। दोनोंके सर्वांगमें सर्वगुण तिलमें तैलके समान व्याप्त हैं। कालकी अपेक्षा हे भगवान! आप निरंश हैं। यहाँ कालसे मतलब उस पर्यायसे है, जो एक क्षणभावी है। एक क्षणभावी पर्याय निरंश ही होती है परंच मैं कालकी अपेक्षा सांश हूँ, क्योंकि सकषाय हूँ। एक क्षणवर्ती कषाय-पर्यायोंमें भी अविभाग प्रतिच्छेदोंका अन्तर रहता है। भावकी अपेक्षा भी आप निरंश हैं क्योंकि सामान्य तत्त्वरूप भाव एक स्वरूप होता है। उसी प्रकार मैं भी निरंश हूं। इस प्रकार भक्तकी दृष्टि निजपर और अपने आराध्य दोनोंपर जाती है। सच्चा भक्त दोनोंकी समानतापर दृष्टि देता है। यहाँ काल-पर्यायकी अपेक्षा भक्त और भगवानमें भेद सिद्ध होता है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

तत्त्व प्रतिपादनके चार प्रकार—जिज्ञासु—जीवतत्त्व और जीव पदार्थमें क्या अन्तर है ?

समाधान—यहाँ पर उक्त जीवतत्त्व और जीव पदार्थमें ही नहीं किन्तु जीवतत्त्व, जीवपदार्थ, जीवास्तिकाय और जीवद्रव्य—इन चारका अन्तर बतलाया जाता है।

देखो भैया ! (काचका गोला हाथमें लेकर) यह हाथमें वस्तु है। इसे हम चार दृष्टियोंसे देख सकते हैं, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। यहाँ द्रव्यका तात्पर्य एक पिण्डसे है। अतः द्रव्यकी दृष्टिके जैसा यह पूर्ण ज्ञात हो रहा है, वैसा है। इसे हम इससे अधिक और किसी विशेषतासे नहीं कह सकते, क्योंकि; कुछ विशेषता कही कि क्षेत्र, काल और भाव इन तीनोंमें से किसी न किसीकी अपेक्षा आ जाती है। अतः द्रव्यसे तो यह काचका गोला है। यदि इसका क्षेत्रकी अपेक्षासे वर्णन किया जाय तो यह कहा जायगा कि यह गोला है या चपटा है। कालकी अपेक्षासे देखो तो यह पुराना है, हरा है आदि बातें कही जायेंगीं। भाव की दृष्टिसे देखनेपर इसमें जो अनाद्यनन्त स्थायीरूप रसादि भाव हैं वे ही ज्ञानगम्य होते हैं। इस तरह जैसे हम इसे चार दृष्टियोंसे देखते हैं उसी तरह जीवको चार दृष्टियोंसे देखनेसे जीव पदार्थ, जीवास्तिकाय, जीवद्रव्य और जीवतत्त्व ये चार सिद्ध हो जाते हैं। जब हम अनन्त गुणोंके पिण्ड रूपसे देखते हैं तब वह जीव पदार्थ है क्योंकि "पदस्य अर्थः पदार्थः जो पदका वाच्य है, वही पदार्थ कहलाता है। क्षेत्रकी अपेक्षा बहुत प्रदेशी होनेसे जीवास्तिकाय संज्ञा दी गई है। कालकी अपेक्षा तीनों कालोंमें वर्तमान होनेसे जीवद्रव्य है, क्योंकि द्रव्यका लक्षण "अदुद्रुवत्, द्रवति दोस्यतीति द्रव्यम्" कहा है। अर्थात् भूतकालमें जो पर्यायोंको प्राप्त करता रहा, वर्तमानमें कर रहा है और भविष्यमें करेगा, वह द्रव्य कहलाता है। भावकी अपेक्षा अनाद्यनन्त चैतन्यमात्र जीव अथवा जिस गुणपर दृष्टि देवें, उस गुण मात्र जीव है। यहां भाव दृष्टिगत है, इसलिये भावकी अपेक्षा "जीवतत्त्व" है, तत्त्वका लक्षण भी "तस्य भावः तत्त्वम्" कहा गया है। इस प्रकार चारों अपेक्षाओंसे उक्त चारों नामोंकी सार्थकता सिद्ध हो जाती है और यही इन चारोंमें अन्तर है। इन चारों अपेक्षाओंसे वर्णन किये विना वस्तुका सर्वांगीण प्रतिपादन नहीं हो सकता।

निरामय, निर्भय, निर्मल हंस—सिद्ध भगवान निरामय हैं। आमय नाम रोगका है, सिद्ध भगवान शारीरिक मानसिक आदि समस्त प्रकारके रोगोंसे विमुक्त हो चुके हैं। वे निर्भय हैं, क्योंकि वे सर्व प्रकारके भयोंसे विमुक्त हैं। वे सर्व मलोंमें रहित हैं अतएव निर्मल हैं। आप परमहंस हैं। जैसे हंसका धवल श्वेत वर्ण होता है वैसे ही सर्व कर्म कालिमा दूर हो जानेसे आप हंसके समान होकर भी परमहंस हैं। मैं भी परमहंस हूं। परमहंसका पदच्छेद है:—"परम्+अहं+स" पर नाम बाह्यपदार्थोंका है, परमें जिसकी दृष्टि हो ऐसे

Version 1

बहिरात्माको पर कहते हैं। अहं नाम अपने भीतर विद्यमान अन्तरात्मा है। "स" का अर्थ वह है। यहां 'वह' का अर्थ परमात्मासे है। इस निरुक्तिका समुदायार्थ हुआ "मैं भूतकालकी अपेक्षा बहिरात्मा हूं, वर्तमानकी अपेक्षा अन्तरात्मा हूं और भविष्यकालकी अपेक्षा परमात्मा हूं। इस प्रकार जितने भी जीव हैं, वे सब तीनों तत्त्वोंको लिये हुये हैं। केवल अभव्योंमें बहिरात्मत्व ही होता है, दो तत्त्व नहीं होते। पर वे भी शक्तिसे तीनों तत्त्वकर सहित हैं, क्योंकि वे भी चेतन द्रव्य हैं।

भगवन्! तुम भी अनन्तकाल तक मेरे समान भटके थे। आज आपमें भी तीनों तत्त्व समाविष्ट हैं। भूतकालकी अपेक्षा आप बहिरात्मा और अन्तरात्मा हैं तथा वर्तमानकी अपेक्षा परमात्मा हैं ही।

हंस जैसे स्वयं स्वच्छ होता है, स्वतन्त्र बिहारी और मानसरोवर वासी होता है उसी प्रकार आप भी स्वच्छ हैं, स्वतन्त्र हैं, अनन्त ज्ञेयको स्वयं जानने के कारण स्वतन्त्र बिहारी हैं तथा सिद्धालयके निवासी हैं।

इस प्रकारके स्वरूप वाले पंचपरमेष्ठियोंको भ० कुन्दकुन्दजी प्रणमन और वन्दन करते हैं। प्रणमन तो देहसे होता है और वन्दना वचनसे होती है। दोनों करते हुये भी अन्तरंगमें क्षायिक भावसे अनुभवरूपसे उत्पन्न हुआ नमस्कार भाव नमस्कार कहलाता है।

सच्चा भक्त कौन ?—हमें भी श्री कुन्दकुन्दाचार्यजीके समान सच्ची भक्ति करनी चाहिये। पर हमारी भक्ति कैसी होती है और हम कैसे भक्त हैं, यह एक दृष्टान्तसे स्पष्ट किया जाता है। आप ही बतलाइये पिताका सच्चा भक्त कौन है? जो पिताको अच्छा खिला-पिला करके भी उसकी एक भी बात न मानें वह या वह जो पिताको शक्ति न छुपाकर रूखी सूखी रोटियाँ भी खिला करके कहना मानता है। मेरे ध्यानसे दूसरे पुत्रको ही आप अच्छा कहेंगे। उसी प्रकार हम लोगोंको वीतराग भगवान का सच्चा भक्त होना चाहिए और उनके बतलाये मार्गपर चलना चाहिए। यदि ऐसा न करेंगे तो जैसे अनन्तकालसे आज तक संसारमें भटके हैं और इसी प्रकार आगे भी भटकते रहेंगे।

वीतराग भगवान तो अपने भक्तोंसे बार-बार यही कहते हैं कि तुक लोग मेरेमें भी भक्ति मत करो। यदि मुझमें राग करोगे तो पुण्यका बन्ध होगा और उसके फलसे तुम्हें स्वर्गमें उत्पन्न होना पड़ेगा। वहाँ सहस्रों देवियोंसे संसर्ग होगा। संभव है, उस समय तुम मुझे भी भूल जावो। इससे उत्तम तो यही होगा कि पीछे भूलनेकी अपेक्षा तुम मुझे यहाँ पहिले ही भूल जाओ। अर्थात् मेरी भी भक्ति मत करो; वीतराग मार्गी रहो, पर भगवान ज्यों-ज्यों अपने भक्तको मना करते हैं त्यों-त्यों वह और भी अधिक उनकी भक्ति करता है।

http://www.jainkosh.org

विरागभक्ति भवतरणसेतु—आचार्य श्री कुन्दकुन्दने यह कितना सुन्दर ग्रंथ बनाया ? वे इस भवसे मोक्ष तो गये नहीं। उनका सम्यक्त्व सहित ही मरण हुआ होगा, तो देवगति में ही गये होंगे। वहाँ उन्हें अधिक ऐश्वर्य वाले देवका पद मिला होगा। हजारों देवियाँ मिली होंगी और वे उनमें रमकर अपने इष्टदेवको भूल गये होंगे अथवा यह भी संभव है कि वे लौकान्तिक देव हुये हों। इसीलिये वीतराग भगवान बराबर अपने भक्तोंसे यही कहते हैं कि तुम लोग मुझमें राग मत करो। भगवानने यह कभी नहीं कहा कि जो मेरी भक्ति करेगा उसे मैं तार दूंगा, प्रत्युत वे तो कहते हैं कि हे मेरे भक्तो ! जब तक तुम लोगोंमें मेरी भक्तिका भी राग रहेगा तब तक तिर नहीं सकोगे। ऐसा सुनकर सामान्य जनोंकी भक्ति तो बढ़ती है, पर जो पहुंचे हुए व्यक्ति होते हैं, उसकी भक्ति करते करते भक्ति छूट जाती है।

किसीके कर्ता मत बनो—कोई किसीका कुछ नहीं करता, मात्र अपनी ही चेष्टा किया करता है, किन्तु हम परकी दृष्टि रखकर मानते हैं, यह ही हमारा सुखदाता है और यही हमारा दुःखकारी है, मैंने इसको पाला और मैंने इसका उपकार किया, ऐसा मानना अज्ञान है। जहाँ स्वभावके विरुद्ध कर्तृत्व बुद्धि आई कि अनेकानेक दुःखोंका सामना करना पड़ा। सुख कर्ता बननेमें नहीं, ज्ञाताद्रष्टा बननेमें है। अतः सदा ज्ञाताद्रष्टा ही बने रहो—

एक रामू नामका लड़का था, वह कहीं घोड़ेपर सवार होकर गया। रास्तेमें शाम हो गई और एक जुलाहेकी पत्नीसे पूछकर उसके यहाँ ठहर गया तथा परिचयमें उसने अपना नाम बतलाया 'तू ही तो था।' शामको भोजन सामग्री लेने पासके बनियेके पास गया और बोला कि पैसे मैं सवेरे दूँगा, तथा पूछनेपर उसे अपना नाम 'मैं था' बतलाया। उसने रातको भोजन पकाया और आलस्यवश पानी वगैरह उसने बाहर न फेंककर कोठेमें ही रुईपर डाल दिया। सवेरा हुआ और रामू चल दिया। जब जुलाहा घर आया और रुई गीली देखी तो उसने पूछा—यह रुई खराब किसने की ? यहाँ रातको कौन ठहरा था। पत्नीने कहा—"तू ही तो था।" अरी ठीक-ठीक क्यों नहीं बताती, जुलाहा क्रोधित होकर बोला। पत्नी बोली—मैं सच कहती हूं यहाँ जो रातको ठहरा था वह 'तू ही तो था।' जुलाहेको क्रोध आया और उसने स्त्रीको पीटना शुरू कर दिया। बनिया उसे पिटता न देख सका और वस्तुस्थिति समझकर बोला—यहां जो रातको ठहरा था वह 'मैं था' तुम उसे क्यों पीटते हो ? जुलाहा बोला—तू था, तो तू आ जा और जुलाहेने उसे डण्डे मारना शुरू कर दिये। वैसे ही भैया ! जो बीचमें किसीका कर्ता धरता बनता है तो उसपर भी विभावके डंडे पड़ते हैं। यदि बनिया वह सब कुछ जानता और विवेकसे समझाता तो उसे मार न खानी पड़ती। उसी प्रकार यदि तुम भी ज्ञाताद्रष्टा बने रहो तो तुम्हें भी विभावके डंडे नहीं खाने पड़ते। किन्तु भैया !

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सोचते तो यही हो कि मैं पुत्री, स्त्री एवं माता पिताकी सहायता करता हूं या वे मेरी सहायता करते हैं। बस भैया! यही बुद्धि तो कष्टप्रदायिनी है, और संसार बढ़ाने वाली है।

यहांके अनुभवोको भी देख लो। जब तक बालक अकेला स्वतन्त्र रहता है तब निर्मलतासे बना रहता है, खुश रहता है। इसका बाह्य स्थूल कारण है कि—

जब अवस्था कम होती है तब आत्मामें निर्दोषता एवं पवित्रता रहती है। किन्तु जब लड़केकी शादी हो जाती है तब उसमें मायाचारी आ जाती है और वह विविध मायादि पूर्ण चेष्टाएँ करता है। कारण यह हुआ कि स्वामित्व बुद्धि आई उसके मनमें। परन्तु भैया उसकी भयशील क्रियायें यह ही तो प्रभावित कर रही हैं कि यह पाप ही है। पापाचारसे दूर रहकर निज पवित्र स्वभावको देखो, यही शांतिका मार्ग है।

धर्म ही जीवन है—इस प्रकार पंचपरमेष्ठी और वर्तमान तीर्थंकरोंका भली भांति आदर करके, इतना आदर कि यह उनके ही रूप हो जाय। अब ग्रन्थकार ग्रन्थ आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—"सर्वारम्भेण" अर्थात् पूर्ण रूपसे तैयारी करके ग्रन्थका प्रारम्भ करते हैं। जहाँ मल्ल युद्धका खास आयोजन चल रहा हो, वहाँ कोई लड़ने वाला मल्ल यह भाव नहीं रखता कि मैं पहिले सामान्य रूपसे लड़ूँगा, फिर विशेष रूपसे लड़ूँगा। इसी प्रकार ज्ञायकभाव रूप धर्मतत्त्वका अवलोकन कर लेने वाला सर्व आरम्भसे यथा शीघ्र धर्मोपार्जनके लिये उद्यमी होता है वह तो धर्मको ही अपना जीवन समझता है।

भैया! एक सेठजी थे। उनके यहाँ १० बजे भोजन वेलामें एक नव-वयस्क साधु आहारार्थ गये। आहार करनेके बाद धर्मोपदेशके लिये बैठे कि इतनेमें सेठकी पुत्र बधूने पूछा—महाराज! आप सबेरे क्यों आ गये? साधु बोले—मुझे समयकी खबर नहीं थी। साधुने पूछा—बेटी! तेरी उम्र क्या है? वह बोली—मेरी उम्र चार वर्षकी है। साधु–तेरे पति की उम्र क्या है? पुत्रबधु–मेरे पतिकी उम्र चार मासकी है। साधु–ससुरकी उम्र क्या है? पुत्रवधू—अभी मेरे ससुरजी तो पैदा नहीं हुए। साधु–बेटी! तुम ताजा खाती हो या बासी? पुत्रबधू–महाराज! अभी तक तो बासी ही खाती हूं। सेठजी इन अटपटे प्रश्नोत्तरोंको सुनकर बड़े हैरान एवं आश्चर्य चकित हुये क्योंकि साधु तो ठीक समय पर ही आये थे और उनसे पूछा गया यह कि तुम इतने सबेरे क्यों आये? उम्र सम्बन्धी प्रश्नोत्तर तो सारेके सारे ही अटपटे हैं और यह प्रतिदिन ताजा भोजन भी करती है और साधुसे कहती है कि बासी खाती हूं। साधुजी तो आहारसे चल दिये किन्तु प्रश्नोत्तरोंको जाननेकी लालसासे सेठजीको चैन न थी। जाकर पुत्रवधूसे पूछने और कहने लगे। तूने तो आज मेरे घरकी लुटिया डुबो दी। पुत्रवधू समझ गई कि ससुरजीने हम लोगोंकी बातोंका अभिप्राय

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नहीं समझा। अतः बोली—ससुर जी! साधु जी के पासमें ही चलकर समाधान कर लिया जाय। दोनों वहाँ पहुंचे। सेठ जी ने पूछा—महाराज! आपके एवं मेरी पुत्रवधूके बीचमें हुई वार्तालापका क्या अर्थ है?

धर्मश्रद्धा होनेपर जीवनका प्रारम्भ—साधु बोले—देखो! इसने मुझसे पूछा था कि इतने सबेरे क्यों आये? इस प्रश्नका तात्पर्य था कि मैं इतनी अल्पायुमें दीक्षित क्यों हो गया? मैंने इसका उत्तर दिया था कि समयकी खबर न थी। इसका अभिप्राय यह था कि मुझे अपनी आयुका पता नहीं कि कितनी है, न जाने कब मृत्यु हो जाये? अतः नववय में ही दीक्षित हो गया। सेठजी बोले—महाराज! इसकी उम्र तो २० वर्षकी है फिर इसने ४ वर्ष की क्यों बतलाई? और पति तो २५ वर्षका है और उसकी उम्र ४ माहकी कही। मैं तो वृद्धावस्थाको प्राप्त जीर्णकाय आपके समक्ष खड़ा हूं और यह कहती है कि अभी मेरे ससुर पैदा ही नहीं हुए। साधु बोले—बेटी! सेठजी का समाधान कर। पुत्रवधू बोली—मुझे धर्मकी श्रद्धा चार वर्षसे ही हुई है, अतः मैंने अपनी उम्र ४ वर्षकी बतलाई और पतिदेव की धार्मिक श्रद्धा चार माहसे ही प्रारम्भ हुई है, अतः उनकी उम्र ४ माहकी बतलाई है किन्तु आपके मनमें वह धर्म-श्रद्धा तो अभी तक हुई ही नहीं अतः मैंने कहा कि ससुरजी तो अभी पैदा ही नहीं हुये। सेठजी बोले—महाराज! यह प्रातः एवं सन्ध्या दोनों समय ताजा आहार करती है फिर बासी खानेकी बात कैसे कही? इसका पुत्रवधूने उत्तर दिया—महाराज, हम लोगोंने जो पूर्व जन्ममें पुण्य कमाया है उसीका फल हम आज भोग रहे हैं। नया पुण्य तो हम कुछ भी उपार्जित नहीं कर रहे हैं। अतः मैंने वासी खाने की बात कही। सेठजी प्रश्नोत्तरोको समाधानित कर घर चले गये। ठीक है, आत्मश्रद्धा बिना जीवन व्यर्थ हैं।

रे मूढ़! तू आत्माकी खोजमें निकला है? जिज्ञासु है उसका! किन्तु वह तुझे यहाँ बाह्य जगत्में कहाँ मिलेगी? स्वयं अनन्तगुणयुक्त आत्मा तुझमें विद्यमान होते हुए भी अज्ञानवश तू उसकी खोज कर रहा है—अतः उपहासका पात्र है। यह तो 'पानीमें मीन प्यासी; मोहि सुन-सुन आवे हाँसी' के समान बात होगी। तू आत्माकी खोज कर स्वयंमें, उसका एक बार साक्षात्कार हो जाने पर फिर सदाके लिये सुखी हो जायगा। जिससे तू चेतन है, ज्ञानमय, दर्शनमय कहलाता है, ज्ञान, ध्यान एवं तपादि तपता है और जिसकी स्वतन्त्र तथा निश्चल दशा मोक्षप्रदायी है। वही आत्मा है, तू उसका स्वामी सदासे रहा है, पर उसका अनुभव प्राप्त न कर सका। आत्मानुभवन गूँगेके द्वारा खाई गई शक्करके सदृश उसके ही द्वारा संवेद्य है, उसके संवेदनका बचनोसे वर्णन नहीं किया जा सकता।

विरागी विषयोंमें लिप्त नहीं होते—इस कथाका अभिप्राय यही है कि जब तक

Version 1

मनुष्यकी धार्मिक श्रद्धा नहीं जगी तब तक वह गर्भमें ही है, जन्मा नहीं है और तब तक वह नवीन पुण्य उपार्जित नहीं करता है बासी ही खा रहा है। यदि धर्मशून्य जीवनको ही जीवन माना जाय तो फिर केवल इसी भवकी उम्रको ही क्यों बताया जाय? अनादिसे ही हम लोग धर्मशून्य जीवन बिताते आ रहे हैं तब यही कहना चाहिए कि हमारी उम्र अनन्त कालकी है।

भगवान कुन्दकुन्दाचार्य भी ११ वर्षकी अल्पायुमें दीक्षित हुये थे। जिसके हृदयमें वैराग्य जग जाता है, संवेग उत्पन्न हो जाता है, वे विषय कषायोंके कर्दममें लिप्त नहीं रह सकते। जब और जिस अवस्थामें यह बोध उत्पन्न हो जाता है, तभी मनुष्यका मोह दूर हो जाता है।

अब आगे ग्रन्थका प्रारम्भ होगा, इसके पहिले श्री परमपूज्य अमृतचन्दसूरि जी कहते हैं—सर्वारम्भेण मोक्षमार्गं सम्प्रतिपद्यमानः प्रतिजानीते। तात्पर्य यह है कि आसन्न निकट भव्य, भेदविज्ञानसे ओतप्रोत, एकान्तवादके हठाग्रहसे दूर, पक्ष परिग्रहसे रहित, मध्यस्थ, मोक्ष-तत्त्वके दृढ़निश्चयी भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री वर्द्धमान भगवानको आगे करके समस्त पंचपरमेष्ठियोंको द्रव्य-भाव नमस्कारसे बहुमान करते हुये ग्रन्थ क्या बनाते हैं—साम्यभाव की प्रतिज्ञा करते हैं।

अब श्री कुन्दकुन्दाचार्य जी की वाणी मंगलाचरणपूर्वक प्रारम्भ होती है:—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं॥१॥

यह मैं, सुर, असुर और मनुष्योंके इन्द्रोंसे बन्दित, धो दिया है घातियाकर्म रूप मल को जिसने और धर्मरूप तीर्थके कर्ता ऐसे वर्द्धमान स्वामीको प्रणाम करता हूं।

भेदविज्ञानकी पराकाष्ठा—गाथामें प्रयुक्त 'यह' (एषः) पद ग्रन्थ-रचयिता की ओर संकेत है और 'मैं' 'अहं' पदसे स्वसंवेदन प्रत्यक्षकी ओर भाव व्यक्त किया गया है। यह ग्रन्थ भी रच रहे हैं और स्वसंवेदन भी कर रहे हैं। जैसे कि मानों कोई लिखता भी जाता हो और वार्तालाप भी करता जाता हो।

व्याकरण शास्त्रसे भी इसका कुछ रहस्य खुलता है। यहाँ 'एष' यह अन्य पुरुषका कर्तृपद है और 'प्रणमामि' उत्तम पुरुषका क्रियापद है। आप यह सोचेंगे कि किसी भी व्याकरणमें कर्ता क्रियाका वाक्यमें ऐसा मेल नहीं देखा जाता। किन्तु होता यह है कि जिस जिस पुरुषकी क्रिया होती है उसी उसी पुरुषका कर्ता होता है। तब इसका समाधान क्या है? भाई! इसका समाधान यह है कि आचार्य अपने ही आत्माको प्रत्यक्ष करते हुये कह रहे हैं, इसलिये इसके बीचमें 'अहं' लगाकर अर्थ होता है। स्वसंवेदन ज्ञानसे प्रत्यक्षीभूत,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चैतन्यस्वरूप, परमपारिणामिक भावमय, स्वभाव पूर्ण यह मैं आत्मा वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार करता हूं। अहो! यह अद्भुत बात है। जो यह नमस्कार कर रहा है सो मैं नहीं हूं। जिसे यह मैं आत्मा कहा गया, वह नमस्कार नहीं कर रहा, फिर भैया! यह ज्ञानीकी लीला है। ध्रुव, त्रैकालिक, अकालिक, निर्विकल्प शुद्ध तत्त्वभूत सत्य आत्माकी ओर लक्ष्य करने वाले, उसकी ओर उन्मुख होने वाले, परिणत होने वाले गुरु ज्ञानी उस आरम्भके समय तीर्थनायक श्री वर्द्धमान स्वामीके विषयमें बहुत सन्मान भावसे कितने भरे हुए हैं कि सुध-बुध भूलकर उच्च शुभ क्रिया कर रहे हैं।

स्वसंवेदनसे आत्माका प्रत्यक्षीकरण—वास्तवमें यह आत्मा स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा ही प्रत्यक्ष होता है। कोई कहे—मुझे आत्मा दिखा दो। तो उसमें रूप, रस, गंध, स्पर्श नहीं, फिर उसे कैसे दिखाया जा सकता है? जब यहाँ चतुर्थ काल था, साक्षात् केवलज्ञानी भी विद्यमान थे, तब भी वे किसीको हाथपर रखकर 'यह आत्मा है' ऐसा साक्षात् नहीं दिखा सकते थे। यह तो सबको स्वसंवेदनमें आ ही रहा है। दर्शन ज्ञानस्वरूप यह आत्मा है। मैं दर्शन ज्ञान सामान्य स्वरूप हूं।

सामान्य और विशेषका स्वरूप—जिज्ञासा—यहाँ 'दर्शन ज्ञान विशेष स्वरूप हूं' ऐसा क्यों नहीं कहा? समाधान—इसमें एक रहस्य है। पहिले सामान्य विशेषके स्वरूपको आम के दृष्टान्त द्वारा प्रगट किया जाता है। जैसे कोई आम अपनी प्रारम्भिक दशामें कैरी रूप था अर्थात् कुछ काले रंगको लिये हुए था। जब वह कुछ बड़ा हुआ तब उसका हरा रंग प्रगट हुआ। कुछ और बड़े होनेपर पीला रंग प्रगट हुआ और अन्तमें पूरा पक जानेपर लाल रंग प्रगट होता है तब यहाँ देखो रूपके कितने रूप परिवर्तन हुए? जिसमें इन रूपविशेषोंके परिवर्तन हुए वही रूपसामान्य है और जो काले, हरे, पीले, लालरूप विभिन्न परिवर्तन हुए हैं, वे सब रूप विशेष हैं। यहाँ विचारो तो रूप विशेष तो सबकी समझमें, देखनेमें आता है परन्तु रूपसामान्यका दर्शन नहीं होता। वह तो केवल (मात्र) ज्ञान द्वारा ही गम्य है। इसी प्रकार यह आत्मज्ञानसे कभी घटको जानता है, कभी पटको जानता है, तो इन घटपटादि ज्ञानविशेषोंमें परिवर्तित होता रहता है। ये ज्ञानविशेषके परिवर्तन अस्थायी हैं, क्षणभंगुर हैं। अतः इन्हें आत्माका स्वरूप नहीं मान सकते। यदि इन ज्ञानविशेषोंको आत्माका स्वरूप माना जायगा तो विवक्षित ज्ञानविशेषके अभाव होते ही आत्मा या ज्ञानका भी अभाव मानना पड़ेगा। ये ज्ञानविशेष आत्मा की पर्याय तो अवश्य हैं, परन्तु उन विशेषोंके मात्र ही आत्मा नहीं है। तो फिर उन ज्ञानविशेषोंमें अन्वय या एक संतानरूपसे रहने वाला जो ज्ञानसामान्य है, वह त्रैकालिक है और वही आत्माका स्वरूप है। देखो! बालकसे वृद्धावस्था तक बदलने वाली क्या वस्तु है? जो बदलने वाली हो करके भी बनी रहती है, वह है मनुष्य उस खाली

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मनुष्यको किसीने नहीं देखा। जैसे मनुष्योंको देख रहा हूं, वह केवल बाल, वृद्ध, युवा आदि पर्यायोंको ही देख रहा हूं, मनुष्यत्व तो सबमें व्याप्त है। वह मनुष्य तो केवल ज्ञानगम्य है।

मैं ज्ञानविशेषोंमें चलता अवश्य हूं, पर मैं ज्ञानविशेषरूप नहीं हूं। यदि मैं ज्ञानविशेष रूप हो जाऊँ तो विवक्षित विशेष ज्ञानके समाप्त होनेके साथ ही मैं भी नष्ट हो जाऊँगा—अतः मैं ज्ञान सामान्यरूप हूं। यह मैं इन्द्रियगम्य नहीं, किन्तु स्वसंवेदनगम्य हूं।

आत्माका अन्वेषण—लोगोंकी दृष्टि परपदार्थोंमें अटकी रहती है, कारण है कि उन्हें आतमाका ज्ञान नहीं होता। यदि परका लक्ष्य छोड़कर परको पर जानकर अपने स्वभाव रूप रहे, तो आत्मा हस्तगत ही तो है। आत्माका जानना कोई अधिक कठिन नहीं। एक वेदान्त की कथा है कि कोई मनुष्य किसी वेदान्ती साधुके पास गया और पूछने लगा—महाराज! आत्मा क्या वस्तु है? वे बोले—भाई! मेरा मित्र एक मगर है, अमुक सरोवरमें रहता है, उसके पास जाओ, वह तुम्हारे प्रश्नका उत्तर देगा और तुम्हें बतलायेगा कि आत्मा क्या वस्तु है? वह जिज्ञासु सरोवरपर पहुंचा और मगरको देखकर बोला—भाई मगर! मुझे यह बतलाओ कि आत्मा क्या वस्तु है? वह बोला—भाई! मुझे बड़े जोरसे प्यास लग रही है। तुम जाकर किसी कुएंसे अपना लोटा भरकर लाओ और मुझे पहिले पानी पिला दो। पीछे मैं तुम्हारे प्रश्नका उत्तर दूंगा। आगन्तुक बोला—भाई! तुम बड़े मूर्ख मालूम पड़ते हो जो पानीमें रहकर भी प्यासे हो। मगर बोला—और तुम मुझसे भी अधिक मूर्ख हो जो तुम स्वयं ही तो ज्ञानसे परिपूर्ण हो और मुझसे पूछते हो कि आत्मा क्या वस्तु है? अरे! जो तुम पूछ रहे हो वही तो आत्मा है। जिसे यह जिज्ञासा हो रही है, जिसके भीतरसे जाननेका विकल्प उठ रहा है, जो मुझसे पूछ रहा है—वही तो आत्मा है। आगन्तुक मगरका उत्तर सुन विस्मित हो गया और आत्मबोध पाकर प्रसन्न होता हुआ अपने घर चल दिया।

स्वका ज्ञान करो परका नहीं—उक्त कथानकसे भी यही सिद्ध हुआ है कि यह आत्मा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष गम्य है। सबका सार यही है—'एक मैं आत्मा हूं।' देखो! व्याकरण शास्त्रके नियमसे 'अहं' उत्तम पुरुष है, 'त्वम्' मध्यम पुरुष है और इन दोनोंके अतिरिक्त शेष सब अन्य पुरुष हैं। उसे अंग्रेजीमें क्रमशः फर्स्ट परसन, सेकिन्ड परसन और थर्ड परसन कहते हैं। उन व्याकरण प्रयोगों से भी सिद्ध होता है कि केवल 'मैं' तो फर्स्ट हूं, और इस ही को—कर्म मलीमस अपने आपको जब समझाया जाता है, तो उस समय 'तुम या तू' का लक्ष्यभूत उसी आत्माको संबोधनमें कहा जाता है—और मेरे अतिरिक्त जगतके जितने भी पदार्थ हैं वे सब थर्ड परसन हैं। भाई! थर्ड और सेकिन्ड परसनमें मोहको छोड़कर फर्स्ट परसनमें ही रुचि करो, अपनी आत्माको अपनेमें लगाओ। स्वयंको समझे बिना परका सर्व ज्ञान भी व्यर्थ है। जब तक परके ज्ञानका उपक्रम करते रहोगे तब तक स्वबोध नहीं हो सकेगा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

गुणैः हि सर्वत्र पदं निधीयते—यहां श्री कुन्दकुन्दाचार्यके 'एषः' पदका भाव श्री अमृतचंदसूरिने व्यक्त किया है कि 'दर्शन-ज्ञान-सामान्य-आत्मा' ऐसा कहकर आत्माका वह परिचय दिया है, जिसके द्वारा एक दृष्टिसे जिन प्रभुकी वन्दना करना है, उनकी तुलना हो जाती है। वह वन्दनाका अन्तरंगसे अधिकारी क्या ? जो अपनेको पतित, दीन, हीन और नीच ही समझता हो। लोकमें भी ऐसा ही देखा जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी राजासे या प्रतिष्ठित अधिकारीसे मिलने जाता है तो अपने परिचय-पत्र पर अपनी पदवी आदिका उल्लेख कर अपनी योग्यताका परिचय देता है, तभी राजा आदि उससे सम्मानके साथ मिलते हैं। यदि कोई अपने परिचय-पत्रमें यह परिचय देवे कि मैं दीन हूं, गरीब हूँ, भिखारी हूँ तो उसके भेंट करनेके लिए कभी भी राजादिकी ओरसे स्वीकृति नहीं मिलेगी। इसी प्रकार आचार्य श्री कुन्दकुन्दने भी गौरवपूर्ण शब्दोंमें भगवान महावीरको अपना परिचय दिया है—मैं दर्शन-ज्ञान-सामान्य-स्वरूप आत्मा हूं।

स्वभाव और विभाव—आत्मशांतिका उत्तम उपाय समाधि है। सर्व प्रकारके मानसिक, वाचनिक एवं कायिक विकल्पोंको त्यागकर मात्र आत्मतत्त्वके निरीक्षण एवं परीक्षण में संलग्न हो जाना, तथा उसमें तल्लीन होकर 'यह मेरा है और यह है दूसरेका' इत्यादि वैभाविक विकल्पजालोंकी उत्पत्ति ही न होने देना समाधि है। उस निर्विकल्पावस्थामें आत्मा ही हमारा ध्येय, आत्मा ही हमारा ध्यान और स्वयं आत्मा ही ध्याता होता है। यही अवस्था समाधिकी श्रेष्ठतमावस्था है और आत्माके विकासका श्रेष्ठतम साधन है।

सुरासुरवन्दित वर्द्धमान—कैसे हैं वर्द्धमान स्वामी ? सुरासुर मानवोंसे इन्द्रोंसे वन्दित हैं। इन तीनों इन्द्रोंका उल्लेख उपलक्षण मात्र है, अतः सुरेन्द्रसे समस्त ऊर्ध्वलोकके जो इन्द्र हैं उनका और सूर्य, चन्द्र तथा अहमिन्द्रोंका भी ग्रहण करना चाहिए। असुरेन्द्र पाताल लोक का स्वामी माना गया है उससे सभी भवनवासी और व्यन्तर देवोंके इन्द्रोंका ग्रहण करना चाहिए। मनुष्य शब्दसे तिर्यग्लोक, मध्यलोक ध्वनित किया गया है, अतः मनुष्येन्द्रसे मनुष्यों का इन्द्र चक्रवर्ती और तिर्यञ्चोंका इन्द्र सिंहका ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार भगवान महावीर तीनों लोकोंके शतवंद्य हैं। जिसका अभिप्राय यह हुआ कि संसारमें जितने भी प्राणी हैं उन सबके द्वारा भगवान महावीर वंदित हैं। यहाँ नारकियोंको भी इस वन्दनासे वंचित नहीं समझना चाहिए। असुर शब्दके उपलक्षणसे अधोलोकके निवासी सभी संज्ञी जीवोंका ग्रहण किया गया है। इस प्रकार भगवान महावीर जिन जगत्रयके श्रेष्ठ जीवोंसे वन्दित हैं—अतः सर्व श्रेष्ठ, सर्वमान्य और महान हैं—यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। सम्यग्दृष्टि नारकी तिर्यंच अनेक जीव चाहे वर्द्धमान स्वामीको न समझें, न जानें तो भी वर्द्धमान स्वामी जिस बातके कारण पूज्य हैं वह भावगुण सभीके सन्मानकी वस्तु है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रभुसे जगतका उपकार—जिज्ञासा—यदि भगवान महावीर सुरासुरादिकके इन्द्रोंसे पूज्य हैं, तो भले ही रहें, इससे हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध हुआ ? समाधान--वे श्री वीतराग वर्द्धमान स्वामी सभीके द्वारा वन्दित होनेसे तीनों लोकोंके गुरु सिद्ध होते हैं। क्योंकि तीनों लोकोंसे नमस्कृत हैं—अतः वे तीनों लोकोंके गुरु हैं। हितानुशास्ताको गुरु कहते हैं। भगवान महावीर स्वामीने प्राणीमात्रके हितका उपदेश दिया है। अतः वे सबके गुरु हैं। तीन जगतके जीवोंके द्वारा आराधना किया जाने वाला जो ज्ञायक भाव है, उसके भगवान प्रतिष्ठापक हैं, अधिनायक हैं, इसलिये भी वे तीन लोकके गुरु सिद्ध होते हैं। हम उन्हीं अपने गुरुके उपदेशों का निमित्त पाकर स्वचतुष्टयमें अपनी परिणतिसे शुद्धि प्राप्त कर रहे हैं। हमपर उनका महान उपकार है।

परम दयालु आचार्यदेवने अनेक मुमुक्षुओंको यह समझाया है कि यदि शाश्वत सुख शांति चाहते हो तो वीतराग जिनेन्द्रदेवकी उपासना करो, उनके उपदेशोंसे अपने हृदयस्तलको आपूरित कर लो।

धोदघाइकम्ममलंका स्पष्टीकरण—अब द्वितीय विशेषण 'धोदघाइकम्ममलं' (धौत-घाति-कर्म-मलं) का अर्थ प्रारम्भ होता है। धो डाला है घातिया कर्मोंके मलको, अथवा घातिया कर्मरूपी मलको धोया है जिन्होंने ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामी हैं। जो स्वभावगत नहीं होता वह धोनेसे धुल जाता है अर्थात् अपनेसे पृथक् हो जाता है। जैसे वस्त्रका मैल जलसे धोनेपर छूट जाता है, पर वस्त्रका जो स्वाभाविक रूप है वह धोनेपर कभी दूर नहीं हो सकता। यह घातिया कर्मरूप मल भी जीवका स्वभावगत मल नहीं है। इसलिये यह भी भेदविज्ञानरूपी जलसे धुल जाता है अर्थात् आत्मासे अलग हो जाता है। यहाँ विचारणीय बात यह है कि आत्मा द्रव्य कर्मोंको नहीं धोता क्योंकि वे परवस्तु हैं और आत्मा परवस्तुका नहीं है। अतः आत्मा अपने रागद्वेष मोह आदि भाव कर्मोंको ही धोता है और भावकर्मोंके धोनेसे आत्मासे सम्बद्ध द्रव्य कर्म अपने आप धुल जाते हैं।

दृष्टान्तपूर्वक कर्ममलके धुलनेका वर्णन—जिज्ञासा—आत्माके विभावपरिणमन धोनेसे कर्म कैसे धुल जायेंगे ? समाधान—आत्माके विभावपरिणाम भी नैमित्तिक होनेसे पर हैं, वे भेदविज्ञानरूपी जलादिमें धुल जाते हैं। इसी बातको एक दृष्टान्तसे स्पष्ट किया जाता है—जैसे एक दर्पण सामने है और हरे रंगका उसमें प्रतिबिम्ब पड़ा तो वह प्रतिबिम्ब किसका है ? दर्पणका या सन्मुखस्थित हरित पदार्थका ? यदि उसे दर्पणका माना जाय, तो उस हरे पदार्थके दूर होनेपर भी प्रतिबिम्बको हटना नहीं चाहिए, और यदि हरे पदार्थका माना जाय तो सम्मुख स्थित घट पटादि किसी भी पदार्थमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ना चाहिए ? पर ये दोनों ही बातें नहीं होतीं। अतः उस प्रतिबिम्बको न दोनोंका कह सकते हैं और न यही कह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

सकते हैं कि यह दोनोंका नहीं है। इसी प्रकार रागादि भाव किसके है ? क्या आत्माके हैं ? यदि हैं तो सिद्धावस्थामें उनका अभाव क्यों ? यदि कर्मके हैं, तो उसे ही दुःख भोगना चाहिए। किन्तु ऐसा भी प्रतिलक्षित नहीं होता। तब क्या है ? निश्चित किसीका नहीं कहा जा सकता। इसीलिए तो विभिन्न मतवालोंमें से किसीने इस जगतको विवर्त रूप माना है और किसीने मायारूप। वास्तविक बात तो यह है कि वे रागादि विभाव भाव कर्मके निमित्त से होनेके कारण कर्मके कहलाते हैं और आत्मामें होनेके कारण आत्माके कहे जाते हैं। इसलिये दोनोंके भी हैं और दोनोंके भी नहीं हैं। जैसे किसी बालकको कहा जाय कि यह माँ और बाप दोनोंका है अथवा दोनोंका भी नहीं है।

इस प्रकार विभिन्न विविक्षाओंसे अपेक्षित वस्तु तत्त्वका ज्ञान हो गया, पर यदि कोई प्रश्न करे कि—क्या ज्ञान हो गया ? तो कह नहीं सकते, क्योंकि तत्त्व जाननेके लिए जो उपाय काममें लाये जाते हैं, वे तत्त्व जान लेनेके पश्चात् त्याग दिये जाते हैं, ग्रहण नहीं किये जाते।

समझ, सुन, चेत सयाने—भगवान महावीरने घातिया कर्मरूप मलका सम्पूर्ण एवं समस्तरूपेण प्रक्षालन और परिमार्जन कर दिया है। ऊपरी चीजका धोना सरल है। पानी से बाह्यद्रव्य धो लिए जाते हैं, परन्तु भेदविज्ञानके जलसे अथवा समता-भावरूप सलिलसे धाये जाते हैं रागादिक भाव। दोनों द्रव्यकर्म और भावकर्म धुल जाते हैं। चैतन्य भावपर दृष्टि रखनेसे विभाव रूप मल स्वयं धुल जाया करते हैं। सर्वविभावोंके परित्यागसे ही श्रेष्ठता एवं उत्कृष्टता प्राप्त होती है। स्वयंको मार्गपर स्थित एवं स्थिर करो और संभालो उच्चता और श्रेष्ठता आपके चरणोंमें चिपट जायगी। जब तक अपने आपको नहीं संभाला तब तक आत्माके महत्वपूर्ण पदको प्राप्त नहीं किया जा सकता।

आत्मशान्तिका उत्तम उपाय समाधि—आत्माके इस बड़प्पनको प्राप्त करनेके लिए सबसे उत्तम उपाय है—समाधि। सर्व मानसिक, वाचनिक एवं कायिक संकल्प विकल्पोंको दूर कर शुद्ध ज्ञायकभावमें तल्लीन होनेको समाधि कहते हैं। सम + आधि = समाधि। आधि नाम है मानसिक व्यथा या पीड़ाका, समका तात्पर्य शान्तिसे है। अतः जहाँ पर सभी मानसिक व्यथाएँ या चिन्ताएँ शान्त हो जायें और कोई नवीन संकल्प उत्पन्न न हो—उसे समाधि कहते हैं। अथवा जहाँ पर आधियाँ = मानसिक चिन्ताएँ दूर होकर समता भाव जागृत हो जाता है—उसे समाधि कहते हैं। सर्व-प्रथम आत्महितैषीको इस समाधिको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिए। यदि यह प्राप्त न हो सके या जब तक यह प्राप्त न हो जाय तब तक मध्यम उपाय निष्काम कर्म करना चाहिए।

निष्काम कर्म—फलकी इच्छा न करके कार्य करनेको निष्काम कर्म कहते हैं, ऐसा

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

गीताकारका मत है—"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" पर जैनदर्शनके आचार्य कहते हैं कि फलकी इच्छा न होना और कार्य होना यह निष्काम कर्मयोग है। मोही जन निष्काम कर्मयोगकी बात करके भी कर्मयोग कहते हैं। अतः उनकी निष्काम परसे दृष्टि चली जाती है। यदि निष्कामका महत्त्व न माना जायगा तो सम्यक्त्वीकी अपेक्षा मिथ्यात्वी अधिक सुखी सिद्ध होगा। देखो! सम्यक्त्वी जीव गोदमें बैठे हुये बालकको खिलाता हुआ भी सांसारिक और पारमार्थिक दोनों दृष्टियोंसे सुखी नहीं, पारमार्थिक दृष्टिसे तो इसलिये सुखी नहीं कि उसे भीतरसे यह दृढ़ निश्चय है कि यह न मेरा है और न मैं इसका हूं, सो लोकरीतिमें जैसा चाहिए करना चाहिए वैसा प्रेम वह बालकसे नहीं कर पाता। अतः सांसारिक दृष्टिसे भी सुखी नहीं। मिथ्यात्वीके कमसे कम एक सांसारिक सुख तो है। क्या यह कथन ठीक है? नहीं। भले ही संसारमें लोगोंको मिथ्यात्वी सुखी दिखाई दे, किन्तु वास्तव में वह सुखी नहीं है। सम्यक्त्वी बाहरसे भले ही हम लोगोंको दुखी दिखाई दे, पर यथार्थमें वह निष्कामताका आनन्द प्रति क्षण ही ले रहा है इसलिए वह सदा सुखी है। सुख बाह्य पदार्थोंसे नहीं होता।

ज्ञानीके रागमें राग नहीं—कुत्ता हड्डी चबाता है, उसे उठाकर एकान्तमें ले जाता है, दूसरे कुत्तेको देखकर गुर्राता है और भौंकता है। इसी प्रकारकी बात परिग्रही व्यक्ति की भी है। वह धनार्जनकर घर लाता है और गुप्त स्थानमें गाड़कर रखता है। यदि कोई उसे चुराने या लेने आता है तो वह लड़ता है और उसे मारकर भगाने का प्रयत्न करता है। धन वैभवकी मूर्छाका ऐसा ही स्वभाव है। जिनके बाह्य पदार्थोंमें मूर्छा लग रही है उन्हें कभी शान्ति नहीं मिल सकती। किन्तु सम्यक्त्वीके इष्ट जनोंमें या प्रिय वस्तुओंमें अंतरंगसे राग नहीं होता। उनकी बीमारीके इलाजका राग तो रहता है पर इलाजके राग का राग नहीं होता।

बाह्य वस्तुएं सुख दुःख दाता नहीं—एक रईस रोगी होता है तो उसको सुख पहुंचानेके लिए नाना प्रकारके साधन जुटाये जाते हैं। कमरेका वातावरण शान्त रखा जाता है, ओढ़ने-बिछानेके वस्त्रादिक स्वच्छ रखे जाते हैं। बैठने-उठनेके लिए बड़ी-बड़ी गदियाँ-तकिया लगाई जाती हैं। कुशल, मधुभाषी एवं संकेतज्ञ सेवक परिचारक उसकी सेवाके लिए नियुक्त किये जाते हैं। चाँदी-सोने आदिके पात्रों द्वारा उसे दवा खिलाई जाती है, कुशल क्षेम पूछने वाले सदा आते रहते हैं। डाक्टर और वैद्य चारों ओरसे घेरे रहते हैं। लिखनेका तात्पर्य यह है कि उसे जो भी ऊँचीसे ऊँची, बढ़ियासे बढ़िया सुख सुविधा पहुंचाई जा सकती है, पहुंचाई जाती है। तो क्या यह सब ठाट-बाट देखकर कोई रोगी यह भावना करेगा कि मैं सदा बीमार बना रहूं जिससे ये ठाट-बाट ज्योंका त्यों बना रहे। इस प्रश्नका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

उत्तर होगा—नहीं ? कोई भी बीमार केवल बाह्य आडम्बरोंको सदा बनाये नहीं रखना चाहता। उसे केवल तभी तक उन्हें पास रखना चाहता है जब तक कि उसका रोग दूर नहीं होता। किन्तु वह चाहे बीमार हो या स्वस्थ उसे बाह्य वस्तुओंसे, इलाजके उपायों और दवाओंसे मोह कभी नहीं होता।

चाह सदा अतृप्त रहती है—क्या किया जाय ? संसारका धन्धा ही ऐसा है कि जब जिस चीजकी चाह होती है, तब वह नहीं मिलती और जब वह मिलती है तब उसकी चाह नहीं रहती। एक उदाहरण है—एक भंगीकी ड्यूटी रोज महलके इर्द-गिर्द झाड़नेकी थी। झाड़ते-झाड़ते उसे अकस्मात रानीके महलके झरोखेके नीचेसे उड़ती वायुमें सुगन्धि मालूम हुई। जाकर देखता है तो रानीका तत्काल उगला हुआ पान पड़ा है और उसकी सुगन्धिके लोलुप भ्रमर उस पर मंडरा रहे हैं। रानीने उसे जरासा चूसकर तत्काल ही थूका था। वह कीमती एवं सुगन्धित वस्तुओंसे तैयार किया गया था। भंगीने उसे उठाकर खा लिया। खाते ही जैसे उसने ऊपर देखा वह कामान्ध हो गया और घर जाकर खाट पर पड़ रहा। भंगिनने उसकी ऐसी परिस्थितिका कारण पूछा—यदि मुझे महारानी मिल जाय तो मैं जीवित रह सकता हूं—अन्यथा नहीं। पत्नी सुनकर बोली—"पागल हो गये हो क्या ? यदि कोई सुन लेगा तो अभी फाँसीपर लटका दिये जाओगे।" भंगी कामान्ध हो रहा था, बोला—"चाहे जो कुछ हो यदि रानी मिलेगी तो मैं जीवित रहूंगा अन्यथा मर जाऊँगा।" जब समझानेके प्रयत्न व्यर्थ गये तब भंगिन किसी उपायकी खोजमें निकली। उसे ज्ञात हुआ कि नगरमें एक सिद्ध महात्मा आये हुये हैं और वे सर्व सिद्धिका मन्त्र देते हैं। भंगिन ने आकर भंगीसे कहा—अपने नगरमें एक सिद्ध महात्मा आये हैं, चलो उनके पास चलें और अपने अभीष्टकी सिद्धि करें। दोनों उस महात्माके पास गये और सर्व सिद्धि मंत्र देनेके लिए प्रार्थना की। महात्मा बोले, हम उसे ही मंत्र देते हैं जो हमारी दीक्षा स्वीकार कर हमारे साथ रहता है, फिर उस मंत्रकी १२ वर्ष तक आराधना करना पड़ती है, तब वह सिद्ध होता है। भंगीने सब स्वीकार किया और उसके पास दीक्षित हो गया। चातुर्मासके बाद देश-देशान्तरोंमें परिभ्रमण करता, मंत्रकी आराधना करता १२ वर्षके बाद अपने नगरमें साधु-संघके साथ आया। भंगिन भी वर्षोंको गिन रही थी और सोच रही थी कि मेरा पति अबके चातुर्मासमें अवश्य आयेगा। साधु-आगमनके समाचार सुनकर वह संघ-दर्शनार्थ गई। अपने पतिको देखकर बड़ी प्रसन्न हुई और दूसरे दिन राजभवनको जब झाड़ने गई तो महारानीसे बोली—नगरमें एक बड़ा साधु-संघ आया है, उसमें एक बहुत बड़े सिद्ध महात्मा भी हैं, वे ऐसा मंत्र देते हैं कि उसके प्रतापसे इष्ट सिद्धि हो जाती है। रानीके पुत्र नहीं था, वह वर्षोंसे पुत्र-प्राप्तिके लिए नाना

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उपाय कर चुकी थी। अतः भंगिनकी बात स्वीकार कर गुप्त रूपसे उसके साथ साधु-दर्शनको चल पड़ी। भंगिन सब साधुओंके दर्शन कराती हुई अन्तमें अपने पतिके पास ले गई। उस समय वह नेत्र बन्द कर ध्यानस्थ था। भंगिन बोली--महाराज, नेत्र खोलिए, देखिये राजरानी आपके सामने खड़ी हैं। और साधु अपनी भंगिनकी बोली पहिचान कर आँख बन्द किये ही बोला—मुझे उस महारानीके (स्वानुभूतिके) दर्शन हो रहे हैं, जिसके सामने दुनियाकी बड़ीसे भी बड़ी राजरानियाँ कोई चीज नहीं हैं। भंगीको निरन्तर साधु-संगसे विवेक जागृत हो गया था और वह स्वानुभूतिका दर्शन कर चुका था, अतः उसने यह उत्तर दिया। यह एक कथानक है, जिसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य जब तक जिस चीजको चाहता है, तब तक वह उसे नहीं मिलती और जब मिलती है तब उसकी चाह मिट जाती है।

कीर्तिकी दशा—कीर्तिका भी यही हाल है। लोग संसारमें कीर्तिके भूखे हैं, उन्हें उसके पानेकी सदा चाह बनी रहती है। पर बताओ—उस कीर्तिसे क्या लाभ है? जो चाहने पर नहीं मिलती, और जब नहीं चाहते, तब मिलती है। कहा जाता है कि कीर्ति अभी तक कुमारी है, उसने अभी तक अपना विवाह नहीं किया है। इसका कारण यह है कि जो कीर्ति को चाहता है, कीर्ति उसे नहीं चाहती और जिसे कीर्ति चाहती है, वह कीर्तिको नहीं चाहता। इससे वह आज तक कुमारी ही बनी हुई है, और आगे भी सदा कुमारी ही बनी रहेगी। पर लक्ष्मीकी बात विपरीत है, उसे लोग वेश्या या व्यभिचारिणी कहते हैं, क्योंकि वह कभी एक को वर करके नहीं रहती, सदा नये-नये पतियोंकी खोज करती रहती है। सो भैया! लक्ष्मी और कीर्तिके रागके साथ समस्त विभावोंके रागका भी राग छोड़ना चाहिए।

सम्यक्त्वीकी निर्विकल्पभावना—सम्यक्त्वी विकल्पोंपर नजर रखता है तो इस तरह कि मुझमें विकल्प न हों? क्या इसका कोई उपाय है? इसका एक मात्र उपाय निजक्रीडा का स्थान प्राप्त करना है? एक बच्चेके पास एक खिलौना था, दूसरा बच्चा उसे देखकर रोने लगा कि मुझे यह दो। वह तब तक रोता रहा जब तक कि दूसरा खिलौना लाकर उसे नहीं मिल गया। इसी प्रकार हमारा रोना भी तब तक नहीं मिट सकता, जब तक कि हमारी वस्तु हमें नहीं मिल जाती। भगवान महावीरको सिंहके भवमें जब सम्यक्त्व हुआ, तभीसे कर्ममल धोनेका उपक्रम होने लगा और समय आनेपर उन्होंने समस्त घातिया कर्ममलको धो डाला।

उनके कर्ममल धोनेसे हमें क्या लाभ हुआ? इस प्रश्नका उत्तर करते हुए आचार्य कहते हैं:—'जगदनुग्रहसमर्थानन्तशक्तिपारमैश्वर्यम्' अर्थात् समस्त जगत्के अनुग्रह करनेमें समर्थ ऐसी अनन्तशक्तिरूप परम ऐश्वर्य उन्हें प्राप्त हो गया। यह शक्ति भगवानको घातिकर्म दूर होनेसे प्राप्त हुई, और उनके परम्परागत उपदेशोंसे ही मेरा आज उपकार हो रहा है, यह हमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बड़ा भारी लाभ हुआ है ।

स्वानुग्रह—रागद्वेषादिसे दूर होकर निज ज्ञायकभावपर दृष्टि रखना ही यथार्थ स्वानुग्रह है । सदा ज्ञानोपयोगका प्रयत्न होना चाहिए, और मन्दिर तो इसीलिए ही आते हैं कि रागद्वेषसे दूर होकर ज्ञानमात्र रह सकूं । जब आप मन्दिरमें जाकर और पैर धोकर 'निःसही' ३ बार बोलते हैं, तो इसका क्या अर्थ है ? इसका शब्दार्थ है निकलो, निकलो । इसका व्यवहारकी अपेक्षा तो यह अर्थ है कि यदि कोई भक्त मनुष्य या देवादिक भगवानके सामने खड़ा होकर स्तुति आदि कर रहा हो तो उसके लिए उक्त 'निःसही' शब्द द्वारा यह संकेत या निवेदन किया जा रहा है, कि हे भाई, तुम जरा भगवानके सामनेसे एक तरफ हो जाओ और मुझे भगवद्-भक्तिका अवसर दो । निश्चयदृष्टिसे इस 'निःसही' शब्दका यह अर्थ है कि रागादि भाव जो अभी तक तुम लोग मेरे भीतर भरे हुए थे, सो अब दूर हटो, भीतरसे बाहर निकलो—अब मैं वीतरागके दर्शनार्थ आया हूं और अपने हृदयके भीतर वीतरागता भरना चाहता हूँ । यदि एक बार भी स्त्री पुत्रादिसे भिन्न होनेका भाव जागृत हो जाय, तो फिर देखो—क्या होता है ? सदा अपने शुद्ध स्वरूपको विचारोगे और उसपर ही दृष्टि रखोगे । जगत्के सर्व पदार्थ स्व-स्वचतुष्टय (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप) से युक्त हैं मैं भी स्वचतुष्टयसे युक्त हूं । अतएव मैं शरीर भोजनादिके कारण नहीं जी रहा हूं, किन्तु अपने चैतन्यभावके कारण जी रहा हूं, अतएव सदा स्वपर अपना लक्ष्य रखो ।

स्वात्माकी प्रियता—दो मित्रोंकी कथा है कि एकने दूसरेसे कहा कि भैया ! संसारको छोड़कर जो पहले स्वर्ग चला जाय, वह अपने साथीको संबोधनेके लिए आये, जिनमें से एक पहले स्वर्गमें जाकर देव हुआ, पूर्व भवकी बात स्मरण कर अपने साथीको संबोधनेके लिए आया । नाना प्रकारसे समझाया, मगर उसे घरबारसे विरक्ति ही नहीं हुई । तब उसने कहा भाई ये सब स्त्री पुत्रादिक स्वार्थके साथी हैं, न विश्वास हो तो परीक्षा करके देख लो । देव बोला—अच्छा पेटके दर्दका बहाना करके बीमार बन जाओ और जो भी दवा पिलायें, कहते जाओ कि दर्द दूर नहीं हुआ । उसने ऐसा ही किया । अनेक वैद्य आए, पर किसीकी दवासे आराम नहीं हुआ, तब वही देव वैद्य बनकर सामने आया और बोला—मेरे पास एक ऐसी दवा है कि जिसके पीते ही पेटका दर्द तुरन्त चला जाय । घर वालोंने कहा, तो दवा दीजिए । वैद्य बोला—पर इस दवाकी यह विशेषता है कि इसे बीमार नहीं पियेगा—तुममें से किसीको पीना पड़ेगी और उसका दर्द दूर हो जायगा । पर साथ ही यह भी विशेषता है कि पीने वाला मर जायगा । वैद्यने सबसे पहले उसकी बूढ़ी माँ से कहा, तू तो आज कलमें मरने ही वाली है, अतः तू पीले तो तेरा लड़का जी जाय । वह सोचने लगी कि चार में से यदि एक मर भी जाय, तो तीन ही मेरे बच्चे बचेंगे, उनका सुख देखूँगी—ऐसा सोच

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उसने इन्कार कर दिया। पिताने भी ऐसा ही सोचकर इन्कार कर दिया। कहनेका सारांश यह कि उसके भाई, लड़की स्त्री आदि सभी ने अपना स्वार्थ सोच-सोचकर दूध पीने से इन्कार कर दिया, तो वह बोला यदि कोई नहीं पीता है, तो मैं ही पी लेता हूं। उसके दवा पीते ही वह स्वस्थ होकर उठ बैठा और घरबार छोड़कर साधु बन गया। भैया, हर कोई इसी प्रकार घर वालोंकी जांच कर सकता है और सभी की जांच कर सकता है। यदि तुम्हें आत्मबोध प्राप्त करना है, तो इन सबका परित्याग करना ही पड़ेगा, भेदविज्ञानका अवलंबन करना होगा, क्योंकि भेदविज्ञानके बिना घातिया कर्मोंके नाश करनेकी ताकत भी नहीं आती और उनके नाश हुए बिना अघातिया कर्म चतुष्टय भी नष्ट नहीं हो सकते।

कर्मप्रकृतियोंकी सिद्धि—प्रश्न—कैसे जानें कि कर्म आठ हैं? उत्तर—आत्माकी जितनी झंझटें हैं, उतने ही उनके निमित्तभूत कर्म होते हैं। वे झंझटें आठ हैं—१—ज्ञानका प्रगट नहीं होना, २—दर्शनका प्रगट नहीं होना, ३—साता असाताका चक्र चलना, ४—यथार्थ दृष्टि और सुखका नहीं रहना, ५—विभिन्न शरीरोंमें रुके रहना, ६—दुःखके कारणभूत नाना प्रकारके शरीरोंका पाना, ७—ऊँच नीचके वचन-प्रहारोंका आघात होना और ८—दान, लाभ आदिकी शक्तिका न प्रगट होना। जब ये झंझटें आठ हैं तो उनके निमित्तभूत कर्म भी आठ हैं। इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोहनीय और अन्तराय—ये चार घातियाकर्म हैं और वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र—ये चार अघातिया कर्म हैं। जो आत्माके ज्ञान दर्शनादि अनुजीवी गुणोंको घातें वे घातिया कर्म हैं और जो अगुरुलघुत्वादि प्रतिजीवी गुणोंको घातें वे अघातिया कर्म हैं।

ये घातिया कर्म इसलिए कहलाते हैं कि जीवके भोग और कषायसे निमित्तको पाकर बद्ध हुए इन कर्मोंमें जीवोंके गुण घातने रूप प्रयोजनमें निमित्तपना है। देखो तो निमित्त-नैमित्तिक—सम्बन्ध जिसमें ये दोनों बातें एक साथ हैं कि निमित्त कुछ नहीं करता है, और निमित्त बिना होता नहीं है। इसका रहस्य प्रमाण दृष्टिसे समझमें आता है। यहाँ प्रश्न होता है कि श्री वर्द्धमान स्वामी घातिया कर्ममलसे रहित हैं। इसमें हमारे हितका सम्बन्ध उनसे क्या निकला? इसका समाधान यह है कि घातिया कर्ममल दूर होनेसे यह बात प्रगट है कि इन जिनेन्द्र प्रभुमें सर्वके अनुग्रहमें समर्थ अनन्त शक्तिकी परम ईश्वरता है। अर्थात् इनमें वह निमित्तशक्ति है कि जिससे विवेकी प्राणी इनकी उपासना रूप निज विशुद्ध परिणतिसे अपना सर्व संसार क्लेश दूर करके अपनी परमेश्वरताका अनुभव कर सकते हैं। अहो? कितनी प्रिय आगमकी घोषणा हो रही है कि ये प्रभु प्राणियोंके पाप मलके धोनेमें, दूर करनेमें कारण है। क्योंकि इनके स्वयं घातिया कर्ममल दूर हो गये हैं, क्षत हो गए हैं। निर्दोषकी ही उपासनासे निर्दोषता प्राप्त होगी, अतः मुमुक्षु जन आओ—इनकी धार्मिक छत्रछायामें बैठकर पाप सन्ताप

Report any errors at vikasnd@gmail.com

को नष्ट करो। वास्तवमें आत्माका अनुग्रह यही है कि परम समताभावसे उत्पन्न स्वाभाविक सुखरूपी निर्मलजलसे रागद्वेषादि पापभावोंको धो डाला जावे।

अब आत्मगुणोंके घात करने वाले राग, द्वेष, मोह, अज्ञान, कायरता आदि विभावों को एवं स्वविकासके साक्षात् घात करनेमें निमित्तभूत घातिया कर्मोंको जिन्होंने धो डाला है, और इसी कारण जिनके संसारी समस्त जीवोंके परम अनुग्रह करनेकी सामर्थ्य प्रगट हुई है, ऐसे श्री वर्द्धमान स्वामीको कुन्दकुन्दाचार्यके शब्दोंमें 'यह मैं' प्रणाम करता हूं।

वर्द्धमान प्रभुकी तीर्थरूपता—अब आगे आचार्य कहते हैं कि वर्द्धमान प्रभु तीर्थ हैं, क्योंकि ये स्वयं परमसमाधिरूप जहाज—जिसमें रागद्वेषादिरूप कोई छिद्र न होनेसे विषयाभिलाष, कषाय आदि जलका प्रवेश नहीं हो सकता, ऐसे समाधिजहाजके द्वारा संसारसमुद्रको तिर चुके हैं, तथा इसीलिए अनेक भक्तोंके तिरनेके उपायभूत हैं, इसलिए तीर्थ हैं। निरुक्ति भी यही है—'तीर्यंते अनेनेति तीर्थम्।'

'तीर्यंते संसारसागरो येन तत्तीर्थम्' जिस भावसे संसारसागर तिरा जाय, वह भाव तीर्थ कहलाता है। वह भाव है ज्ञायकभाव। तन्मय होनेसे वर्द्धमान प्रभु भी तीर्थ हैं अथवा द्वादशांगवाणीका भी नाम तीर्थ है। उसके प्रणेता होनेसे आप भी तीर्थ हैं अथवा चारित्ररूप धर्मको भी तीर्थ कहते हैं। आप स्वयं सम्यक्चारित्ररूप होनेसे तीर्थ हैं अथवा जिनपूजनका नाम भी तीर्थ है, उसके विषयभूत होनेसे भी भगवान महावीर तीर्थ हैं अथवा तीर्थभूत पुरुषों को भी तीर्थ कहते हैं, उनके सेव्य होनेसे भगवान तीर्थ हैं अथवा निर्वाणक्षेत्रादिको भी तीर्थ कहते हैं। पावा तीर्थसे आपका निर्वाण हुआ, अतः भगवान भी उसके सम्बंधसे तीर्थ कहलाते हैं अथवा तीर्थ दर्शनको भी कहते हैं, उससे योग्य होनेसे आप भी तीर्थ हैं अथवा मुक्तिलक्ष्मी को भी तीर्थ कहते हैं, उसके साथ अभिन्न सम्बंध होनेसे आप भी तीर्थ कहलाते हैं अथवा तीर्थ पात्रको भी कहते हैं, सर्वोत्तम पात्र होनेसें वर्द्धमान स्वामी तीर्थ हैं। अवतारका नाम भी तीर्थ है, स्वर्गसे अवतरण करके जगदुद्धारक बनकर आप यहाँ आये, इसलिए तीर्थ हैं अथवा विशिष्ट जलको भी तीर्थ कहते हैं। आपने केवल ज्ञानरूप विशिष्ट जलमें अवगाहन कर स्वयं अपने कर्ममलको धोया और अनेक भव्य जीवोंने भी अपने कर्ममल धोये, अतः आप तीर्थ हैं अथवा तीर्थ नाम उपायका भी है, आपने मोक्षका उपाय (रत्नत्रय) बताया और स्वयं भी मोक्षके उपायभूत हुए, इसलिए भी आप तीर्थ हैं अथवा तीर्थ यज्ञको भी कहते हैं। आपका केवल ज्ञान स्वयं यज्ञरूप है, क्योंकि उसमें कर्म प्रकृतियाँ होती जाती हैं, इसलिए भी भगवान वर्द्धमान तीर्थ हैं।

जैसे तीर्थ यानी नदीका किनारा स्वयं जलरहित है और उसका आश्रय करने वाले भी जलके भयसे रहित हैं, इसी प्रकार आप स्वयं संसारके दुःखोंसे रहित हैं और आपकी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आराधना करने वाले भव्य जीव भी संसार-दुःख-सागरके भयसे रहित हैं।

योगियोंका योग—स्वामी अमृतचन्द्र कहते हैं—'योगिनां तीर्थत्वात् तारण-समर्थम्' योगियोंके आप तीर्थ हैं, अतएव तारणसमर्थ हैं। योगीका अर्थ है—'युनक्ति आत्मानं आत्मनि इति योगी।' जो अपनी आत्माको अपनी आत्मामें लगावे, सो योगी है। योगीके ऋषि, यति मुनि, संयत, वर्णी साधु आदि अनेक नाम हैं। ऋषि-ऋद्धि-सम्पन्न मुनिको कहते हैं। अथवा चैतन्य चमत्काररूप आत्मऋद्धिको जो प्राप्त हों, उन्हें ऋषि कहते हैं। यति—'यत्ने यत्नं करोति रत्नत्रये इति यतिः' अर्थात् जो सदा रत्नत्रयमें यत्न करे, उद्यमशील रहे, उसे यति कहते हैं। मुनि— 'मन्यते जानाति प्रत्यक्षप्रमाणेन चराचरं जगदिति मुनिः' अर्थात् जो प्रत्यक्ष प्रमाणसे चराचर जगत्को जाने, उसे मुनि कहते हैं। संयत—'सम्यक् यतते इति संयतः' अर्थात् जो सावधानी पूर्वक अपने कर्तव्यके पालनमें यत्न करते हैं, उसे संयत कहते हैं। साधु—'साधयति रत्नत्रयमिति साधुः' जो रत्नत्रयको साधन करे, आत्महितको साधे उसे साधु कहते हैं। वर्णी—'वर्णो रूपः स यस्यास्ति वर्णी' वर्णनाम-रूपका-स्वरूपका है, वह आत्म-स्वरूप जिन्हें प्राप्त हो गया है उन्हें वर्णी कहते हैं। ब्रह्मचारीको भी वर्णी कहते हैं। विशेष ज्ञानी और ज्ञायक-भावमें रमने वालेका नाम वर्णी है।

प्रभुकी तारकता—योगीके इन विभिन्न नामों और उनकी निरुक्तियोंके अर्थसे ही साधुकी चर्या ज्ञात हो जाती है। भगवान् महावीर ऐसे योगियोंके भी तीर्थ हैं क्योंकि उन्हें संसार-सागरसे पार उतारनेमें समर्थ हैं। भगवान् क्या हैं? ज्ञायक भावरूप हैं, चित्प्रकाश स्वरूप हैं। यद्यपि भगवान् किसीको तारते नहीं हैं, क्योंकि वे तो रागसे रहित हैं, तथापि जो भक्त उसका ध्यान करता है, वह स्वयं तिर जाता है। आ० कुमुदचन्द्र अपने कल्याण-मन्दिर स्तोत्रमें कहते हैं—त्वं तारको जिन कथं भविनां त एव त्वामुद्वहन्ति हृदयेन यदुत्त-रन्तः। यद्वा दृतिस्तरति यज्जलमेष नूनमन्तर्गतिस्य मरुतः स किल प्रभावः॥

अर्थात्—हे जिन भगवान्, तुम भव्यजीवोंके तारक—तारने वाले कैसे हो? नहीं हो। क्योंकि वे लोग ही तुम्हें हृदयमें धारणकर स्वयं जगत्से पार होते हुए तुम्हें भी पार कर ले जाते हैं। अथवा जलमें जो मशक तिरती है, वह उसके भीतर भरी हुई हवाका ही प्रभाव है। इसी प्रकार जो भक्त तुम्हें सदा हृदयमें धारण करते हैं, वे स्वयं ही जगसे पार हो जाते हैं। मशक आदमीको तिराता है कि आदमी मशकको तिराता है? वस्तुतः न मैं परमात्मा को उठाता हूं और न परमात्मा मुझे उठाता है। फिर भी जो भगवानका ध्यान करता है, वह स्वयं तिर जाता है। जिसके उपयोगमें ज्ञायकभावका बल आ जाता है वही सच्चा भक्त और वही संसार-सागरसे स्वयं पार हो जाता है। जैसे-जैसे हम भगवानका आश्रय लेकर अपने ज्ञायकभावको बढ़ाते हैं, वैसे-वैसे ही हम भगवान् को क्या उठाते हैं,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

स्वयं ऊपरको उठ जाते हैं। निजके भीतर रहने वाले ज्ञायकभावने निज अखंडरूप परमात्मा को उठा दिया। वस्तुतः न मैं परमात्माको उठाता हूं और न परमात्मा मुझे उठाता है।

संसारसागरतारक समाधिपोत—भगवान महावीर तीर्थ हैं, योगियोंके समुत्तारण करने वाले हैं। मैं संसारसमुद्रमें पड़ा हूं। यदि मैं भी उनके समीप पहुंच जाऊँगा तो तिर जाऊँगा—ऐसा व्यवहार है, पर यथार्थमें समाधिरूप जहाजके बिना कोई तिर नहीं सकता। समाधिपोतमें बैठकर लोग पार होते हैं। पर वह समाधिपोत खूब मजबूत होना चाहिए कि कषायोंकी चट्टानोंसे टकरानेपर भी न टूटे, विषयोंकी आंधी-तूफान आनेपर भी हिले-डुले नहीं। इसीको दूसरे शब्दोंमें यह कहा जाता है कि किसी भी कारणसे उसमें कोई छिद्र न होने पावे, जिससे कि विषयकषाय रूप जल उसमें प्रवेश न कर सकें। यदि तुम्हारे ज्ञायक भावमें विषयकषायरूप जल आ जायगा, तो वह भारी हो जायगा और डूब जायगा।

बर्द्धमान प्रभुकी शौर्य—भगवान महावीर बालब्रह्मचारी थे। तीस वर्षकी उम्रमें चढ़ती जवानीमें दीक्षा धारण कर ली थी। मनुष्य अपनी कमजोरीसे ही विषयसेवनके चक्करमें पड़ता है। जो ब्रह्मचर्यसे रहित हैं, उनकी न शारीरिक शक्ति बढ़ती है, न ज्ञान-शक्ति ही। फिर आत्मिक शक्ति तो बढ़ ही कैसे सकती है? मनुष्यकी पवित्रता ब्रह्मचर्यसे ही है। ब्रह्मचर्यके अभावसे वह सदा ही अपवित्र रहता है। भगवानने तो कामपर विजय पाई, उसे जलाया और राख लगाई शिवजीने। तो नाम फैल गया शिवजीका, कि काम को उन्होंने ही जलाया है। यदि सचमुचमें उन्होंने जलाया होता, तो अपने आधे शरीरमें पार्वतीको क्यों लिए फिरते और क्यों अर्धनारीश्वर कहलाते?

एक मनुष्य अपनी वीरताकी बहुत डींग मारा करता था और स्त्रीसे कहा करता कि मेरे बराबर शूर कोई नहीं? एक बार उसे एक युद्धमें जानेको कहा गया। युद्ध समाप्त होने पर जब घरको लौटने लगा, तो युद्धसे लोगोंकी टांगें काटकर अपने घर लाया और स्त्रीको दिखाकर कहने लगा कि देखो, मैं कितना वीर हूं। स्त्री बोली—यदि वीर थे, तो टांगें काटकर क्यों लाए, सिर काटकर लाए होते? वह बोला—पगली! यदि उनके सिर होते, तो मैं पैर ही कैसे काट पाता? स्त्री हंसकर बोली, तब तो तुम सचमुचमें बड़े शूर हो! दुनिया स्त्रियोंके साथ विषयसेवन करके ही अपनेको शूरवीर समझती है। पर जो शूरवीर होते हैं, वे संसारमें रहते समय तक युद्धादिमें शूरवीरता दिखाते हैं, और संसारसे विरक्त हो जानेपर परीषह और उपसर्ग सहन करने और आने वाले उपद्रवोंको जीतनेमें शूरवीरता दिखाते हैं और कर्मशत्रुओंको जलाकर सच्ची मोक्षलक्ष्मीके साथ रमण करते हैं। भगवान महावीर बाल ब्रह्मचारी थे। उस ब्रह्मचर्यकी महान ताकतके बलसे ही उन्होंने दुर्जय कामपर विजय पाई। देखो—महावीराष्टकमें स्तुतिकारने क्या कहा है? 'अनिर्वारोद्रे-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कस्त्रिभुवनजयी कामसुभटः, कुमारावस्थायामपि निजबलाद्येन विजितः । स्फुरन्नित्यानन्दप्रशम-पदराज्याय स जिनः, महावीर स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।।' अर्थात् जो कामरूपी सुभट महायोद्धा जिसने तीन जगत्को पछाड़कर अपने वशमें कर रखा है, अतएव जो त्रिभुवनजयी है, जिसका उद्रेक दुर्निवार है, उस महाबली कामसुभटको हे भगवन्, आपने कुमारावस्था में ही निज बलसे जीत डाला और जो स्फुरित होने वाले नित्य आनन्दस्वरूप प्रशमपदराज्य के पानेके लिए समर्थ हुए । वे महावीर स्वामी मेरे नयनपथगामी हों अर्थात् मुझे मुक्तिका मार्ग दिखावें ।

धर्मके कर्ता—अब 'धम्मस्स कत्तारं' पदका अर्थ किया जाता है—भगवान धर्मके कर्ता हैं, अर्थात् उसके उपदेष्टा हैं, उन्होंने सर्व प्रथम स्वयं धर्मका मार्ग स्वीकार किया और पीछे संसारको भी धर्मका, सन्मार्गका, कल्याणका, मोक्षका मार्ग दिखाया । पहले उन्होंने अपने सहज स्वाभाविक गुणोंका विकास किया, पीछे उसका उपदेश दिया, इस कारण वे धर्म के कर्ता कहलाते हैं । ऐसे उक्त विशेषण विशिष्ट भगवान महावीरको नमस्कार करता हूं ।

भगवान महावीरके बाद निर्वाण चले जानेके पश्चात् गौतम गणधर केवली हुए, उनके निर्वाण पाते ही सुधर्मास्वामी केवली हुए और उनके निर्वाण पाते ही जम्बूस्वामी केवली हुए । भगवान महावीरके पश्चात् ये तीनों ही केवली हुए हों, यह बात नहीं है, हुए तो अनेक केवली हैं, पर वे अनुबद्ध केवली हुए—गौतम आदि अनुबद्ध केवली हुए हैं अर्थात् एकके निर्वाण पाते ही दूसरेने तत्काल उसी दिन केवलज्ञान प्राप्त किया । उनके मध्यमें पीछे भी किसी परम्पराके बिना अनेकोंने केवलज्ञान पाया है, पर वे किसी अनवच्छिन्न गुरु शिष्य परम्परामें नहीं थे, एकके निर्वाण पाते ही दूसरे कोई उन्हींके शिष्यने केवलज्ञान नहीं पाया, इसलिए वे अनुबद्ध केवली हुए । उक्त तीन केवलियोंके पश्चात् पांच श्रुतकेवली क्रमशः हुए । उनके दिवंगत हो जानेके पश्चात् उसी परम्परामें अखण्ड प्रवाहरूपसे दशपूर्वधारी, एकादशांगधारी, आचारांगधारी आदि अनेक आचार्य होते रहे । इस प्रकार भगवान महावीरके ६८३ वर्ष तक तो अंगज्ञानकी परम्परा चलती रही, पीछे जब कालदोषसे अंग-पूर्वोंका ज्ञान लुप्त हो गया और अंग पूर्वोंके एक-एक देशका ज्ञान रह गया, उस समय एक आचार्य परम्परा में तो धरसेन आचार्य हुए । जिन्होंने भूतबलि और पुष्पदन्तको पढ़ाया और उन्होंने षट्खंडागमकी रचना की । लगभग इसी समयके दूसरी आचार्य-परम्परामें गुणधर आचार्य हुए, जिन्होंने पेज्ज-दोष-पाहुडका २३३ गाथाओंमें उपसंहार करके कषायपाहुडकी रचना की । इन दोनोंके कुछ आस-पास ही भगवान कुन्दकुन्द हुए, जिन्होंने अनेक पाहुड रचकर अध्यात्म श्रुत का संकलन किया और समयसार, प्रवचनसार जैसे ग्रन्थोंको रचकर अध्यात्मरसकी निर्मल धारा बहाई और अध्यात्मविद्याका प्रचार किया । इन्हीं आचार्योंकी परम्परामें आज तक अनेक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आचार्य हुए हैं जो अपनी वाणीके द्वारा, ग्रन्थ-रचनाके द्वारा आज तक बराबर भगवान महावीरसे प्रवाहित अमृत-जलको यहाँ तक बहाते हुए चले आ रहे हैं। इनके कथनोंमें कोई विरोध नहीं है यदि कहीं कोई विरुद्ध बातसी दिखती है तो वह विभिन्नता विवक्षामात्र ही समझना चाहिए। आत्मीय सत्य शाश्वत आनंद चाहते हो तब निज आत्माके सहज भावका अनुसंधान करो। यही बात यही कार्य अपूर्व है। ऐसा पवित्र अवसर यों ही नहीं खोना चाहिये। जगतके सारे काम आत्महित रूप नहीं। निजका सहज कार्य ही हितरूप है।

भोगोंकी असारता—इन लोगोंको सर्व भोगोपभोग आज तक मिले, उनको हमने भोगा, पर तृप्ति कुछ भी नहीं हुई, तो इनके पानेसे क्या लाभ हुआ? दो भाई थे, उनमेंसे बड़ा भाई मर गया। उसके मरनेकी चर्चा मित्रोंमें चली, लोगोंने पूछा—यार बताओ वह क्या-क्या काम करके मरा है? एक बोला—"क्या बतायें यार क्या कारोनुमायां कर गये? बी. ए. किया, नौकर हुए, पेंशन मिली और मर गये॥" यही हाल हम सबका है। हममेंसे किसी एकके मरने पर यदि कोई पूछे कि वह क्या-क्या काम कर गया—तो यही उत्तर होगा कि—"पैदा हुए, व्यापार सीखा, धन कमा बूढ़े हुए। बन्धु जनको सौंपकर धन, इस जगत से चल दिये॥" कोई कुछ भी करे, मरना तो सभीका निश्चित है। जब तक जीवन है तब तक कुछ भी कर लो, चाहे किसीको प्रसन्न रखनेका प्रयत्न करो, चाहे धन-वैभव बढ़ाओ और चाहे अन्याय करो, पर अन्तमें इसके साथ पाप पुण्यका संस्कार ही जायेगा और कुछ जाने वाला नहीं है।

दो मित्र थे, उनमेंसे एक बोला—देखो अपन लोगोंने सब काम हिल-मिलकर एक साथ किये हैं, यदि हमसे कभी आपका चित्त दुखा हो, या अविनय हुई हो तो क्षमा करना। तब दूसरा बोला—"यार मरते वक्त होगा एक बेअदबीका कार। आप तो पैदल चलोगे, हम जनाजे पर सवार॥" मृत्युका कोई भरोसा नहीं। हमारी आँखों देखी घटना है। हमारा एक साथी छज्जू था। हम दशलक्षणमें शास्त्र पढ़कर मन्दिरके बाहर बैठ गये। वह लघुशंका करने गया कि उसे सांपने डस लिया और देखते-देखते आध घंटेके भीतर ही उसकी मृत्यु हो गई। हम प्रतिदिन देखते और सुनते हैं कि कितने ही चलते-फिरते हार्टफेल होकर मर जाते हैं, परन्तु तृष्णा नहीं छूटती। तृष्णामें आकर हम निरन्तर धन कमानेमें ही लगे रहते हैं। यहां तक कि उपार्जन की हुई सम्पत्ति तकको भी भोगनेका अवसर नहीं मिलता, न चैनसे, आरामसे रह पाते हैं और हाय-हाय करते ही मर जाते हैं। धन कमानेमें इतनी तत्परता क्यों होती है। अरे, "पूत सपूत तो क्यों धन संचय? पूत कपूत तो क्यों धन संचय?" यदि तुम्हारा पुत्र सपूत है, तो वह स्वयं कमा खायगा और यदि कपूत है, तो तुम जितना भी कमाकर रख जाओगे, वह चार दिनमें उड़ाकर नष्ट कर देगा। इसलिए अपनी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भविष्यकी चिन्ता करो। धर्मसाधनके अनेक उपाय हैं–देवपूजा, स्वाध्याय, संयम, तप, दान आदि। यदि कोई इन कर्तव्योंके पालनमें ४ घंटे भी लगावे और अपने सहजभावका लक्ष्य बनाये रखे तो बेड़ा पार हो जाय।

व्यर्थका अहङ्कार—हमारे मनमें यह बात दृढ़रूपसे जम जानी चाहिए कि मेरा उत्थान और पतन मेरे हाथ है। मैं अपने कर्मोदयके आधीन परिणत होऊंगा और तुम लोग अपने कर्मोदयके अनुसार परिणत होओगे। अहंकार व्यर्थ है। देखो, लोग मानके लिए भी अपने घर बारको बर्बाद करते हैं। एक सुनारिन थी, गरीब थी, पतिसे लड़-भिड़कर उसने बघौरा (बाजूबन्द) बनवाये और पहनकर घरसे बाहर निकली, पर लोकलाजवश वह हाथको कपड़ेसे ही ढांककर निकली। न किसीने उसके उस आभूषणको देखा, न किसीने उसके विषयमें ही कुछ कहा। उसे इस बातका बड़ा दुःख हुआ और सोचने लगी–मैं क्या करूं जिससे कि लोग मेरे इस आभूषणको देख लेवें और उसकी तारीफ करें। जब कोई अन्य उपाय उसे समझमें नहीं आया, तब अन्तमें उसने यह सोचकर अपनी झोंपड़ीमें आग लगा दी कि बुझानेके समय तो लोगोंको इसके दिखानेका अवसर मिलेगा। जब लोग झोंपड़ी जलती देखकर बुझाने आये तो वह हाथ ऊँचे करके चिल्लाने लगी—अरे, वहां बाल्टी रखी है, वहाँ रस्सी रखी है, पानी इधर है, कुंआ उधर है आदि। इतनेमें एक पड़ोसिनने उसके हाथका आभूषण देख लिया, बोली—जीजी! ये कब बनवाये थे? वह सुनारिन झल्लाकर बोली—रांड, पहले ही पूछ लेती, तो ये झोंपड़ी काहेको जलती? भाइयो, यही हमारा हाल है, हम लोग दुनियाके झूठे अभिमानके प्रदर्शनार्थ बरबाद होते हैं। जो अभिमान रखता है, वह अपने आपको ही बरबाद करता है, अतः हमें मानका स्तीफा दे देना चाहिए। कषायों का स्तीफा दे दो, कह दो कि मैंने संसारका स्वरूप जान लिया है। अब हमारे भीतर तुम्हें रहनेका अवकाश नहीं है, अतः चले जाओ। जब हमें क्रोध आवे, तो गाल फुलाकर मौन ग्रहण कर रह जाना चाहिए, कितने ही लोग यह उपाय बताते हैं परन्तु ऐसे गाड़ी कब तक ढिकलेगी? कषायोंके नष्ट करनेका यही उपाय है कि क्रोधावेशके समय हम अपने अनाद्यनन्त ज्ञायकभावका विचार करें। तथा जब क्रोधादिका निमित्त न हो तब और भी अधिक तत्परता के साथ स्वमें स्थिर रहनेका प्रयत्न करें। जो अपने आपमें स्थिर रहते हैं, परकी नहीं सुनते हैं, उन्हें उपसर्ग आदिके आनेपर, दूसरोंके गाली आदिके देनेपर उसका भान ही नहीं होता और वे उस परीषह या उपसर्गको सहज भावमें सहन कर लेते हैं। भैया! अब तो भेदविज्ञान करके रागमोहके विनाशमें उद्यमी होओ। रागकी चालें बदल दो और नहीं तो राग न छूटे तो ऐसा ही किया करें। आप लोग जो धर्मकी बात यहाँ सुनें, उसे घर जाकर अपनी पत्नीको, पुत्रोंको व बड़ोंको भी सुनावें, उसमें भी धार्मिक भाव और वैराग्य जागृत करें, इससे आपको भी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

परिवारकी ओरसे धर्ममें बाधा न आवेगी।

धर्मकी दृष्टि—'धम्मस्स कत्तारं' ये प्रभु धर्मके कर्ता हैं क्योंकि समस्त रागीपरागसे रहित जो निजशुद्धात्मप्रवर्तनरूप निश्चयधर्म उस अपने स्वभावमय निज धर्मके उपादान कारण हैं तथा अन्य जीवोंको धर्मका उपदेश देनेसे शुद्ध भावनाके विषय होनेसे अलौकिक निमित्त कारण है। आत्मरूपकी सम्हाल ही धर्म है और विषयकषाय रूप प्रवृत्तिको ही अधर्म कहते हैं। इसलिए पं० दौलतराम जी ने कहा है:—आतमके अहित विषयकषाय। इनमें मेरी परिणति न जाय॥ मैं रहूं आपमें आप लीन। सो करहुं होहुं ज्यों निजाधीन॥ हे भगवन्! मेरे आत्माके अहित करने वाले ये विषयकषाय हैं, अतएव मेरी इनमें परिणति न जावे। इस पूर्वार्द्धसे स्तुतिकारने अधर्मका स्वरूप बताकर उससे निवृत्तिकी भावना की है, और उत्तरार्द्धके द्वारा धर्मका स्वरूप बताया है कि मैं अपने आपमें सदा लीन रहूं। हे भगवन्! निज शुद्धात्मन्, यदि आप सचमुचमें भक्तोंके तारने वाले हैं, तो ऐसा उपाय कर लो कि जिससे मैं निजाधीन स्वाधीन बन जाऊँ। भक्तको यही भावना करनी चाहिए कि मैं कब स्वाधीन बनूँ। वास्तवमें देखा जाय, तो कोई मेरा कल्याण या अकल्याण नहीं करता। मेरा समताभाव ही कल्याण है और ममताभाव ही अकल्याण है, जगतके प्राणियोंको ममताका परिचय तो खूब है परन्तु समताका परिचय कठिन है।

मोहमें निज एकत्वकी असुलभता—देखो तो भैया! निजकी चीज कैसी कठिन बना रखी है? समयसारमें भगवान कुन्दकुन्दने कहा है:—'सुद परिचिदाणुभूदा सव्वस्सवि कामभोगबंधकहा' एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स॥ अर्थात् सर्व ही लोगोंको कामभोग विषयक बन्धकी कथा तो सुननेमें आई, परिचयमें आई और अनुभवमें आई है, इसलिए सुलभ है। किन्तु केवल भिन्न आत्माका एकपना कभी न सुना, न परिचयमें आया और न अनुभवमें आया। इसलिए एक यही सुलभ नहीं है। इसकी टीका करते हुए अमृतचन्द्र सूरि कहते हैं:—

इह सकलस्यापि जीवलोकस्य संसारचक्रक्रोडाधिरोपितस्याश्रान्तमनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभवभावपरावर्तैः समुपक्रान्तभ्रान्तेरेकच्छत्रीकृतविश्वतया महता मोहग्रहेण गोरिव बाह्यमानस्य प्रसभोज्जृम्भिततृष्णातंकत्वेन व्यक्तान्तराधेरुत्तम्योत्तम्य मृगतृष्णायमानं विषयग्राममुपरुंधानस्य परस्परमाचार्यत्वमाचरतोऽनन्तशः श्रुतपूर्वानन्तशः परिचितपूर्वानन्तशोऽनुभूतपूर्वा चैकत्व विरुद्धत्वेनात्यन्तविसंवादिन्यपि कामभोगानुबद्धा कथा। इदं तु नित्यव्यक्ततयान्तः प्रकाशमानमपि कषायचक्रेण सहैकीक्रियमाणत्वादत्यन्ततिरोभूतं सत्स्वस्यानात्मज्ञतया परेषात्मज्ञानामनुपासनाच्च न कदाचिदपि श्रुतपूर्वं, न कदाचिदपि परिचितपूर्वं, न कदाचिदप्यनुभूतपूर्वं च निर्मलविवेकालोकविविक्तं केवलमेकत्वं। अत एकत्वस्य न सुलभत्वम्॥४॥

जितना भी संसारी जीवलोक है, वह संसार-चक्रके बीचमें बैठा हुआ है। कुम्हारका

Version 1

चक्र लोहेकी कीलपर घूमता है और यह संसारका चक्र रागद्वेषकी कीलपर घूमता है। अनादिकालसे निरन्तर घूमनेके कारण यह बहुत थका हुआ है। इस जीवलोकने अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव परिवर्तन किये हैं, उनसे इसे महाभ्रान्ति उत्पन्न हुई है। ये जीव मोहवश विश्वकी विभूतिको इकट्ठा करना चाहता है, सर्व विश्वपर साम्राज्य करना चाहता है, इसी चाहकी व्यग्रतासे पीड़ित है, सो महामोह-पिशाचके वशीभूत होकर यद्वा-तद्वा कार्य करता है। कोल्हूके बैलकी तरह संसारके कार्योंमें जुत रहा है। देखो—जैसे कोल्हूका बैल आंखोंसे पट्टी बांधकर कोल्हूके इर्दगिर्द चक्करसे निरंतर घूमता रहता है। यदि उसकी आँखोंपर पट्टी न हो या पट्टी होनेपर भी किसी निमित्तसे यह ज्ञात हो जाय कि मैं यहींका यहीं गोल चक्कर काट रहा हूं, तो फौरन चक्कर खाकर गिर जाय, इसी प्रकार संसारी जन भी रागद्वेषके निमित्तसे सभी पुत्र, धनादिके इर्द-गिर्द निरन्तर चक्कर काटते रहते हैं और जानते हैं कि मैं तो बिल्कुल सीधी चाल चल रहा हूं। मनुष्यकी दैनिक चर्या भी कोल्हूके ही समान है। भ्रमी का जब तक भ्रम नहीं निकलता, तब तक वह निर्भ्रान्ति नहीं होता, भ्रममें ही पड़ा रहता है। यही हाल इस संसारी जीवका है। वह भी स्त्री आदिके गुणगान करता हुआ उसके चारों ओर चक्कर काटता रहता है। जिसके मनमें अपनी स्त्री बसी हो, वह दुनियाकी सब स्त्रियों को अपनीसे नीची समझता है। इस प्रकार ये मोही जीव अपने विपरीताभिनिवशरूप कदाग्रह से परमें रति मानकर किसीको भला और किसीको बुरा समझकर ८४ लाख योनियों और १९७॥ लाख कोटि कुलोंमें परिभ्रमण करता रहता है। जिस धर्मभावके बिना संसारी जीवों की यह दुर्दशा हो रही है, उस ही प्रतितोद्धारक धर्मके प्रवर्तक भगवान वर्द्धमान स्वामी हैं। उनके उपदिष्ट धर्मका जो कि सबकी आत्मामें स्वतः शक्तिरूपसे विद्यमान है उसका जो पालन करेगा, वह दुःखसागरसे अवश्य पार हो जायगा। देखो—मनुष्यभव बहुत दुर्लभ है। यदि इसमें ऐसा ही चक्कर काटते रहे तो मनुष्यभव पानेका क्या लाभ हुआ?

महामोहग्रहकी पीड़ा—ये संसारी जीव महामोहग्रहसे दुःखी हैं। इन्हें बड़ी वेगवती तृष्णा लग रही है। उससे अन्तरंगमें नाना संकल्प विकल्प होते हैं और उनसे यह निरन्तर दुःखी रहता है। एक कथा है कि दो भाई घरसे धन कमानेके लिए विदेश गये। वहाँ उन्होंने खूब धन कमाया और वापिस देशको लौटते समय सोचा कि इतना धन साथमें ले जानेमें भारी झंझट होगा। अतः एक लाख रुपयोंका एक नीलमणि खरीद लिया और देशको वापिस हुए। जब उनका जहाज़ समुद्रके बीच जाता था, तो बड़े भाईके मनमें विकल्प उत्पन्न हुआ कि सारा धन कमानेका उपक्रम तो मैंने किया है। इसलिये इस मणिको पानेका एकमात्र मुझे ही अधिकार है, क्यों न इस छोटे भाईको यहीं समुद्रमें धकेल दूं, जिससे सम्पत्ति बाँटनेका झगड़ा ही समाप्त हो जाय। कुछ देरके पश्चात् उसे विचार आया—अरे मैंने यह कितना बुरा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

विचार किया है ? यह मेरा छोटा भाई है, मुझे लक्ष्मणकी तरह अधिक प्यार करता है और मैं इस मणिके लोभमें उसे ही मारना चाहता हूं। इससे तो अच्छा यही है कि मैं यह मणि छोटे भैयाको ही दे दूं, जिससे मेरे हृदयमें ऐसी बुरी भावना फिर न उठे। यह सोचकर वह मणि छोटे भैयाको देने लगा। उसने कहा—भाई, इसे तुम अपने ही पास रखो, आप तो मेरे बड़े हैं, आपको ही यह शोभा देता है। इससे तुम्हीं रखो। बड़ा भाई बोला—नहीं भैया, मैं तो केवल कहता ही रहा हूं, सारा धन तो तुम्हींने कमाया है इसलिए तुम्हीं इसे अपने पास रखो। यह कहकर उसने वह मणि दे दिया। उसे पाकर उसका भी भाव बिगड़ गया। सोचने लगा—हां बात तो ठीक है, धन कमानेका परिश्रम तो मैंने ही किया है, मैं ही इसे रखनेका सच्चा अधिकारी हूं। आगे घर जाकर इसे बांटना न पड़े, इससे बड़े भाईको यहीं खत्म कर देना चाहिए। फिर उसके विचार आया—अरे, मैं यह कितनी बुरी बात सोच रहा हूं, जो भैया मुझे इतना प्यार करता है, उसके लिए मेरे हृदयमें ऐसा पाप उत्पन्न हो रहा है, मैं बहुत नीच हूँ। इस मणिको अपने पास नहीं रखूँगा, यह सोचकर उसने वह मणि बड़े भाईको ही वापिस दे दिया। बड़े भाईने जब उसका कारण पूछा तो उसने कह दिया। दोनों जब घर आये तो उन्होंने सोचा कि यह मणि अपनी छोटी बहिनको दे देना चाहिए, जिससे वह सुखी रहे और हम लोग भी इन बुरे विकल्पोंसे बचे रहें। ऐसा सोचकर दोनों भाइयोंने वह मणि अपनी बहिनको दे दी। मणि पाकर बहिनके भी बुरे भाव हुए और सोचने लगी कि आज तो दोनों भाई मुझे प्यार करते हैं सो यह मणि मुझे दिया है, पर एक न एक दिन यह अवश्य मुझसे वापिस ले लेंगे। अच्छा तो यही है कि किसी प्रकार इन दोनों भाइयोंका अन्त कर दिया जाय। फिर विचार आया—अरे मैं कितना बुरा विचार कर रही हूं, जो भाई मुझे इतना प्यार करते हैं कि वर्षोंके परिश्रमसे उपार्जित यह मणि मुझे दिया और मैं पापिनी उनके ही मारनेकी सोच रही हूं। वह उठी और भाइयोंको मणि देकर बोली—भाइयों, यह मणि तुम अपने ही पास रखो। इसे हाथमें लेते ही मेरे तो भाव बिगड़ गये हैं। भाइयोंने सोचा—चलो इसे माताको दे देवें। वह तो हमारी सब तरहसे हितचिन्तक है। जाकर मणि माताको दे दिया। उसे लेनेके बाद उसके भी भाव बिगड़ गये। तब उसने दोनों पुत्रोंको बुलाकर कहा—अरे, तुम लोग यह क्या कमाई कर लाये, जो इसे हाथमें लेता है, उसके ही भाव बिगड़ जाते हैं। माताने कहा—जाओ इस मणिको समुद्रमें फेंक आओ, इससे तो हम गरीब ही अच्छे, जो परस्पर प्रेमसे तो रहते थे। अन्तमें मणि समुद्रमें फेंक दी गई। भाइयों, इस लक्ष्मीका निमित्त स्वभाव ही ऐसा है कि जिसके पास यह जाती है, उसीके भाव बुरे हो जाते हैं। इसलिए धनादिसे मूर्च्छा छोड़ो। उससे हमारा कुछ भी हित नहीं होने वाला है।

http://sahjanandvarnishastra.org/

तृष्णाके फंसावका फैलाव—अन्तरंगमें तृष्णाके होनेपर यह प्राणी बार-बार बाहर उचकता है और मृगतृष्णाके समान इन पांचों इन्द्रियोंके विषयग्राममें ही फंसकर परस्पर एक दूसरेका आचार्य बन रहा है। इस प्रकार संसारके इन प्राणियोंने कामभोग सम्बंधी कथा अनन्त बार सुनी, अनन्त बार परिचयमें की और अनन्त बार ही भोगी। पर इससे हमें कभी विरक्ति नहीं हुई और न अन्तरंगमें विराजमान चैतन्य भगवानको जो आज गरीब बनाया जा रहा है, समझनेका प्रयत्न किया। समझ जाय तो खुद प्रभु हो जाय। देखो प्रद्युम्नको वैराग्य जागृत हुआ और अपनी स्त्रियोंके पास जाकर बोले—मुझे संसारसे विरक्ति हो गई है, अतः दीक्षा लेने जा रहा हूं। स्त्रियां बोलीं—अभी वैराग्य प्रगट नहीं हुआ। यदि सचमुच वैराग्य प्रगट हो गया तो यहाँ हमसे कहने नहीं आते, सीधे वनको चले जाते। तो तुम जाओ या नहीं, मैं तो ये चली। ऐसा कहकर भगवान् नेमिनाथके समवशरणमें चली गई और वह राजमतीसे दीक्षित हो गई। जब अन्तःकरणमें विरक्ति पूर्णरूपसे जग जाती है, तब वह इससे उससे पूछनेकी परवाह नहीं करता।

भैया ! आत्माके निर्मल परिणामोंमें ही शान्ति मिलेगी। आत्माके ज्ञायकभावके बिना अन्यत्र कहीं भी शान्ति नहीं मिलेगी। पर हम स्वयं विषयोंमें उलझे रहते हैं और दूसरोंको विषयोंमें चलानेके लिए आचार्य बनते हैं। विषयभोगकी कथा अनन्त बार सुनी, परिचयमें आई और भोगी है, अतः बुरे कार्योंमें मनुष्यकी प्रवृत्ति स्वतः होती है और यदि परोपदेशादि का निमित्त मिल जाय, तो कहना ही क्या है ? पर आत्मस्वरूपकी कथा न पहले कभी सुनी, न परिचयमें आई और न अनुभव ही की, अतः वह जल्दीसे गले नहीं उतरती है।

निराकुलताका साधकतम निजस्वरूपका अनुभव—यदि एक बार भी आत्माका अनुभव हो जाय तो फिर इसकी परिणति हो और की और हो जाय। जैसे गणितके सवालका सही उत्तर सबका एक ही होगा, किन्तु गलत उत्तर सबका भिन्न-भिन्न होता है इसी प्रकार धर्मका अनुभव सबको एकसा ही होता है। पर विषयकषायोंका अनुभव भिन्न-भिन्न ही होता है, इसी कारण यह कथा अत्यन्त विसंवादिनी विसंवाद करने वाली है अथवा किसी भी पर्यायरूप द्वैतकी कथा आपदा है। दुनियाके लोग मेरे जाननेमें नहीं आते तो मत आओ, एक मात्र मेरा ज्ञानस्वभाव मेरेमें रहो, यही हितकारी है। जिसके एक पुत्र होता है उसे धन, मकान आदिकी अधिक चिन्ता नहीं होती। किन्तु जिसके ४ पुत्र होते हैं उसे अधिक चिन्ता होती है। इसी प्रकार जो केवल एक ज्ञायकभावपर दृष्टि रखता है, वह सदा निराकुल रहता है, किन्तु जो विषयोंपर दृष्टि रखता है, वह सदा आकुल-व्याकुल रहता है। आत्माके एक स्वरूप रहने तक कोई विसंवाद नहीं। अनेकरूप होनेपर ही विसंवाद खड़ा होता है।

यह सत्रूप एकत्व घट-घटमें विराजमान है। सर्व जीव सिद्धोंके समान अनन्त शक्ति

Report any errors at vikasnd@gmail.com

वाले हैं। जो जीवत्व सिद्धमें है, वह मेरेमें भी है। यह कथन शक्तिकी अपेक्षासे है, व्यक्तिकी अपेक्षासे नहीं। द्रव्यत्वसे दोनोंमें भेद नहीं, समानता है। हम तृष्णालु होकर दुःखी हो रहे हैं। ज्ञानियोंके लिए यह चैतन्य एकत्व सदा प्रकाशमान है। निगोदियों तकमें भी चैतन्यका एकत्व प्रकाश एक ही है। ज्ञानियोंको यह दिखता है, अज्ञानियोंको नहीं। ज्ञानीकी दृष्टि द्रव्य पर रहती है, अज्ञानीकी दृष्टि पर्यायपर रहती है। ये संसारी प्राणी कषायरूप स्थितिको समझने नहीं पाता। कषायचक्रके साथ एकमेक हो रहा है और समझ रहा है कि जो कषायमें है, वह भी मैं एक ही हूं। पर वास्तवमें मेरा शुद्ध एक ज्ञान चैतन्य ढक रहा है, अव्यक्त हो रहा है, किन्तु ज्ञानमें प्रकाशमान है, ऐसा विरले ही समझते हैं। अज्ञानी जन प्रथम तो अपने ज्ञायकभावको स्वयं जानते नहीं हैं। फिर यदि कोई समझावे, तो वे समझते नहीं हैं, ज्ञानियोंकी संगति नहीं करते हैं। अतः स्वस्वभावकी कथा न सुननेमें आई, न परिचय और अनुभवमें आई। इस एकत्वकी कथा समयसारमें विस्तृतरूपसे वर्णित की गई है।

अजानकारी व अमानकारीकी व्याधि—आज गुरु पूर्णिमा है। हमें हमारे गुरु (श्रद्धेय श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी न्यायाचार्य) का बार-बार स्मरण आ रहा है, क्योंकि उनका हमपर असीम उपकार है। इस समय उनकी आंखों देखी और उनके द्वारा सुनाई गई सच्ची कथा याद आ रही है। बनारसमें एक मुसलमान था, जो बोलनेमें बहुत होशियार था। वह जहाँ कहीं भी रास्तेपर खड़ा हो जाता, और जिस जातिके लोग उधरसे निकलते देखता, उन्हें ही लक्ष्य करके वह अपना व्याख्यान झाड़ने लगता। एक बार उधरसे बहुतसे जैनी जा रहे थे। वह तुरन्त उन्हे लक्ष्य करके कहने लगा—सारी दुनियाके मनुष्योंमें तो ७२ ही कलाएं होती हैं, पर जैनियोंमें ७४ कलाएं होती हैं। लोग उसकी यह बात सुनकर उसके पास खड़े हो गये और पूछने लगे—भाई दो कलाएं कौनसी अधिक होती हैं? वह बोला—सुनो, एक तो ये लोग खुद जानना नहीं चाहते, यह एक कला अधिक है और दूसरी यह कि कोई इन्हें बतावे तो मानना नहीं चाहते। ये दो कला अधिक हैं। भाई, यही हाल सभी संसारी जीवों का है। वे प्रथम तो आत्महितकी बात स्वयं जानते नहीं, और यदि कोई बतावे, तो वे उसे मानते नहीं हैं। जैनधर्म तो संसारके समस्त प्राणियोंके साथ प्रेम बढ़ाने वाला (अविरोध रखने वाला) है। पर हमने उसे समझा नहीं, माना नहीं। अतः वह आज हास्यास्पद हो रहा है।

वर्द्धमान प्रभुको प्रणाम—परमभट्टारक, देवाधिदेव, सुगृहीत नामधेय श्री वर्द्धमान स्वामीको 'एष अहं प्रणमामि।' यह मैं कुन्दकुन्द प्रणाम करता हूं। छठे सातवें गुणस्थानमें झूलने वाले श्री कुन्दकुन्द स्वामी जी की आन्तरिक परिणतिका पता उनके 'एष अहं' पदसे ध्वनित होता है। जो प्रणाम करता है, वह मैं नहीं, और जो मैं हूं वह प्रणाम नहीं कर सकता। परन्तु यह निमित्तनैमित्तिक भावकी विशेषता है। यहां श्रीमद्भगवत् कुन्दकुन्द स्वामी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ने जिन विशेषणोंसे नमस्कार किया है वे बहुत ही प्रयोजन और रहस्यको लिये हैं। उपाय उपेय उद्देश्यविधान सब ही तत्त्व इसमें गर्भित हैं, जिनसे हमें सरल शब्दोंमें यह सीख मिलती है कि वर्द्धमान स्वामी सर्व गुरु हैं, जगतका अनुग्रह करनेका अनन्त सामर्थ्य इनमें है, संसार-सागरमें डूबते हुओंको पार करनेके लिये यह तीर्थ हैं, धर्मके कर्ता हैं, अतएव अपने सर्व प्रयो-जन—जहां फिर कोई प्रयोजन शेष न रहे, इनके निर्देशके अनुकूल अपने प्रवर्तनमें ही सिद्ध होते हैं, सो हे दुःखमोक्षार्थी भावुक जन ! इनके तीर्थका शरण लेकर बहुमानपूर्वक आगमका अभ्यास करके समस्त पर-अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य, असंख्यात कालाणु—इनके गुणपर्यायसे अत्यन्त भिन्न परोपाधिज रागादि भावक कर्मसे पृथक् शुद्ध अन्तस्तत्त्वकी भावना रूप एकदेश शुद्धपर्यायसे असंकुचित, सर्व देश पूर्ण शुद्ध पर्यायसे अविशेषित निज दर्शन ज्ञान सामान्य स्वरूप अहंका दर्शन करते हुए सर्व क्लेश जाल के बन्धनसे रहित होओ।

पहिली गाथामें भगवान महावीर स्वामीको प्रणाम करके अब द्वितीय गाथामें शेष सर्व पूज्य आत्माओंको नमस्कार करते हैं—

सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे॥

शेष तीर्थङ्करोंको प्रणाम—विशुद्ध सत्ता वाले या विशुद्ध सद्भाव वाले शेषके तीर्थंकरोंको, तीर्थंकरोंको ही नहीं, सर्वसिद्धोंकर सहित तीर्थंकरोंको नमस्कार करता हूं। विशुद्ध सद्भावके मायने यह हैं कि जिनके द्रव्यमें अन्य द्रव्यमल नहीं रहा। द्रव्य तो स्वरूपसे ऐसा ही एकाकी है परन्तु अपने अज्ञान-भ्रमके कारण अपना विभाव द्रव्य कर्म आदि मलसे मलीन होता आया है उस दुर्दशाके मेटनेका मूलमन्त्र भ्रमका नाश है। ये शेषके तीर्थनायक अर्थात् वृषभको आदि लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त २३ तीर्थंकर और सर्वसिद्ध कैसे हैं कि विशुद्ध सद्भाव होनेसे अंतिम पाकपर उतरे हुए सुवर्णकी तरह शुद्ध दर्शन ज्ञानस्वभाव वाले हैं। यहां आत्मा के अनुजीवी गुणोंपर दृष्टि है, जिस अपेक्षासे तीर्थनायक और सर्वसिद्ध एक ही विशेषणसे विशेषित हैं। इस ही भावकी दृष्टि लिये हुए ग्रंथकार किन्हें पहिले नमस्कार करें, किसे पश्चात् ? न तो यह विकल्प ही था और न ऐसी चेष्टा हुई जो "ससव्वसिद्धे सेसे तित्थयरे" इस पद-न्याससे प्रकट है अर्थात् सर्वसिद्धोंकर सहित शेष तीर्थंकरोंको नमस्कार करता हूं। यहां शेष पदसे २३ तीर्थंकर विवक्षित हैं क्योंकि पहिली गाथामें प्रवर्तमान तीर्थनायक श्री महावीर भग-वानको वंदना की है। उस सम्बन्धके कारण यहाँ २३ तीर्थंकर विवक्षित हैं। तब शेष अतीत सब तीर्थंकरोंको सिद्धोंमें अन्तर्गत करके नमस्कार किया है। यद्यपि वर्तमान २४ तीर्थंकर भी वर्तमानमें सिद्ध ही हैं, फिर भी तीर्थप्रवर्तनाके कारण उन्हें पृथक् नमस्कार किया है। उनकी

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उपदेश-परम्पराका हमपर महान् उपकार है।

विशुद्ध सद्भावता—यहाँ विशुद्ध सद्भावान् शब्दसे यह विवक्षित है वे सिद्ध प्रभु पर्याय से भी शुद्ध हैं, द्रव्यसे तो सभी सत् विशुद्ध हैं। परमाणु परमाणुकी सत्ता न्यारी-न्यारी है। यह निर्मल पर्याय कैसे प्रगट होती है? इसका उत्तर टीकाकारके मंगलाचरणमें भी है कि "स्वोपलब्धि प्रसिद्धाय" अनादि अनन्त एकस्वरूप चैतन्य भावमय निज आत्माकी उपलब्धिसे परमात्मा प्रसिद्ध है, निष्पन्न है। जो शक्तिमें था वह व्यक्तिपर्यायमें भी आ गया। जैसे सिद्ध प्रभु गुणशाली है वैसा मैं भी हूं। क्योंकि जो सिद्धिमें गुण हैं, शक्ति हैं वे मुझमें भी हैं और जो मुझमें शक्तियाँ नहीं हैं वह सिद्धोंमें नहीं हो सकेंगी। कारण कि चेतन तत्त्व समान ही है। अहो ऐसी अपूर्व महिमायुक्त होकर भी विषयकषायके कीचड़ चिथड़ोंमें यह हम आप चैतन्य भगवान विश्राम करके सुखी होना चाहता है? सुखका उपाय द्रव्यदृष्टिकी दृढ़ता बिना असंभव है। निर्मल आत्मतत्त्वकी उपलब्धि होनेपर ही निर्मल पर्याय प्रकट होती है। दृष्टिमें तो विकारी पर्याय रहे अथवा कुछ भी क्षणिक तत्त्व रहे और निर्मलता प्रकट होना असम्भव है। एक आत्मदृष्टिका प्रबल प्रोग्राम बनाओ। यहाँ कुन्दकुन्द स्वामीके विनयको देखो—पहिले उपकारक तीर्थके साक्षात् प्रवर्तक होनेसे वर्द्धमान स्वामीको नमस्कार करके जब आगे नमस्कार करने चले तो कहते हैं "ससव्वसिद्धे सेसे तित्थयरे" द्रव्यदृष्टिके दृढ़ कर्मठ योगीकी व्यवहार-प्रवृत्ति कितनी गुणग्राहिणी है। लोकमें भी तो निष्पक्ष अध्यापक जब किसी कारणसे कक्षासे छात्रोंको बुलाता है तब यही तो कहता है कि सर्व छात्रों सहित फलाने आवो।

यशपिशाचका परिहार व स्वरूपका उपादान—आज जनसाधारणके परमोपकारी तीर्थंकर देवोंका परिचय नहीं है परन्तु ज्ञानीके तो वे आराध्य हैं। उनके नैर्मल्य और मार्गकी उत्कृष्टता देख प्रमोदभावमें स्नान करते हैं। देखो, परमपूज्य आराध्य तीर्थंकरोंका भी लोकों की अपेक्षा यश न रहा तो भाइयो! किसका यश कब तक रहता है, यश पिशाचका मोह छोड़ो। अतीत तीर्थंकरोंकी तो बात जाने दो, किसे याद हैं उनके क्या नाम थे परन्तु वर्तमान तीर्थंकरोंमें लोक किस किसका नाम स्मरण रखते? इन प्रभु देवोंका कैसा निष्पक्ष उपदेश है कि प्राणियों! कल्याण चाहते हो तो सर्व राग छोड़ो, मेरा भी राग छोड़ो।

अपने भीतर रहने वाला, इन्द्रिय मनसे परे उनसे अगोचर जो सामान्य तत्त्व है, वह वस्तुमें त्रिकाल अबाधित रहता है। भूतकालमें भी उसकी उपस्थिति थी, आज भी हो रही है और आगामी कालमें भी होती रहेगी। इसलिए उस एक त्रिकाल अबाधित चैतन्यभावके पाने का प्रयत्न करो। एक कथा है कि किसी देशका राजा दूसरे देशपर चढ़ाई करने गया। वहाँसे उसने अपनी रानियोंको पत्र लिखा कि जिसे जो-जो चीज चाहिए, सो लिखो, हम आते समय लेते आयेंगे। राजाके अनेक रानियां थीं। किसीने हार लानेको लिखा, किसीने बनारसी साड़ी

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लानेको लिखा, किसीने कुछ लानेको और किसीने कुछ लानेको लिखा। एक रानीने कोरे कागजपर १ एकका अंक लिखकर और पत्र लिफाफेमें रखकर भेज दिया। राजाने सबके पत्र पढ़े और सबकी मनोवांछित चीजें मंगवा लीं। मगर इस रानीका पत्र दीवानको दिया कि इसका क्या मतलब है ? दीवान चतुर था, बोला—महाराज ! इसका संकेत है कि मुझे और कुछ नहीं चाहिए, केवल एकमात्र आप ही चाहिएँ। राजा सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ। वापिस लौटनेपर जिसने जो चीज मंगाई थी, वह तो उसके पास भेजी और स्वयं उस १ का अंक लिखने वाली रानीके यहाँ बहुतसे वस्त्र भूषणादि लेकर चला गया। भाई, जिसके पास राजा चला गया, उसके कमी ही किस बातकी रह गई ? इसी प्रकार जो बाहरी इन छोटी मोटी सम्पदाओंके पानेका प्रयत्न न करके एक चैतन्य प्रभुको प्राप्त करनेका प्रयत्न करते हैं उन्हें सभी सच्ची विभूतियां स्वयमेव प्राप्त हो जाती हैं। अतएव अपने एक चैतन्य विज्ञानघनमें लीन हो जाओ और सदा यही भावना करते रहना चाहिए कि मेरी एकमात्र ज्ञायकदृष्टि मजबूत बनी रहे।

धर्मके लिये सर्वस्व समर्पण—जितने भी नेता लोग हुए हैं उन्होंने अपने जीवनमें संकटोंको, बड़ी-बड़ी यातनाओंको सहा, तभी वे देशके नेता बन सके। गांधी जी के ऊपर कितनी आपदाएं आईं विदेशमें। अफ्रीकामें विदेशियोंने उनके ऊपर विष्टा तक फेंका, पर कभी उनके मनमें विपक्षियोंके प्रति दुर्भाव पैदा नहीं हुआ। तब कहीं जाकर वे देशके नेता और महात्मा बन सके। धर्मके नेता बननेके लिए किसी बाहरी पदार्थपर विजय नहीं पाना है, अपने भीतर बन रहे रागादि विकार भावोंपर ही विजय पाना है। अकलंक और निकलंक का बलिदान हमारे सामने एक आदर्श है कि अपने धर्मकी प्रभावनाके लिए निकलंकने अपने प्राण हंसते-हंसते न्यौछावर कर दिये। लोग शायद निकलंकके त्यागको बड़ा समझते हैं, पर मेरी दृष्टिमें अकलंकका त्याग उनसे भी कहीं बहुत अधिक है। जब उन्होंने अपने सामने अपने छोटे भाईका सिर कटते देखा होगा, तो उनके दिलपर क्या बीती होगी ? पर वे बौद्धोंसे उसका बदला खूनके रूपमें लेनेको कभी कृतसंकल्प नहीं हुए। उनके भीतर जो कारुण्य जाग रहा था कि ये सारा जगत इन नैरात्मवादियोंसे शासित होकर नास्तिक बना जा रहा है वह कैसे सुमार्गपर स्थित रह सके ? इसलिए छोटे भाईके बलिदानका स्मरण होते हुए भी, अपने भाईके बदला लेनेका कभी भाव जागृत नहीं हुआ, अपने कषायभावोंपर पहिले उन्होंने विजय पाई, पीछे बौद्धोंके ऊपर विजय पाई। यदि वे पहिले अपने कषायभावोंपर विजय न पाते, तो निश्चयतः वे बौद्धोंके ऊपर भी विजय नहीं पा पाते। क्योंकि कषायोंकी तीव्रतासे ज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम उत्तरोत्तर मंद हो जाता है। पर उन्होंने जो अपने भीतर भाईकी हत्यासे उत्पन्न प्रतिशोधकी आग नहीं भड़कने दी, उससे वे निर्विकार रहे, कषायोंपर विजय पाई, इस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सबका ही यह माहात्म्य हुआ कि उनके भीतर ज्ञानावरणका वह विशुद्ध क्षयोपशम प्रकट हुआ कि बौद्धोंकी इष्ट देवी तारा भी उनके सामने नहीं ठहर सकी और शास्त्रार्थमें पराजित हुई। भगवान अकलंक देवने सारे भारतवर्षसे क्षणिक सिद्धान्तको भगा दिया, दंडबलसे नहीं, अपने प्रखर तर्कशरोंसे विह्वल करके। उसी समयसे भारतवर्षसे बौद्ध धर्म उठ गया और लंका, श्याम, चीन, ब्रह्मा आदि बाहरके देशोंमें बचे-खुचे बौद्ध विद्वान् चले गये। इतिहासका यह अध्याय आज प्रकाशमें लानेके योग्य एवं विचारणीय है कि जो बौद्धधर्म एक बार सारे भारत में फैला था और चारों ओर जिसकी विजय-दुन्दुभि बज रही थी, वह सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद भारतसे क्यों विलुप्त हो गया? मैं तो इसमें भट्टाकलंकदेवका ही महान प्रभाव मानता हूं। उनके समस्त तर्कग्रन्थ बौद्धोंके प्रबल खंडनसे भरे पड़े हैं, जिनके खंडनका आज तक कोई भी बौद्ध आचार्य उत्तर नहीं दे सका है। हमारा बौद्ध भाइयोंसे द्वेष नहीं, बौद्ध अब सत्य बुद्ध बनें, हमारी यही भावना है।

कष्टसहिष्णुता व विपन्निवारण—संकट सहनेसे ही मनुष्य बड़ा बनता है। भीरु बननेसे लोग लेंडू कहने लगते हैं। अपनेको समझो कि मैं बिल्कुल स्वतन्त्र हूं, सुरक्षित हूं। विशुद्ध सद्भाव पानेका उपाय यही है कि सदा अपने विशुद्ध ज्ञायकभावपर दृष्टि रखो। इस मलभरे शरीरपर दृष्टि मत रखो। मल पिंडका मोह सबसे भारी मोह है। इसके छूटते ही मार्ग जल्दी प्राप्त हो जाता है। विशुद्ध सद्भाव पानेके लिए सप्त-व्यसनोंके त्यागकी भी बड़ी आवश्यकता है। व्यसनोंमें प्रधान जुआ है। आज जुआ खेलनेके भिन्न-भिन्न रूप प्रचलित हैं। जरा जुआरियोंकी मनोवृत्तिका अध्ययन तो करो कितनी संक्लेश भरी रहती है। संसारके सभी जीव जुआ खेल रहे हैं:—'शुभ अशुभ बंधके फल मंझार। रति अरति करे निज पद विसार॥' यह जुआ नहीं, तो क्या है? यदि शुभ बंधका फल मिला, पुण्योदयसे इष्ट सामग्री प्राप्त हुई, तो बस 'पौ बारा आ गए' मारे हर्षके फूले नहीं समाते, और यदि कहीं अशुभ बन्ध का फल मिला, पापके उदयसे इष्ट पुत्र, धनादिका वियोग हो गया तो 'तीन काने आ गए' की कहावत चरितार्थ होती है और हाय-हाय करते मर जाते हैं। पर जो ज्ञानी होते हैं, वे पुण्य और पाप—इन दोनोंके फलमें हर्ष-विषाद नहीं करते। इसी प्रकार मांस खाना, मदिरा पीना, वेश्यासेवन करना, शिकार खेलना, चोरी करना और परस्त्रीसेवन करना—इन शेषके छह व्यसनोंका अन्तरंग और बहिरंग दोनों प्रकारसे परित्याग करना आवश्यक है। जब तक इनका परित्याग नहीं होगा, तब तक विशुद्ध सद्भावकी ओर मनकी प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती।

विशुद्धसद्भावताके उद्यममें—हे भाइयो! यदि ज्ञायकभावकी प्राप्ति करना चाहते हो, तो आत्मपरिणतिको अत्यन्त मलिन, कलुषित बनाने वाले समस्त व्यसनोंका परित्याग करो। अपने आपमें सदा प्रकाशमान ध्रुव वस्तुको देखो। आचार्य पद्मनन्दिने कहा है—यदमलमबो-

Version 1

धानां व्यक्तं सद्बोधचक्षुषाम् । सारं यत्सर्वभूतानां नमस्तस्मै चिदात्मने ।। अर्थात् जो चैतन्य-भाव सज्ज्ञान चक्षुवाले पुरुषोंको व्यक्त है, प्रगट है, अज्ञानियोंको जिसका पता ही नहीं और जो सब प्राणियोंमें सार स्वरूप है उस चिदात्माको हमारा नमस्कार हो।

स्वकी आत्मस्वरूपकी पहिचान ही सुखका मार्ग है और स्वकी अजानकारी ही दुःखका मार्ग है। स्व ज्ञायकभावकी भक्ति आराधना ही जगत्से पार होनेका उपाय है। समाधितंत्रमें कहा है—मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम् । यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ।। मूढ़ जन जहाँ जिस वस्तुमें विश्वास कर रहे हैं, उससे अधिक भयका कोई स्थान नहीं, और जिससे यह मूढ़ात्मा भयभीत होता है, भय मानता है, उससे अधिक आत्माके लिए और कोई निर्भय स्थान नहीं है लेकिन संसारी जीवोंकी विपरीत प्रवृत्ति देखो कि "रागादि प्रगट जो दुःख दैन । तिन ही को सेवत गिनत चैन ।।" जो रागद्वेषादि प्रत्यक्षमें ही दुःखके देने वाले हैं, सारे जीव जिनका प्रत्यक्षमें अनुभव कर रहे हैं, उन्हें ही सेवन करके ये मूढ़ आत्मा चैन मानता है, बाह्यपदार्थको पाकर चैन मानता है, यह तो मूर्खता है ही, परन्तु यशकी बात सोचना, उसकी चाह करना, प्रयत्न करना पढ़े लिखोंकी मूर्खता है, महामूर्खता है। देखो सदा कीर्ति कितनी रहती है ? तीर्थंकरों जैसे महापुरुषोंकी तो सदा कीर्ति रही नहीं, फिर हम अल्पज्ञ, अल्पशक्ति वाले—जो निरन्तर दुर्भावनाओंसे भरे हुए हैं—उनकी कीर्ति कितने दिन रहेगी ? परमात्माकी निजकीर्ति तो परमात्मामें सदा रहती ही है, परन्तु लोगोंकी दृष्टिसे कह रहा हूं कि परमात्माके नाम लेने वाले कितने हैं ? जितना बिगाड़ होता है, वह यशकी इच्छा से ही होता है। यशकी इच्छाके साथ ही अनेक झंझटें संबद्ध हैं। यशकी इच्छा छूटते ही अनेक झंझटें स्वयमेव छूट जाती हैं।

तीर्थनायकोंकी परिपूर्ण विशुद्धता—जिन्होंने सर्व आकांक्षाओंको, कषायोंको नष्ट किया है, ये तीर्थंकर कैसे हैं, सो कहते हैं:—उपात्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्त्तस्वरस्थानीयशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावान् अर्थात् अन्तिम सोलहवें तापसे तपे हुए जात्य सुवर्णके सदृश शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव वाले हैं। सोनाको शुद्ध करनेके लिए सोलह ताप लगाये जाते हैं, ऐसी प्राचीन प्रसिद्धि एवं पद्धति है। सोलहवां ताप लगनेपर जैसे सोना अपने शुद्ध रूपमें प्रकट हो जाता है, इसी प्रकार आभ्यंतर व्रत, समिति, गुप्ति, तप आदिमें तपकर आत्माके जब द्रव्यभावमल दूर हो जाते हैं, तब शुद्ध आत्माका शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। इस प्रकारके स्वभावसे 'शेषातीततीर्थंनायकान्' वर्तमान चौबीसीके शेष तेईस तीर्थंकरोंका तो ग्रहण किया ही है, साथ ही अतीतकालमें जितने भी अनन्त तीर्थंकर हो गये हैं, उन सबका भी स्मरण किया गया है। इस प्रकार अतीतकालसम्बन्धी समस्त तीर्थंकरों और वर्तमान कालके शेष तेईस तीर्थङ्करोंको और सर्वसिद्धोंको नमस्कार करके अब ग्रन्थकार शेष तीन परमेष्ठियोंका स्मरण वन्दन करते हैं:—

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

विशुद्धसद्भावसाधक परमेष्ठी—ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारयुक्तत्वात् संभावितपरम-शुद्धोपयोगभूमिकानाचार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणांश्च प्रणमामि ।।२।। अर्थात् जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—इन पांच आचारोंसे युक्त हैं, अतः जिनके परम शुद्धोपयोगकी भूमिकाकी संभावना की जाती है, ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधुपनेसे युक्तसहित श्रमणोंको मैं प्रणाम करता हूं। श्रमण नाम गुरुका है। गुरुओंका हमपर कितना उपकार है, यह वचनके अगोचर है। यदि इन्होंने शास्त्रोंकी रचना न की होती, तो हम अरहंत और सिद्धको कैसे उन तक पहुंचनेका, उन जैसा बननेका प्रयत्न कर पाते ? एक कविने कहा है:—बलिहारी वा गुरुकी गोविन्द दिये मिलाय। गुरु, गोविन्द दोनों खड़े, काके लागूं पांय ।। चारुदत्तकी कथा प्रसिद्ध है। जब वे चैत्यालयमें गये और वहांपर उनका गृहस्थ गुरु और साधु दोनों बैठे थे, तो चारुदत्तने आसन्न उपकारी होनेसे पहले गृहस्थ गुरुको ही प्रणाम किया।

गुरुका महत्त्व—गुरुका महत्त्व बहुत बड़ा है। हमने गुरुविनय बचपनसे ही किया है। हम सदा इसी टोहमें रहा करते थे कि गुरुजन किसी कार्यका आदेश दें तो हम सबसे पहले करेंगे। हमारी जैनियोंकी यही परम्परा रही है कि गुरुजनोंका सदा विनय किया जाय। यही कारण है कि सकलपरमात्मा और निकलपरमात्माके नामके साथ ही गुरुजनोंको भी अनादि कालसे ही नमस्कार किया गया है और वह नमस्कार मन्त्र अनादि मूल मन्त्रके नामसे पुकारा जाता है। गुरुजनोंमें जो प्रधान होते हैं, संघकी सार सम्हाल करते हैं, शिक्षा दीक्षा और प्रायश्चित देते हैं, वे आचार्य कहलाते हैं। जैसे किसी गुरुकुलका प्रधान आचार्य होता है, उसी प्रकार संघके स्वामी आचार्य होते हैं। बहुतसे कल्याणार्थी एकत्रित हों, तो उनका कोई न कोई मुखिया होता ही है, क्योंकि उसके बिना संघकी गति नहीं। जहां भी समुदाय होगा, वहाँ कोई न कोई मुख्य होगा ही। वही उनका आचार्य है। जो स्थान गुरुकुलमें अध्यापकों का है, वही स्थान साधुओंमें उपाध्यायोंका है। ये द्वादशांगके पाठी होते हैं, अच्छे वक्ता और उपदेष्टा होते हैं। कदाचित् अंगपूर्वज्ञान न भी हो, तो भी जो संघमें प्रभावक, प्रतिभासम्पन्न एवं कुशल वक्ता होते हैं, उन्हें आचार्यके द्वारा उपाध्याय पद दिया जाता है। आचार्य द्वारा पद दिये बिना उपाध्याय संज्ञा प्राप्त नहीं होती। जो आत्मार्थी हैं, आत्मकल्याणके लिए सदा श्रम करते रहते हैं उन्हें श्रमण कहते हैं। इन तीनों प्रकारके गुरुओंका आदर्श इनका मूर्तिमानरूप ही भव्य जीवोंका महान हितकारी है, इसलिए भगवान कुन्दकुन्दने तीनोंका स्मरण किया है।

प्रश्न—आपने आचार्यको प्रायश्चित आदिका विधायक कहा है, सो यह तो बड़े दंद-फंदमें फंस गये, और यह भी सुना जाता है कि जब वे अपना आचार्यपद छोड़ देते हैं तभी वे मोक्ष प्राप्त कर पाते हैं, सो क्या यह सत्य है ? उत्तर—ऐसी बात नहीं है। बहिरंगमें वे शिक्षा आदि अनेक कार्योंमें व्यस्त रह करके भी वे साधुत्वमें किसीसे भी कम नहीं हैं। यह

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

ख्याल भी गलत है कि वे आचार्यपद छोड़ देनेके उपरान्त ही मोक्ष प्राप्त कर पाते हैं, इस कथनके कई अपवाद भी उपलब्ध हैं। हां, यह बात दूसरी है कि कोई आचार्यपदके व्यामोहमें पड़ जाय और उसे न छोड़े, तब तो उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होगी। पर यदि वे आचार्यपदपर रहते हुए कभी ध्यानस्थ हों और शुक्लध्यान प्रगट हो जाय तो वे मोक्षको प्राप्त करते ही हैं।

साधकोंकी स्वभावरुचि—ज्ञाता द्रष्टा रहनेके अतिरिक्त और सर्वभाव त्याज्य हैं। यद्यपि आचार्य, उपाध्याय और साधुजन आठ प्रकारके ज्ञानाचार, आठ प्रकारके दर्शनाचार, त्रयोदश प्रकारके चारित्राचार, बारह प्रकारके तपाचार और पांच प्रकारके वीर्याचारका परिपालन करते हैं, तथापि उनकी दृष्टि सदा स्वज्ञायकभावपर ही रहती है और वे शुद्धोपयोगके पाने तक ही पृथक्-पृथक् आचारोंका पालन करते हुए कहते हैं कि हे अष्टविध ज्ञानाचार, मैं तब तक ही तुम्हारा आचरण करता हूं, जब तक कि मुझमें तेरे प्रसादसे मेरे भीतर तेरेसे भिन्न मेरा ज्ञायकभाव नहीं पा लेता हूं, तब तक ही तुम्हारी आराधना करता हूं। इसी प्रकार दर्शनाचार आदिको भी संबोधन करके वही बात कहता है। जब शुद्धोपयोगकी भूमिका तैयार हो जाती है, तो एक-एक आचारको पृथक्-पृथक् संबोधन करके मानो कहता है कि ज्ञानाचार, तुम मेरे स्वरूप नहीं हो, अतः मैं तुम्हें छोड़ता हूं। कहीं ऐसा साधु कहते नहीं हैं और न विकल्प ही करते हैं किन्तु उच्च भूमिकामें सर्व प्रवृत्ति छूट ही जाती है। इस प्रकार सर्वका प्रतिक्रमण कर देता है। इन ज्ञानाचार आदि बाह्यपदार्थोंसे विरक्त होना ही पड़ेगा, तभी इष्ट ज्ञायकभाव सिद्ध होगा।

सम्यक्त्वकी शैली तो देखो—सबकी चौथे, पांचवें, छठे गुणस्थान वालोंकी एक ढंगसे चलती है। अविरत सम्यक्त्वीके पास जो समागम है, वह उससे विरक्त और साधुके पास जो समागम है वह उससे विरक्त रहता है। वैसे मुनि २२ बाईस परीषह सहता है, पर गृहस्थ तो २२००० बाईस हजार झंझटरूपी परीषहों और अनेक जातिके उपद्रवोंको सहता है, पर विशुद्धता जिनके बढ़ी-चढ़ी होती है, वे ही बढ़े माने जाते हैं। झंझटें जिसके कम रह गईं, वह स्वयं ही का तो फल है। ये आचार्य, उपाध्याय और साधु संयमकी अपेक्षा सभीसे महान हैं। पंचाचारके निमित्तसे उनके विशुद्ध भूमिका तैयार हो गई है, अतएव मैं उन्हें नमस्कार करता हूं।

ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेयं।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥३॥

वन्दनका विशुद्ध अनुराग—मानुष क्षेत्रमें वर्तमान रहने वाले जितने अरहंत हैं, उन-उन सब अरहंतोंको मैं समक-समक अर्थात् एक साथ युगपत् अथवा प्रत्येकको काल-क्रमसे वन्दना करता हूं। इस गाथामें कितना अर्थ भरा हुआ है, आचार्य कुन्दकुन्द सर्व वर्तमान अर-

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हन्तोंको एक साथ भी नमस्कार कर रहे हैं और पृथक्-पृथक् भी नमस्कार कर रहे हैं तथा अढाई द्वीपमें जितने अरहन्त हैं, चाहे वे तीर्थंकर अरहंत हों और चाहे सामान्य अरहंत, उन सबका युगपत् ही स्मरण कर रहे हैं। ग्रन्थकारकी दृष्टि कितनी विशाल उदार एवं विवेकपूर्ण है यह उसके गाथामें प्रयुक्त पदोंसे प्रगट होता है। खंडवाकी बात है, कोई ७-८ वर्षका बच्चा दर्शन कर रहा था, मैंने पूछा—किसके दर्शन कर रहे हो? बोला—भगवानके। मैंने फिर पूछा सबसे बड़े भगवान कौनसे हैं? वह सबसे बड़ी मूर्तिको दिखाकर बोला ये हैं। मैंने फिर पूछा—इनसे छोटे कौनसे हैं? उसने पूर्व मूर्तिसे छोटी मूर्ति दिखाई। मैं उत्तरोत्तर पूछता गया कि इनसे छोटे कौनसे भगवान हैं और वह उत्तरोत्तर छोटी-छोटी मूर्ति दिखलाता गया। वह बच्चा मूर्तिको ही भगवान समझ रहा था, अतः उसने तदनुसार उत्तर दिया। हममेंसे भी तो कितने ही लोग मूर्तिके पैर दाबते हैं, चरणोंको स्पर्शकर मस्तिष्कपर लगाते हैं, मानो वे यही समझते हैं कि मैं भगवानकी ही साक्षात् सेवा कर रहा हूं। भैया! ये मूर्तियां इस प्रकार की सेवा पूजाके लिए नहीं बनाई गई हैं। बल्कि इनके सामने बैठकर, निरखकर वीतरागता को अपने हृदयमें उतारें।

आचार्य कुन्दकुन्दकी दृष्टि ग्रंथारम्भ करते हुए कभी सामान्यपर जाती है, कभी विशेष-पर जाती है, कभी व्यक्तिपर और कभी समष्टिपर। यह स्वाभाविक ही है, क्योंकि आत्मामें जब तक एकत्ववितर्क शुक्लध्यान प्रगट नहीं होता है तब तक पृथक्-पृथक् वितर्क उत्पन्न हुआ ही करते हैं और फिर जो यहां छठे सातवें गुणस्थानमें भूल रहा हो, उसकी तो इस प्रकारसे द्वैत-अद्वैत रूप सामान्य-विशेषरूप दृष्टि उत्पन्न होगी ही। छठे सातवें गुणस्थानका काल यद्यपि अन्तर्मुहूर्त है, पर छठेसे सातवेंका काल आधा है। आचार्य कुन्दकुन्द जब प्रमत्त संयत होते हैं शुभोपयोगी होते हैं तो उनकी दृष्टि मनुष्य क्षेत्रवर्ती एक-एक अरहन्त पर जाती है और 'पत्तेयं पत्तेयं' कहते हैं। जब वे सप्तम गुणस्थानमें प्रवेश करते हैं, शुद्धोपयोगी होते हैं तो वहां उन्हें द्वैतका प्रतिभास ही नहीं होता है, सभी एकसे चिन्मात्रस्वरूपमें दिखाई देते हैं। इस दशाके अनन्तर प्रमत्त होते ही मानो तब उनके मुखसे 'समगं समगं' पद प्रगट होता है। भगवत्स्मरण भी अनुपम बलका निमित्त है।

देवदर्शन—प्रतिमाका सच्चा दर्शन क्या है? उसके आधारसे आत्मदर्शन करो, अपने भीतर उनके स्वरूपका चिन्तवन करो। पत्थर या धातुपर दृष्टि नहीं रहनी चाहिए। पिताका चित्र देखनेपर जैसे हमारी दृष्टि उनके चरित्रपर जाती है, वैसे ही हमें वीतराग भगवानकी मूर्तिको देखकर उनके चरित्रपर दृष्टि रखनी चाहिए। प्रतिमाके दर्शन द्वारा अपनी आत्माके स्वरूपका चिन्तवन करो। दर्शन करते समय प्रायः भक्तजन किसी कविकी बनाई हुई स्तुति बोलते हैं। स्तुति कंठस्थ होनेसे वह मुखसे निकलती जाती है और हमारा मन कहीं भटकता

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहता है। इसलिए कभी-कभी परचित स्तुतिको छोड़कर अपनी चिट्ठीकी चालमें स्तुति करो—"हे भगवान हमने मोहके वश होकर आज तक आपके स्वरूपको नहीं जाना, आज हमें आपकी वीतराग मुद्राको देखकर अपने स्वरूपकी याद आ रही है। हे भगवान्! आप मेरे लिए कुछ करते नहीं हैं, फिर भी मेरे उद्धारमें आप निमित्त कारण तो अवश्य हैं। यदि आपके दर्शनका सुयोग न मिलता, तो पता नहीं मैं कब आत्मस्वरूपका भान कर पाता, अथवा अहो! अहो! ऐसा ही तो मैं हूं, एँ! यह क्या हो रहा? होओ, मैं तो यह ध्रुव हूं इत्यादि रूपसे अपने शब्दोंमें स्तुति करना बहुत लाभदायक है। आप पररचित स्तुतिको जब बोलते हैं, उस समयसे भावको, स्ववचनोंमें की गई स्तुतिके समयके भावोंको और मौनपूर्वक दर्शन करते समयके भावोंको जरा देखो तो, उनके तारतम्यपर विचार तो करो, आपको जमीन आसमान जैसा अन्तर दृष्टिगोचर होगा।

यथार्थ लाभका विवेक—प्रत्येक कार्यमें अपना लाभ देखना चाहिए कि मुझे इसके करनेसे क्या लाभ हुआ? यदि आत्माको ज्ञातृत्वस्थिति पानेका लाभ हुआ, तो उसे ही सच्ची स्वदया समझना चाहिए। जिसे स्वदया नहीं, वह क्या स्वहित कर सकता है? भाई, यह मनुष्यजन्म महादुर्लभ है, इसे पाकर स्वहितकी शीघ्रता करो अन्यथा मरना तो सबको पड़ेगा ही। मरनेके बाद क्या होगा, इसका उत्तर यही है कि जैसा पाप-पुण्य किया वैसा ही फल प्राप्त होगा। मरनेकी कोई तिथि ज्ञात नहीं कि कब मृत्यु हो जाय? दो मित्र थे, उनमें एक बीमार पड़ा। दूसरा मित्र शामको उसे देखने गया, और उसकी तबियतका हाल पूछा। तब वह बोला—भाई, बहुत कमजोरी हो गई है, बिस्तरसे उठा नहीं जाता। वह कुछ सेवा-शुश्रूषा करके घर चला आया, किसी कार्यसे एक दिनको बाहर जाना पड़ा। लौटकर मित्रके घर गया। उसके वहां नहीं दीखनेपर स्त्रीसे पूछा—मित्र कहां है? वह बोली—दुनियासे चले गये। तब वह मित्र खेद और झुंझलाहटके साथ बोला—कल तक यों कहते थे कि बिस्तर से उठा जाता नहीं। आज दुनियासे भी चल देनेकी ताकत आ गई? मरनेपर यह जीव कहांसे कहां चला जाता है, कुछ पता नहीं है और ये सब संग साथी यहीं छूट जाते हैं, कोई साथ नहीं चलता। साथ चलने वाला एक ज्ञायकभाव ही है, अतः ज्ञायक प्रभुकी ही भक्ति करके अपना जीवन सफल करो।

पूर्वजोंकी धर्मपरिपाटी—हमारे पूर्वजोंने जो ये मन्दिर आदि बनवाये हैं और पूजनादि की परिपाटी प्रचलित की है, यह सब धर्मके साधन हैं। परन्तु हम इनका उपयोग पूरा नहीं करते। हम मन्दिरोंमें देखते हैं कि कोई किसी भगवानका पूजन कर रहा है, तो कोई किसी भगवानका। कोई किसी पूजनका स्थापन कर रहा है, तो कोई किसीका विसर्जन। लोग इस बातको नहीं समझे कि मन्दिरमें पूजनका जो समय नियत है, उसके भीतर ही समयपर पहुंचकर सब एक साथ, एक स्वरमें पूजन करें। ईसाइयोंमें ईश्वराराधनाके लिए रविवारका

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

दिन नियत है। उस दिन नियत समयपर वे सबके सब एक साथ पहुंचते हैं और उनका पादरी ईश्वरप्रार्थना कराते समय जब और जैसा बोलता है, या कायिक क्रिया करता है, सभी एक साथ, एक स्वरमें वैसा ही करते और बोलते हैं। मुझे शिमलामें एक बार गिरजाघरमें जानेका और उनकी प्रार्थना करनेका ढंग देखनेका अवसर मिला। मैं वहांकी शान्तिको देखकर अवाक् रह गया। काश ! हमारे मन्दिरोंमें भी पूजा-प्रार्थनाके समय वह शान्ति विराजती तो भक्तोंको एक अपूर्व आनन्द आता। बौद्धों तकमें भी मौनपूर्वक संध्या उपासना होती है। बौद्धोंके प्रसिद्ध तीर्थ सारनाथमें जाकर देखिए—जहाँ दुनियाके कोने-कोनेसे भक्त लोग प्रतिदिन आया करते हैं और शान्तिपूर्वक भगवद्आराधना करते हुए परमशान्तिका लाभ लिया करते हैं।

सदेह परमेष्ठियोंकी मानुषक्षेत्रमें वर्तमानता—आचार्य कुन्दकुन्द ग्रन्थारम्भमें ईश्वर वन्दना कर रहे हैं। जिन्होंने स्वात्मोपलब्धि कर ली, उन अरहंत सिद्धको नमस्कार किया, जो आज स्वात्मोपलब्धिके पथपर आरूढ़ हैं, सतत उसे प्राप्त करनेके लिए प्रयत्नशील हैं, ऐसे आचार्य, उपाध्याय और साधुओंको भी उन्होंने नमस्कार किया है। 'माणुसखेत्ते वट्टंते' पदके द्वारा जो एक विशिष्ट अर्थ निकलता है, वह यह है कि महाविदेहोंमें एक साथ कमसे कम बीस तीर्थंकर होते हैं, और अधिकसे अधिक १६० एक सौ साठ होते हैं। इसका भाव यह है कि सारे मनुष्य-क्षेत्रमें अढ़ाई द्वीपके भीतर ५ विदेह हैं। जम्बूद्वीपके मध्य भागमें सुमेरु पर्वत है। उसके दक्षिणी भागमें क्रमशः हिमवान्, महाहिमवान्, निषध—ये तीन पर्वत हैं और उत्तरी भागमें नील, रुक्मी और शिखरी—ये तीन पर्वत हैं। इन छहोंसे विभक्त हो जानेके कारण जम्बूद्वीपमें भरत आदि सात क्षेत्र होते हैं। सुमेरुके पूर्वभागको पूर्व विदेह और पश्चिमी भागको पश्चिम विदेह कहते हैं। पूर्व विदेहके मध्यमें से सीता नदी और पश्चिमी विदेहके मध्यमें से सीतोदा नदी बहती है। इससे दोनोंके २-२ भाग और हो जाते हैं। इन चारों ही भागोंमें तीन-तीन विभंगा नदियों और चार-चार वक्षार पर्वतोंके योगसे आठ-आठ भाग हो जाते हैं। इनमेंसे प्रत्येक भागके भीतर विजयार्ध और दो-दो नदियोंके योगसे पांच म्लेच्छ खण्ड और एक आर्यखण्डकी रचना है, इस प्रकार चारों भागोंमें ३२ क्षेत्र हैं। इनमेंसे ईशान कोणस्थ आठ भागोंके एक विभागके जिस किसी भी क्षेत्रमें सीमंधर नामक एक तीर्थङ्कर सदा काल विद्यमान रहते हैं। इसी प्रकार शेषके तीन भागोंमें क्रमशः युग्मन्धर, बाहु और सुबाहु—ये चार तीर्थङ्कर विहार करते रहते हैं। जम्बूद्वीपस्थ विदेहमें उक्त चार तीर्थङ्कर विद्यमान रहते हैं। धातकी खण्डमें दो सुमेरु पर्वत हैं, उनके योगसे वहांपर विदेहोंके आठ विभाग हो जाते हैं। उनमें संजातक आदि आठ तीर्थङ्कर सदाकाल विराजमान रहते हैं। पुष्करार्धमें भी धातकी खण्डके समान विदेहके आठ विभाग हैं, उनमें अन्तिम आठ तीर्थङ्कर विद्यमान हैं। इस

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकार सर्व मिलाकर अढ़ाई द्वीपरूप मनुष्य क्षेत्रके भीतर विदेहों-सम्बन्धी बीस तीर्थंकर कमसे कम सदा वर्तमान रहते हैं। सदा वर्तमानका अर्थ यह है कि इन बीसमें से जिस किसी भी तीर्थंकरका जब निर्वाण होता है, तब उसी समय उनके स्थानपर उनका नामधारी तीर्थंकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है और इस प्रकार वहां उनका समवशरण प्रायः कभी खाली नहीं रहता। पहले जो एक मेरु सम्बन्धी ३२ क्षेत्र बताए हैं, उनमें कभी ऐसा भी अवसर आता है कि प्रत्येक क्षेत्रमें एक-एक तीर्थंकर पूर्व नामके और भी उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार पांचों मेरु सम्बन्धी (३२ × ५ = १६०) एकसौ साठ तीर्थंकर, एक साथ विहार करते हुए किसी अवसर विशेषपर पाये जाते हैं। यह बीस संख्या व नाम श्री वर्द्धमान स्वामीकी धर्म देशनाके समयकी बात है। प्रसिद्धि ऐसी है कि विदेहमें एक तीर्थंकरके निर्वाणके बाद वहाँ जो अन्य तीर्थंकर होते हैं वे इसी नामके होते हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न नामधारी भी हों तो भी प्राकृतिकताके विरुद्ध नहीं मालूम होता। जब विदेहोंमें १६० तीर्थंकर विद्यमान हों और प्रत्येक मेरु सम्बन्धी ५ भरत और ५ ऐरावत क्षेत्रमें तीसरेका अन्त या चौथा काल हो और तीर्थंकर विद्यमान हों तो इन दस तीर्थंकरोंके मिलनेसे १७० एक सौ सत्तर तीर्थंकर एक साथ सारे मनुष्यक्षेत्रमें पाये जाते हैं।

सर्व परमेष्ठियोंको युगपत् नमन—इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्ददेवने उक्त पदके द्वारा इन सबका स्मरण किया है। 'वर्तमान काल' यह पद दोनों ओर घटता है और उसके प्रयोग द्वारा सबका स्मरण कर लिया गया है। सर्वका स्मरण करते समय आत्मामें तो सभी वर्तमान कालसे हैं। यहां आचार्य सभी पूज्य आत्मावोंको स्मरणके द्वारा आत्मवर्तमानकालस्थ कर रहे हैं। सभी पूज्य आत्मा निष्परिग्रह होते हैं, साधु दीक्षाके अनन्तर ही निर्वाणका मार्ग साक्षात् हो पाता है। जैसे किसी कन्याके स्वयंवर मंडपके समय जो मंगलाचार किया जाता है और उसके पश्चात् कन्या पतिका वरण करती है, इसी प्रकार यहाँपर भी नैर्ग्रन्थ्य दीक्षाको स्वयंवर मंडप जानना चाहिए और इसमें जो उपयुक्त पात्र सिद्ध होगा, उसे मुक्ति कन्या वरण करेगी। उक्त प्रकरणोंमें यह बतलाया गया कि जो ये पंचपरमेष्ठी हैं, उनकी व्यक्तियोंमें रहने वाले सब ही को मैं नमस्कार करता हूं। सब ऐसा कहनेपर सभी परमेष्ठियोंमें सब शब्द लगाना चाहिए अर्थात् सब अरहंतोंको, सब सिद्धोंको, सब आचार्योंको, सब उपाध्यायोंको और सब साधुवोंको नमस्कार करता हूं।

षट्खंडागमकार पूज्य श्री १०८ आचार्य पुष्पदन्त जी महाराजका उक्त ग्रन्थमें एक निबद्ध मंगलाचरण है जो "णमोकार मंत्र" से प्रसिद्ध है—णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं, णमो आइरीयाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं" इसकी टीका करते हुए पूज्य श्री १०८ वीरसैनस्वामीने "लोए सव्व" को अंतदीपक बताया है अर्थात् ये शब्द सब ही पदोंमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

लगाये जाने चाहिएँ, जिससे ऐसा अन्वय हो जाता है—"णमो लोए सव्व अरहंताणं, णमो लोए सव्व सिद्धाणं, णमो लोए सव्व आइरियाणं, णमो लोए सव्व उवज्झायाणं, णमो लोए सव्व साहूणं" अर्थात् लोकमें सब अरहंतोंको नमस्कार हो, लोकमें सर्व सिद्धोंको नमस्कार हो, लोकमें सब आचार्योंको नमस्कार हो, लोकमें सब उपाध्यायोंको नमस्कार हो और लोकमें सर्व साधुवोंको नमस्कार हो।

णमोकारमंत्रका उच्चारण—इस णमोकारमंत्रका प्राकृत व्याकरणके अनुसार उच्चारण १८४३२ प्रकारसे हैं। अरहंताणं शब्दमें विकल्पसे र उत्तरवर्ती अ के स्थानमें इ व उ होता है, जिससे ३ रूप हो जाते हैं—अरहंताणं, अरिहंताणं, अरुहंताणं। फिर णं के अनुस्वार का विकल्पसे लोप होता है जिससे अरहंताणं अरहंताण अरिहंताणं अरिहंताण अरुहंताणं अरुहंताण—ये ६ रूप हो जाते हैं। णमो शब्दमें रहने वाले ण के स्थानमें यहां न भी विकल्प से हो जाता है तब छहों रूपोंसे पहिले नमो अथवा णमो पढ़नेसे नमो अरहंताणं, णमो अरहंताणं आदि १२ रूप हो जाते हैं।

णमो सिद्धाणं यहाँपर णं के अनुस्वारका विकल्पसे लोप होनेपर तथा णमोके ण के स्थानमें विकल्पसे न आदेश होनेपर 'नमो सिद्धाणं, णमो सिद्धाणं, नमो सिद्धाण, णमो सिद्धाण ये ४ रूप हो जाते हैं।

णमो आयरियाणं—इसमें प्रथम य के स्थानमें य, इ, अ भी होते हैं, इसलिए भंगके लिये ३ रखो, द्वितीय या के स्थानमें विकल्पसे आ होता है, सो ३ × २ = ६, णं के अनुस्वार का विकल्पसे लोप होता है सो ६×२ = १२, और णमो के ण के स्थानमें विकल्पसे न होता है इसलिये १२ × २ = २४ प्रकारसे इस तृतीय पदका उच्चारण होता है। यथा—णमो आयरियाणं, णमो आइरियाणं, णमो आअरियाणं, णमो आयरिआणं, णमो आइरिआणं, णमो आअरिआण, णमो आयरियाण, णमो आइरियाण, णमो आअरियाण, णमो आयरिआण, णमो आइरिआण, णमो आअरिआण—ये १२ रूप हैं तथा इन्हींमें णमोके स्थानमें नमो पढ़नेसे १२ और हुए, इस तरह २४ प्रकार हैं।

णमो उवज्झायाणं—इसमें णंके अनुस्वारका विकल्पसे लोप हुआ तथा णमोके ण के स्थानमें विकल्पसे न आदेश होता है, तब 'णमो उवज्झायाणं, णमो उवज्झायाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो उवज्झायाण, इस प्रकारसे ४ रूप हुए।

णमोलोए सव्वसाहूणं—पूर्वोक्त प्रकारसे णमोके स्थानमें नमो विकल्पसे होनेपर व अनुस्वारका विकल्पसे लोप होनेपर "णमो लोए सव्वसाहूणं, णमो लोए सव्वसाहूण, नमो लोए सव्वसाहूणं, नमो लोए सव्वसाहूण" इस तरह ४ उच्चारण हुए।

इन सबको परस्पर गुणा करनेसे १२ × ४ × २४ × ४ × ४ = १८४३२ प्रकारसे

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

णमोकार मंत्रका उच्चारण होता है। यह मंत्र गाथा आर्यारूपमें है, सो किसी भी उच्चारणमें गाथाके लक्षणका भंग भी नहीं होता है। गाथा आर्याका लक्षण यह है—यस्याः प्रथमे पादे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चादश सार्या।

नमस्कार मंत्रकी गुणप्रधानता— यह नमस्कार मंत्र व्यक्तिप्रधान नहीं है, गुणप्रधान है, क्योंकि इसमें आत्माके उत्थानके पदोंका ही वर्णन है। इसमें श्री आदिनाथ जी या श्री महावीरजी अथवा श्री रामचन्द्रजी या श्री हनुमानजी आदिका कोई नाम नहीं है। पञ्चपरमेष्ठी पदोंमें पहुंचे हुए महान् आत्माएँ पहिले पहिले तो हम आप जैसे ही गृहस्थ, गृहमें उत्पन्न हुए बालक कुमार आदिकी तरह ही थे, उन्हें जब आत्मज्ञान दृढ़ हुआ, परद्रव्योंसे लक्ष्य हटा, विरक्ति हुई, सर्व बाह्यार्थ छूट गये, मात्र शौचोपकरण व दयोपकरण प्रवृत्तिमें समितिके अर्थ रहा यही तो साधुपद है। ऐसे महाव्रती अनेक साधुओंका जहाँ समूह हो तो "समूह एक प्रधान बिना रहता ही नहीं" इस न्यायप्रकृतिके अनुसार उनमें प्रधान होना सुनिश्चित ही है। जिसमें प्रधानका यह कार्य हो जाता है कि उपदेश आदेश आदि द्वारा साधुओंके आत्माका पोषण एवं दीक्षा, प्रायश्चित आदि द्वारा उनका शोधन होना ये ही प्रधान आचार्य पदसे संज्ञित हैं। इस साधुसमूहमें जो विशेष ज्ञानी होते हैं और जिन्हें आचार्य महाराज ये उपाध्याय हैं ऐसा घोषित करते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं। ये तीनों गुरुराज इन्द्रियोंके दमी मन वचन काय गुप्ति व ईर्या भाषा ऐषणा आदान निक्षेपण प्रतिष्ठापना समितिके धारक होते हैं। तीनों ही श्रमण हैं, इनमें जो कोई अन्तरात्मा समताकी अपूर्व साधना करते हैं, निज शुद्धात्माका निर्विकल्प संवेदन करते हैं, पृथक्त्ववितर्कवीचार एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान करते हैं उनके स्वयं घातिया कर्मके क्षय होनेसे अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन अनन्तसुख अनन्तबल व्यक्त हो जाते हैं। यद्यपि यह प्रसिद्धि है कि आचार्य महाराज दूसरे विशिष्ट योगीको आचार्य पद देकर फिर ध्यानमें रत हो जाते हैं और उनके वीतराग निर्विकल्प निज शुद्धात्म-संवेदन बलसे कैवल्य प्रकट हो जाता है। ठीक है, परन्तु कदाचित् कोई आचार्य आचार्यपद न दे सके तो भी निःस्पृह दिगम्बर तो वे हैं ही, निर्विकल्प शुक्लध्यान हो जानेपर कैवल्यमें क्या बाधा?

विरक्तिका आधार यथार्थ ज्ञान—वस्तुस्वरूपका यथार्थ ज्ञान होनेपर जो विरक्ति होती है वही यथार्थ अपना अमोघ कार्य करती है। स्त्री पुत्रोंसे झगड़ा होनेपर उदास विरक्त होने में, अकेले रह गये, अब क्यों कष्ट उठाना अथवा त्यागी सन्तोंका बहुमान होता है,-सो इसी मार्गको लेना आदि भावोंसे हुए वेशमें वैराग्य स्थायी नहीं होता। वस्तुस्वरूपको ज्ञानमें लेकर उठने वाला वैराग्य स्थायी है। सच्चा वैराग्य आत्माको उत्कर्षमय स्थितिमें पहुंचाने वाला है। वस्तुविज्ञानके अर्थ द्रव्य गुण पर्यायकी पहिचान करो, फिर अर्थका अनुभव कर लो।

द्रव्य क्या है? जो अनादि हो, अनन्त हो, स्वसहाय हो और अखण्ड हो। अब आप

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सबकी परीक्षा कर सकते हैं कि यह द्रव्य है या अन्य कुछ। यद्यपि जो कुछ है वह द्रव्यसे भिन्न नहीं है तथापि द्रव्यके लक्षणसे पहिचानकर देखो जो उसमें द्रव्य तत्त्व निकले उसकी दृष्टिसे यथार्थता निर्मलता प्रकट होती है। देखो (चौकीपर रखे हुए कांचके गोलेको लेकर) इसमें जो यह आपके सामने दिखता है क्या यह अनादिसे है? नहीं, ऐसा सदा रहेगा? नहीं, क्या परके संयोग बिना यह आकार है? नहीं, क्या अखंड है, इसके टुकड़े नहीं हो सकते क्या? टुकड़े हो सकते। तब यह दृश्य द्रव्य नहीं है, फिर क्या है? यह समानजातीय पर्याय है—अनेक द्रव्योंकी पर्याय है। वे अनेक द्रव्य कौन हैं? परमाणु-पुद्गल। परमाणु तो अनादि हैं, अनन्त हैं, स्वसहाय हैं, अखंड हैं। बस इसीलिए परमाणु द्रव्य हैं।

दिखने वाले ये मनुष्य पशु आदि क्या हैं? असमानजातीय द्रव्य पर्याय। ये अनादि नहीं, अनन्त नहीं, स्वसहाय नहीं, अखंड नहीं हैं। अतः ये द्रव्य नहीं हैं, इनमें जीव द्रव्य है, परमाणु द्रव्य है। संयुक्तपर्याय या नैमित्तिकपर्याय परवस्तुकी उपस्थिति बिना नहीं होते हैं इसलिये स्वसहायताका वहां निषेध किया है। वैसे तो सभी परिणमन अपने आधारभूत स्व-चतुष्टयके परिणमनसे ही परिणमते हैं, किन्तु जो परिणमन परवस्तुकी उपस्थित बिना नहीं है उसका यहां विचार है।

ज्ञानीका अवलम्बन—ज्ञानी किस बुनियादपर विरक्त है? इस ही द्रव्यकी स्वतन्त्रताके विज्ञानकी बुनियादपर और निर्विकल्प निज परमात्मा पदार्थके अनुभवकी बुनियादपर। उसकी दृष्टिमें दृश्यमान तो सब माया है, पर्याय है क्षणिक है। तत्त्वभूत तो अव्यक्त किन्तु ज्ञानीके गम्य है। द्रव्यका लक्षण कसौटी है इसपर सबको कसते जावो, जो सादिसान्त हो वह पर्याय है। पर्यायमें द्रव्य-तत्त्वबुद्धि ही तो संसार है। जहाँ अपने द्रव्यपर दृष्टि जावेगी वहां तो यह स्वरूप आवेगा—अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं। जाण अलिंगग्गहणं जीव-मणिद्दिट्ठसंठाणं॥

जो रूप, रस, गंध, स्पर्श, शब्द कर रहित है, जो किसी व्यक्त चिह्नसे ग्रहणमें नहीं आता, जिसका स्वयं कोई संस्थान नहीं है और चेतना गुणकर पूर्ण है वह जीव है। सर्वजीव स्वतन्त्र हैं, मैं किसीकी परिणतिसे नहीं परिणमता, अन्य कोई भी मेरी परिणतिसे नहीं परिण-मता। सर्वसे विविक्त स्वरूपमें अवस्थित अपने द्रव्यको विलीन संकल्प-विकल्प होकर अनुभवता है वह ज्ञानी साधु है। शुद्ध होनेका उपाय अध्यात्मदृष्टि है। रागद्वेषरहित स्वशुद्धात्माका निर्विकल्पसंवेदन अथवा आगमभाषामें एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यान होनेपर सर्वगुणघाती मल धुल जाते हैं।

उक्त पञ्चपरमेष्ठीको स्वभावसे देखो और अपनेमें संधि करो स्वभावकी। णमो अर-हन्ताणं····मैं। णमो सिद्धाणं····मैं। णमो आइरियाणं····मैं। णमो उवज्झायाणं····मैं। णमो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लोए सव्वसाहूणं····मैं ।

अरहंत देवका स्थान—जैसे आचार्य उपाध्याय साधु कहीं भी बैठे हुए हमें मिल जाते हैं वैसे अरहन्त देव यहाँ कहीं बैठे नहीं मिलेंगे। क्योंकि कैवल्य होते ही उनका वादरनिगोद विकलत्रय आदि अन्य सर्व साधार जीवोंसे रहित स्फटिककी तरह हुआ परमौदारिक शरीर ५ हजार धनुष ऊपर जाकर विराजमान रहता है। इन्द्र देवों द्वारा समवशरण या मात्र गंध-कुटीकी रचना ऊपर हो जाती है। समवशरणमें शोभायमान कोट वेदिकावोंसे परिवेष्टित उपवन, खातिका चैत्यप्रसाद आदि ८ भूमियोंके बाद १२ सभाकी रचना होती है, वहां ४ कोठी में ४ प्रकारके देव, ४ कोठोंमें ४ प्रकारकी देवियां, १ में मनुष्य, १ में श्राविका, १ में मुनि, १ में तिर्यंच बैठते हैं। सभी अपनी योग्यतानुसार धर्मसेवन करते हैं, सबको भगवानका मुख दीखता है।

ये अरहन्त प्रभु अन्तमें जिनकी आयु तो कम और अन्य कर्मोंकी स्थिति अधिक है वे समुद्घात करके अघातिया कर्मोंकी आयु समान स्थिति कर देते हैं अथवा जिनकी स्थिति समुद्घातके बिना ही समान है, सर्व कर्मोंके क्षय होनेपर सर्वद्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मसे अत्यन्त रहित होते ही सिद्धलोकमें विराजमान हो जाते हैं। जो जहांसे सिद्ध होता है वह वहींसे सीधा सिद्धस्थलपर पहुंच जाता है। हनुमानजी इन्द्रजीतजी आदि सभी इस समय सिद्ध हैं। परन्तु देखो न सिद्धोंमें, न अन्य परमेष्ठियोंमें किसीका भी नाम नहीं लिया गया है। गुणोंका पदोंका ही नाम है। अतः परमात्माका स्वरूप वीतराग सर्वज्ञ ही है, वह कोई भी हो। गुरुका स्वरूप साम्यदर्शी है।

इस समय यहाँ तीर्थंकर नहीं हैं फिर भी विदेहक्षेत्रमें तो हैं ही। विदेहक्षेत्र भी मनुष्यक्षेत्र (नृलोक) है और हमारा क्षेत्र भी मनुष्यक्षेत्र है फिर हमारे ही क्षेत्रमें तो तीर्थंकर हैं। हम वहाँ नहीं पहुंच सकते। यदि विद्याबल होता तो क्या न पहुंच जाते? विद्याधर तो आज भी विदेहक्षेत्रमें पहुंचकर उन तीर्थङ्करोंका दर्शन करते हैं। मनुष्यक्षेत्र हम मनुष्योंका क्षेत्र है। लोकमें भी कहते हैं भारतसे लगे हुए चीन जापान आदि स्वक्षेत्र ही हैं, लोकोंका वहाँ यातायात है इसलिये इसमें व्यवहार करते हैं। विदेहक्षेत्रमें जो तीर्थङ्कर हैं उन्हें वर्तमानके गोचर करके नमस्कार करता हूं। वे तीर्थङ्कर इस समय हैं सो उनका वर्तमानकाल है और मेरे उपयोगमें वे तीर्थङ्कर हैं सो मेरे वर्तमानकालमें भी तीर्थङ्कर हैं, कहाँ हैं? यही हैं। इनको वंदना नामक शब्दसे—जो कृतिकर्मशास्त्रमें उपदिष्ट है व मोक्षलक्ष्मीके स्वयंवरमें मानो निर्ग्रन्थदीक्षाके अवसर में मंगलाचारभूत है—आदर किया है, पूजा है।

वन्दनाभावकी उत्कृष्टता—वन्दना शब्दका अर्थ भी नमस्कार ही है। वन्दना, वन्दामि, नमोऽस्तु सबका एक ही अर्थ है, परन्तु यहां व्यवहारकी अपेक्षा ऐसा लगा दिया गया है कि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

साधुवोंको नमोऽस्तु कहना, ब्रह्मचारियोंको वन्दना कहना व आर्यिका आदि जैनलिंग वाले उत्कृष्ट श्रावकोंको वन्दामि कहना। भक्ति भी वन्दनाका अनर्थान्तर है। भक्ति साधु बननेके समय मोक्षलक्ष्मीके स्वयंवरमें मंगलाचरण रूप है। साधु दीक्षाके समय सिद्धभक्ति, आचार्य-भक्ति, योगभक्ति की जाती है। इनमें भावकी अपेक्षा आचार्य भी योगी हैं। सिद्ध भक्तिमें तो यह पाठ पढ़ा जाता है—सिद्धानुद्धूतकर्मप्रकृतिसमुदयान् साधितात्मस्वभावान् आदि और योगि-भक्तिमें यह पाठ पढ़ा जाता है—जातिजरोरुरोगमरणातुर शोकसहस्रदीपिता: आदि। फिर भी जहां भक्तिपाठ करनेका अवसर नहीं अथवा पाठ करने वाला नहीं या पाठ याद नहीं, न भी सिद्धभक्ति योगिभक्ति कर पाये, फिर भी भावसे सिद्धभक्ति योगिभक्ति होती ही है। यथार्थ सिद्धभक्ति—अनंत ज्ञानादि सिद्धगुणोंकी भावनारूप है और योगिभक्ति निर्मल समाधिमें परिणत हुए परमयोगियोंके समाधि परिणाम आदि गुणोंकी भावनारूप है। कभी यह भक्ति न भी पढ़ी जावे तब भी अन्तरंग भावसे होने वाले साधुवोंके सिद्ध व योगिभक्ति हो ही जाती है। पद्म-पुराणमें एक चरित्र है—वज्रभानु एक राजपुत्र थे, उसका विवाह हुआ, ८-१० दिन बाद वज्र-भानुका साला उदयसुन्दर बहिनको लिवाने आया। मोही वज्रभानु भी स्त्रीके साथ चल दिया। एक अटवीमें तीनों जा रहे थे कि पर्वतशिलापर नवयुवक साधु शान्तिमुद्रामें ध्यानमग्न थे, उनके दर्शन करते ही वज्रभानुको आत्मज्ञान हो गया, उन्होंने निर्मोहता व अपने मोहभाव का अन्तर ताड़ा, अपनी विकृतपर्यायका पश्चाताप हुआ। एकटकी लगाकर देखने लगे। उदय-सुन्दरने बहनोईसे मजाक किया, क्या तुम भी मुनि हो रहे हो? वज्रभानुके मुनि होनेका भाव तो हो ही गया था। कुछ संकोच था कि इनको क्या कहकर विदा किया जावे? उसे तो अनायास अवसर मिल गया। वज्रभानु बोले कि हम मुनि होवेंगे तो क्या तुम भी हो जावोगे? उदयसुन्दर बोला—हाँ हाँ तुम मुनि होगे तो मैं भी हो जाऊँगा। उदयसुन्दर तो वज्रभानुको मोही समझकर ही प्रश्नोत्तर करता गया था। बस क्या था, वज्रभानु वस्त्र उतारकर केशलोंच करके निर्ग्रन्थ दिगम्बर हो गए। देखो भैया! वज्रभानुके भावमें सिद्ध-भक्ति व योगिभक्ति हुई या नहीं? हो गई, जिस स्वरूपका लक्ष्य किया वही तो सिद्धभक्ति है; किस रूप प्रवृत्ति और क्यों बन गई यही तो योगिभक्ति है। वज्रभानुको अत्यन्त निर्मोह देख-कर उदयसुन्दरको भी आत्मज्ञान हुआ, वह भी दिगम्बर हो गया। दोनोंकी अपूर्व विलक्षण परिणति देखकर वह रानी भी आर्यिका हो गई। देखो इन तीनोंका न इस घरको पता, न उस घरको पता; न इन तीनोंके मनमें विकल्प। यहाँ तो मोहकी ऐसी पराकाष्ठा कर रखी है कि बाहर गए तो रेलमें ही चिट्ठी लिखने लगे। वहां तो वे जंगलके जंगलमें ही रह गए।

मोक्षलक्ष्मीका स्वयंवर मंडप—मोक्षलक्ष्मीका स्वयम्वर मंडप क्या है? आत्मीय शुद्ध

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

आचरण जैसे पहिले स्वयंवर होते थे, अनेक राजपुत्र शृङ्गार ठाट-बाटके साथ मंडपमें जाते थे, जब कन्या वरणके अर्थ घूमती थी, तब अनेक राजपुत्र कोई ऐंठसे कोई प्रसन्नमुख बनाकर कोई बलसा प्रकट कर अनेक प्रकारकी बैठे-बैठे चेष्टा करने लगते थे, परन्तु विवेकशील कन्या न जाने किसे वरमाला पहिनावेगी ? कहो सुसज्जितोंपर दृष्टि न जमे और सादे भेषमें रहते हुए धूलभरेको वर ले। हुआ भी कितनी जगह ऐसा। इसी प्रकार मोक्षलक्ष्मी तो उसे ही वरेगी जो अन्तरङ्गमें गुणपूर्ण है, अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्यभाव ही अभी तक जिसके उपयोग में हैं। कहो—जो समयपर विशेष आवश्यक क्रिया करते रहें, बड़े उपसर्ग सहते रहें, मुद्रा आडम्बर लीला विशेष विशेष भी करते रहें, यदि लक्ष्यसे दूर हों तो उन्हें न वरे और जो बाह्य व्रत तपमें अग्रणी नहीं हैं किन्तु अन्तरङ्गमें गुणपूर्ण हैं अनादि अनन्त शुद्ध चैतन्यभाव ही जिसके उपयोगमें है उसे वर ले। भाई जो काम जिस उपायसे होता वह तो उस ही उपायसे होती। अन्तरङ्ग निर्मलता बिना मोक्षमार्ग नहीं है। मुक्ति तो चैतन्यमात्र आत्माको निश्चित करके ज्ञाताद्रष्टा रहने रूप समाधिमें परिणत हो जाने वाले मुनिके ही होती है। यही निश्चय चारित्र है और व्यवहारचारित्र—साधुके आहारादिके समय अर्थात् प्रमाद दशामें जो सावधान रूप प्रवृत्ति होती है वह व्यवहारचारित्र है अथवा वन्दना आदि व्यवहारचारित्र है। साधुके अन्य कषायें तो हैं नहीं केवल संज्वलन कषायके तीव्र उदयको यहां प्रमाद कहा है। प्रमादका अर्थ यहां आलस्य नहीं है। साधुवोंकी सावधान प्रवृत्तिको यहां प्रमाद शब्दसे सूचित किया है। इस प्रकार उत्सर्ग अपवादकी मैत्रीपूर्वक धर्मध्यान करने वाले साधु उत्सर्ग द्वारा कल्याण प्राप्त करते हैं। ये सभी साधु उस ज्ञायकभावकी आराधना करते हैं जिसके फलस्वरूप निश्चल ज्ञायक अरहंत सिद्ध हो लेते हैं। इस प्रकार पंचपरमेष्ठियोंको उनकी व्यक्तिमें व्यापने वाले सब परमेष्ठियोंको विदेह क्षेत्रस्थ तीर्थङ्करोंको ज्ञायकके लक्ष्यके द्वारा बहुबहु नमस्कार, आदर, पूजन, आराधन करता हूं।

अब आगे नमस्कारके भावको दुहराते हुए श्री कुन्दकुन्दाचार्य महाराज कहते हैं—

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ॥

इस प्रकार अरहन्तोंको, सिद्धोंको, गणधरोंको अर्थात् आचार्योंको उपाध्यायोंको और सर्व साधुओंको नमस्कार करके (समतापरिणामको प्राप्त होता हूं)।

द्वैत और अद्वैत नमस्कार—यहां शब्दोंके रूपमें तो अरहन्त सिद्ध आदि परमेष्ठियों को प्रणाम वन्दना नमस्कार शब्दसे नमस्कार किया है यह तो द्वैत नमस्कार है और इस द्वैत नमस्कारके द्वारसे आचार्य भावनमस्कार अद्वैतनमस्कार करते हैं। मैं आराधक हूं और ये अरहंत आदि आराध्य देव हैं, इस प्रकार आराध्य आराधकके विकल्परूप विनयादि द्वैत नमस्कार

Report any errors at vikasnd@gmail.com

है। रागादि सर्व उपाधिविकल्पसे शून्य परमसमाधिके बलसे आत्मामें ही आराध्य आराधक भावकी परिणति होना भावनमस्कार अद्वैत नमस्कार है। प्रणाम तो कायकृत विनय है और वन्दना वचनकृत विनय है और प्रणाम वन्दना जिसके बाह्यरूप बन जाते हैं ऐसा गुणानुराग-रूप वितर्क मानसिक विनय है। उक्त द्वैत नमस्कारमें जो भगवानके साथ अपने स्वभावका सन्तुलन करते जाते हैं उस संतुलनमें स्वभावपर दृढ़ दृष्टि होनेसे यह ही मैं आराध्य हूं, यही मैं आराधक हूं, इस प्रकार स्वयं भाव्य स्वयं भावक भावकी परिवृद्धि होनेसे जब स्वपरके भावका विलय हो जाता है वहाँ ज्ञायकताका संवेदन रहता है वह अद्वैत नमस्कार है अद्वैत विनय है।

वैसे तो हम सभी जो करते हैं अपना ही विनय करते हैं किन्तु जब विनयावस्थाका लक्ष्य मात्रपर न हो तब वह अद्वैत विनय है। हम क्या कभी अरहन्तका विनय कर सकते या सिद्धका विनय कर सकते हैं? पहिली बात तो यह है कि विनय हमारे चारित्रगुणकी अवस्था है वह अवस्थावानमें ही व्याप्य है सो वह विनय हमारा भावरूप ही परिणाम है, वह हमारा भाव ही विनय है व भावका विनय है उस विनयरूप परिणामका जो विषय है उसका विनय उपचारसे कहते हैं किन्तु गुणानुरागी अन्तरात्मा ऐसा बहुमान करता ही है। इस तरह यहाँ द्वैत नमस्कार द्वारा अद्वैत नमस्कार अभीष्ट है। अद्वैत नमस्कार रूप फलके बिना द्वैत नमस्कार आत्मीय परमपदमें स्थापित नहीं कर सकता, मात्र वह शुभोपयोग है। द्वैतनमस्कार तो सामान्यतः मिथ्यात्व या सम्यक्त्व किसी भी अवस्थामें हो सकता है परन्तु अद्वैत नमस्कार सम्यग्दृष्टिके ही होता है। भक्तको भगवानके पास इतना पहुंचना चाहिए कि पास तो क्या खुद ही तद्रूपयोगी हो जावे। जहाँ सोऽहंके सो (सः) का विकल्प भी न रहकर व अन्य भी सर्व विकल्पोंसे अत्यन्त मुक्त होता हुआ केवल अहंवा अनुभवी रह जावे। वही परमसमाधि है, वही निर्विकल्प परिणति है वही स्वानुभव है अद्वैत विनय है अद्वैत नमस्कार है। यह केवल साधुकी लीलाकी ही बात नहीं है, हम आप भी जितनी भी स्थिरता हो उसीके ही अनुकूल सही भावविनय भावपूजाका अनुभव करनेका लक्ष्य रखें।

द्रव्यवन्दनमें भी भावकी आवश्यकता—मंदिरोंमें द्रव्य पूजन करते हैं सो तो गृहस्थों के योग्य ही है परन्तु उस ही प्रक्रियामें जो पाठ पढ़ते हैं उसके आश्रयसे, जिस छविका दर्शन करते हैं उसके आश्रयसे, जो शब्द सुनते हैं उसके आश्रयसे भावविनयकी ओर बढ़ें। पूजामें पढ़ते हैं "विदंभ वितृष्ण विदोष विनिद्र। परात्पर शंकर सार वितन्द्र। विकोप विरूप, विशंक विमोह प्रसीद विशुद्ध सुमिद्ध समूह" इस पदका अर्थ अपने स्वभावमें भी लगावें। स्वभावसे मैं पूर्ण सिद्धके समान हूं। जो सिद्धमें है वह है मुझमें है, जो मुझमें नहीं वह सिद्धदेवमें भी नहीं। यहां अपने स्वभावकी व सिद्धके व्यक्तभावकी संधि की गई है। उसमें अद्वैत नमस्कार आपतित है, आचार्य महाराज यह अद्वैत नमस्कार किसलिये कर रहे हैं? जो भाव है वह सरल राग

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

रहनेपर कहे बिना नहीं रहा जा सकता। ग्रन्थकार स्वयं आगेके छन्दमें कहने वाले हैं कि नमस्कार करके समतापरिणामको प्राप्त होता हूं। जीवका सुखका स्थान समतापरिणाम है, और समताका उल्टा दुःखका स्थान है। समता—इसे अन्तके शब्दसे प्रारम्भ करके आदि तक पढ़ो ता म स। तामस परिणाम दुःखमय है।

कुटेवकी अड़चन—भैया सबसे बड़ी अड़चन यह है कि संसारी जीव करता तो उल्टा पुरुषार्थ है और मानता है कि मैं सीधा काम कर रहा हूं। बतावो भ्रममें कहीं सुरभेरा हो भी सकता ? नहीं, क्योंकि उल्टे पर छाप सच्चीकी लगाये बैठे हैं। एक ग्राममें लुहार था। उसका घर गाँवके कुछ अन्तमें था, सो वहांसे कोई नया मुसाफिर गुजरे और वह पूछे कि अमुक गांवका रास्ता कौन है सो रास्ता तो पूर्वमें था बता देता था दक्षिणमें और साथ ही यह भी कह देता था कि देखो इस गाँवके लोग मजाकिया बहुत हैं सो तुमको यह कहेंगे कि इस गांवका रास्ता यह नहीं है दूसरी ओर है, सो तुम किसीकी एक न मानना। इस तरह मोही प्राणी भी उल्टे रास्तेपर चलकर मानते हैं कि हम सीधे मार्गपर चल रहे, सो किसी ज्ञानीकी भी एक नहीं मानना चाहता। हाय ! पंचेन्द्रियोंके विषयोंके मोहमें ऐसे डूब गये कि संतोषकी सांस भी नहीं ले पा रहे। भाई ! अब तक जो हुआ सो हुआ अब अपनेको सम्हालो और वस्तुका सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके आत्मसुखके सत्यमार्गमें लगो। मैं क्या कहूं ? एक शहरमें एक श्रावकके आहार किया। आहारोपरान्त थोड़ी देरको बैठ गया। वहां एक वृद्ध महाशय करीब ७५ वर्षसे भी ऊपरके बैठे थे, मैंने उनसे वैसे ही कह दिया कि बाबा जी आपके तो पूरा ब्रह्मचर्य होगा ? क्या उत्तर मिला सो मुझे तो कहनेमें भी संकोच आता।

ब्रह्मचर्यकी साधनाका अनुरोध—नवयुवक बन्धुवो ! चेतो, ब्रह्मचर्य जीवनकी अनुपम साधना है, सर्व फल इसकी बुनियादपर लगते हैं। ब्रह्मचर्यकी क्षतिसे तन मन धन ज्ञान वचन सभी शिथिल हो जाते हैं, पुण्य क्षय हो जाता है। आप स्वयं बुद्धिमान हैं, इस तपका आदर करो जहां तक बने स्वस्त्रीसे भी ब्रह्मचर्यसे रहो। यदि पूर्ण ब्रह्मचारी गृहस्थीमें न रह सको तो प्रतिमाह २६-२७ दिन या २९ दिन जैसा समझो पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहो। इस विषयमें निःसंकोच होकर किसी वृद्ध महाशयसे पूछो कि ब्रह्मचर्य न रखनेके फलमें क्या प्राप्त होवेगा ? अब भी कितने ही नवयुवक ऐसे हैं जो बालब्रह्मचारी हैं अथवा बहुत अधिक इस समयमें जीवन बिताते हैं। मेरठमें ताराचंदजी एम. ए. हैं, करीब ३४ वर्षकी आयु होगी, माहमें २९ दिन ब्रह्मचर्यसे रहते हैं। वह ३०वां दिन भी प्रायः ब्रह्मचर्यमें ही है। कितने ही तो आजन्म ब्रह्मचर्य ले चुके हैं। सहारनपुरमें रतनचन्दजी व नेमिचन्दजी वकील हैं, अनेक ऐसे भव्यजीव हैं उनकी ओर भी देखो। जो समयपर चूकता है वह पीछे पछताता है। इसलिये ब्रह्मचर्यका आदर करो व सभी इन्द्रियोंका संयमन करो। अनन्तकाल व्यतीत हो गया। जब अब तक इन्द्रियोंसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

तृप्ति नहीं प्रत्युत संक्लेश दुर्गमन ही बढ़ा तो अब क्या आशा करते हो ? मुख मोड़ो विषयोंसे, परलक्ष्यसे, विषयोंके भावसे। जिसे जबसे बोध जग जाय तभीसे धर्ममें लग जावे।

धर्मपालनसे ही लाभ—धर्म ज्ञानमात्रभावकी परिणतिका अनुभव है। बाह्यमें तो पुण्यसे बढ़कर और क्या होवेगा ? उत्तम परिणति स्वयंकी स्वयंके स्वभावरूप रहनेमें है। "ज्ञान समान न आन जगतमें सुखको कारण" मनुष्य जन्म भव तो जरूर है परन्तु दुर्लभ भव है। मोक्षप्राप्तिसे पहिले जो भव रहता वह मनुष्यभव ही है। अब तो मूर्च्छा परिणामको छोड़ो। अन्यथा मौतके घाटपर तो हम सबको उतरना ही होगा। फिर समय चूकेका बड़ा प्रायश्चित भोगना होगा। यहाँ बाह्यपदार्थोंके संग्रहमें क्या मिलेगा ? कोयलेकी दलालीमें काले हाथ तो जरूर होते, फिर भी पैसे तो दो मिल ही जाते। किन्तु यहां अध्यात्म प्रकरणमें देखो बाह्य-पदार्थोंके संग्रह विग्रहरूप क्रय-विक्रय करनेमें क्या हाथ लगेगा, उल्टा गांठका ही खोया जायगा, अपना निश्चय प्राण ज्ञान दर्शन मलीन ही होगा। मैं समझता हूं कि हम सबने काफी धक्के खा लिये हैं। अब निज चैतन्य भगवानकी दृष्टि करो, उसका प्रसाद पावो। जिसने उस निज चैतन्यदेवके स्वरूपकी सत्कथा भी चावसे सुनी, वह भव्य ही है। होनहार ठीक समीप आये बिना चैतन्यकी बात भी सुननेकी रुचि नहीं होती। श्री पद्मनन्दि पंचविंशतिकामें लिखा है—"तत्प्रति प्रीतिचित्तेन येन वार्तापि हि श्रुता। निश्चितं स भवेद्भव्यो भाविनिर्वाणभाजनम्।" जिसने चैतन्यतत्त्वका स्वरूप प्रीतिचित्त होकर सुना वह भव्य ही है, मोक्षका पात्र है। ऐसा जीव विरला ही होता है। बहुमतके सहारे आत्मजीवनका निर्णय मत बनाओ। हां बहुमत ही लेना हो तो ज्ञानियोंका लो। लौकिक जन तो प्रायः पापकार्यमें ही लगे और उस ही में दूसरोंको लगा रहे। ज्यादा बढ़े तो "पुण्य करो पुण्यसे सर्व सुख मिलेगा" ऐसा कहकर पर-लक्ष्यी हो रहे और दूसरोंको परलक्ष्यी बना रहे। अच्छा भाई शुभ परलक्ष्यी रहो, स्त्री पुत्र देवांगनायें राजपाट लूट लो परन्तु अंतरंगसे तो कहो ध्रुव निर्विकार एक रस स्थायी आनन्द मिल जावेगा ? नहीं। संसारके सभी यह दुःखमय हैं। पुण्यमें व पुण्यके विकारमें व पुण्यके फलमें जिनकी रुचि है वे स्वलक्ष्यसे भ्रष्ट हैं। निज स्वभावकी पहिचान बिना निर्वाणमार्ग शान्तिमार्ग नहीं मिलेगा।

धर्मसे ही मनुष्यकी विशेषता—भैया ! मनुष्यकी विशेषता धर्मसे ही है, अन्यथा किसी कविने कहा—"आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणां। धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनः पशुभिः समानः॥" अहार नींद डर काम ये चार मनुष्यमें भी पाई जाती हैं और पशुमें भी पाई जाती हैं, इस दृष्टिमें दोनों समान हैं, मनुष्यमें केवल धर्मकी विशेषता है। तो इस कविने वर्णनमें मनुष्यपर फिर भी विशेष कृपा की। नहीं तो बात तो ऐसी है कि एक धर्मको छोड़कर बाकी कुछ भी कला लो, सब कलावोंमें मनुष्य पशुसे हीन है। वह कैसे ?

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

देखो जगतमें जिसके लिए उपमा दी जाती है वह तो लघु होता है और जिसकी उपमा दी जावे वह महान् होता है। जैसे कवि कहने लगते कि इसका मुख चन्द्रमाके समान है तो यहां चन्द्रमा उत्कृष्ट हुआ। इसी तरह प्रकृतमें घटाओ। मनुष्यके बलके लिए लोक उपमा देते हुए कहते हैं कि यह मनुष्य शेरके समान है। तब बतावो बलमें शेर ही बड़ा हुआ ना। और इस मनुष्यकी चाल हंसकी तरह है, इसकी नींद कुत्तेकी तरह है, इसका स्वर कोयलकी तरह है। तो यहां देखो चाल, नींद, स्वरमें मनुष्यसे बढ़कर ही तो ये पशु हुए। शरीरकी बनावटमें कहते हैं कि इसकी नाक सुवा सरीखी है, इसकी जंघा केलेकी तरह है आदि, लो अब स्थावरोंसे भी हल्का नम्बर आ गया। सारांश यह है कि मनुष्य जन्मकी शोभा धर्मसे है। इसलिए भाई भगवान्की पूजा होने दो, षट् आवश्यक होने दो, व्यवहार धर्म चलने दो। अपना ध्येय मत छोड़ो। आपका उद्देश्य ज्ञानमात्र स्वभावरूप रहना है। लक्ष्य विशुद्ध रखिए।

ये गाथायें श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यने नमस्कार करते हुए कीं। वे द्वैतनमस्कार करते हुए अद्वैतनमस्कारमें प्रविष्ट होते थे। उनमें प्रमाद व निष्प्रमाद अवस्थाका क्षण-क्षणमें परिवर्तन होता था। वे अपनी परिणतिसे, वाणीसे हमको यह सीख दे रहे हैं कि भव्यो! तुम भी व्यवहारमें हो तो क्या करें वह तो आपतित ही है। अपने ज्ञान दर्शन स्वभावकी दृष्टि निश्चल रखो। अब नमस्कार गाथायें कहकर आचार्य अपना आशय प्रकृत ग्रन्थके मूल विषयको ही ध्वनित करते हुए मानो कह रहे हैं—

तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज ।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥

उन सब अरहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधुवोंके विशुद्ध दर्शनज्ञानप्रधान आश्रमको पा करके समतापरिणामको प्राप्त होता हूं जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

विशुद्ध आश्रम—यहां व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियोंसे वर्णन है, प्रत्युत निश्चय की मुख्यतासे वर्णन है। इनके आश्रमको पाकर समताको प्राप्त होऊं। इनके आश्रम आवास स्थानको प्राप्त करके समताको प्राप्त होता हूं यह व्यवहार अर्थ है। निश्चयसे तो जिस आश्रम को प्राप्त करना है वह आश्रम कैसा है? सहज शुद्ध दर्शन ज्ञान है स्वभाव जिसका, ऐसे आत्म-तत्त्वको श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका और बोधरूप सम्यग्ज्ञानका सम्पादन करने वाला है। अब विचार करो कि मेरे सम्यग्दर्शनका व सम्यग्ज्ञानका सम्पादन करने वाला कौन है? सहज स्वभावका श्रद्धान व अवबोध करने वाला कौन है? वह मैं ही हूं, मेरा आश्रम है, भावाश्रम है, मेरी भूमिका की यह बात है। अन्यथा चलो, अरहंतके घर या चलो सिद्धके घर जहाँ वे बैठे हैं। कहाँ जाते? सिद्धके आश्रममें तो कोई शरीरी रहकर जा भी नहीं सकता और पहुंचेगा सकर्म ही रहकर तो निगोदके वेशमें पहुंचेगा।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

भावाश्रमकी शोभा व विस्तीर्णता—विचारिए, साधु जिस जिस गुफामें जिस जिस वनमें जिस जिस पर्वतपर जिस जिस नदी तटपर जिस आसनसे विधानसे तपस्या कर रहे हैं विचारिये, सर्वक्षेत्र सर्वसाधु सर्वविधान इस मनमंदिरमें आ गया, यह मनमंदिर इनका महान् आश्रम बन गया। सर्वसाधुओंका आश्रम मेरा मनमंदिर हो गया। इसी तरह उपाध्यायोंको विचारिये—कैसा कहां पठनपाठन कर रहे हैं विशेषतया एकाग्र होकर विचारते जाइए, आचार्यों को भी उनके कृपाकार्यको लेकर विचारिए, सबका आश्रम मेरा यह मनमंदिर हो रहा है। अरहंत सिद्धोंके गुणानुरागके भावोंको विलासका स्थान भी यह मन-उपयोग हो रहा है। यह तो अन्तरंगमें भी द्वैतकी अपेक्षाकी बात है, अब यही भावाश्रम अद्वैतरूपमें होता है। तब वहां उस आश्रमको पाकर निश्चयतः शांति-समता प्राप्त होती ही है। इनका स्वरूप जो मेरे उपयोग में जा रहा है वही मेरा आश्रम है, उसे ही मैं प्राप्त हो रहा हूं।

अब विवेकी गृहस्थो! भाव गृहस्थाश्रमको छोड़कर भगवत्पंचपरमेष्ठियोंके आश्रममें जाकर ज्ञान दर्शन परिणामका अभ्यास करो। यहांके गृहस्थाश्रममें आश्रयकी मुख्यतासे कितनी झंझटें हैं? विकल्पकी मुख्यतासे असंख्यात लोक प्रमाण उपसर्ग हैं, विपदावोंमें पड़े हुए विपदावोंके आदी हो गये हैं। यदि यह परलक्ष्य छूट जाय (ज्ञानमें क्षति नहीं) तो इस अन्तरात्मा का शीघ्र उद्धार हो जाय। अब परसे लक्ष्य हटाकर स्वमें उपयुक्त होना चाहिये। वस्तुविज्ञान इस अनुपम चारित्रका मूल है। वस्तुका निर्णय कर उसके ज्ञाता रहो। वस्तु स्वतंत्र है, अखंड है। किसीमें किसीका प्रवेश नहीं, किसीकी परिणतिसे मेरी परिणति नहीं, कोई मेरा रक्षक नहीं। मेरे स्वभाव—सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान ही मेरे रक्षक हैं। मैं उक्त निज स्वभावाश्रमको पाकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न होकर साम्यभावको प्राप्त होता हूं।

साम्यभाव—यह साम्यभाव क्या वस्तु है? सर्व विज्ञानका फल है, सर्व व्रत तपस्यावोंका सार है, परात्परभाव साम्यभाव ही है। जहाँ रागद्वेषका लेश मालिन्य न हो वह साम्यभाव है। इसे वीतरागचारित्र अथवा निर्विकल्पध्यान आदि किन्हीं शब्दोंसे कह लो सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। यहाँ तक कि मिले हुए जीव कर्मोंके भेद कराने वाली सीमा यदि है तो यही साम्यभाव है। "अहो! यह साम्यभाव तो अभी बहुत दूर है। अभी तो अणुव्रतके भाव महाव्रतके भाव समिति तपस्यावोंके भाव आदि बहुतसे भाव करनेको पड़े हैं। साम्यभावकी बात तो इन सबको पार करनेके बाद ऊँची अवस्थामें करनेकी है।" यह पर्यायबुद्धिकी हालत है। ज्ञानी को तो मात्र वही लक्ष्य दीखता, वीतरागचारित्र-साम्य उसकी सीधी एक नजरमें है। बीचमें गुणस्थानपरिपाटीके अनुसार सरागचारित्र चारित्रमोहके मन्दोदयवश जबरदस्ती आ जाता है, आनेपर भी ज्ञानीके लक्ष्यसे वह छूटा ही है। यह सरागचारित्र औपाधिक है, जीवके कषायकण के निमित्तसे है, यह मात्र पुण्यबन्धका कारण है। मुक्ति, निर्वाण, पूर्ण स्वातन्त्र्य तो धर्मका

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

फल है। सम्यग्ज्ञान प्राप्त साधुका लक्ष्य तो वीतरागचारित्र अर्थात् धर्म है, उसका परिणाम तो ज्ञाताद्रष्टा बने रहनेका है। सरागचारित्र प्रवृत्तिमें असावधानता नहीं है, फिर भी प्रवृत्तिमें असावधानता नहीं है। अहो कैसी विलक्षण अलौकिक परिणति है योगीकी ? ठीक ही है, लक्ष्य ऊंचे हुए बिना वह अनुपम लक्ष्य तत्त्व प्राप्त नहीं हो सकता।

जो व्यवहारचारित्रमें सर्वथा उपादेय बुद्धि रखता है वह अंधेरेमें है तथा जो अनुभव बिना निश्चयकी वार्तामात्र करके "व्यवहारचारित्र छोड़ने योग्य है" रटा करता वह भी अंधेरे में है। लक्ष्य निश्चयका रखें व्यवहारचारित्र छूट जावेगा। व्यवहारचारित्र छूट जानेकी चीज है। पुण्यबंधका कारणभूत सरागचारित्र सामने आवेगा तो जरूर, परंतु उसे दूरसे ही उल्लंघन करके वीतराग चारित्र नामके समताभावको प्राप्त करूंगा। कैसा है वह समताभाव—समस्त कलंक कालिकासे रहित है इसी कारण निर्वाणप्राप्तिका कारणभूत है। उसे पानेका लक्ष्य हो।

साम्यसदनमें गमनकी पद्धति—जरा छतपर जानेके लिये सीढ़ीपर चढ़ने वालोंके भाव और चेष्टाको देखो, जो निश्चयचारित्र और व्यवहारचारित्रके रहस्योंका प्रदर्शन करने वाला है। वह मुख कुछ ऊपर उठाये हुए ऊपर जानेका संकल्प रखता हुआ सीढ़ीपर रुचिसे कदम रखता है परन्तु रखता है उसे छोड़नेके लिये। यदि जिस सीढ़ीपर पैर रखा है उसीपर ही रखे रहे छोड़े नहीं तो छतपर कैसे पहुंचे अथवा छोड़कर नीची सीढ़ीका आश्रय करे तो भी छतपर पहुंचना तो दूर ही है उल्टा नीचे ही पहुंचेगा एवं जिस सीढ़ीपर पैर रखनेको होता है वहां वह कुछ रुचि और बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति करता है किन्तु कुछ ही अनन्तर अन्य ऊपरकी सीढ़ी चढ़नेको उद्यमी होनेपर पहिला कदम वहाँ न जमकर ऊपर उठनेको होता है। जब तक सीढ़ियों तक रहता है तब तक वह विराम नहीं लेता परन्तु लक्ष्यस्थानपर पहुंचकर ही विराम पाता है।

इस ही प्रकार ज्ञानी आत्माके यथार्थ स्वभाव दृष्टि ज्ञप्तिको पहिचाननेके कारण ज्ञाता-द्रष्टा रहनेरूप भावका ही लक्ष्य रखता है। ऐसे लक्ष्य वाले ज्ञानीके सराग अवस्थासे वीतराग अवस्थामें पहुंचनेके लिये ज्ञानभावका पुरुषार्थ होता है। उसके सफलताके मार्गमें जैसे वह अधिक राग अवस्थाको छोड़कर कुछ कम कुछ कम राग अवस्थाके पदपर पहुंचता है, उन प्रत्येक पदोंमें व्यवहार रहता ही है, अपूर्व व्यवहार पदपर पहुंचना प्राथमिक व्यवहार छूटनेके लिये है। यदि जिस व्यवहारमें उसकी प्रवृत्ति हुई है उसीपर रहे, छोड़े नहीं, आगे बढ़े नहीं तब ज्ञायकपदपर कैसे पहुंचेगा तथा मंदराग वश होने वाले शुभ व्यवहारको छोड़कर अविरत पदपर जावे तो परमलक्ष्यपर पहुंचना तो दूर रहा उल्टा संसार गर्तमें ही गिरा रहेगा एवं जिस शुभ व्यवहार रूप होनेको होता है उसे इच्छापूर्वक भी करता है किन्तु कुछ ही अनन्तर उपरिवर्ती भावको उद्यमी होनेपर प्रथम व्यवहार न जमकर ऊपर उठनेको होता है। जब तक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

शुभोपयोगमें रहना पड़ता है तब तक वह अपनेमें पूर्णताकी बात नहीं समझता परन्तु लक्ष्यभूत पदमें अनुभवी रहनेपर विराम-विश्राम सुखधाम पा लेता है। सारांश यह कि उच्चभाव होने पर व्यवहार छूट जाता जानकर व्यवहार छोड़ा नहीं जाता है। सिद्धान्त ग्रन्थोंमें भी कहा है—जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छये मुयए। एकेण विणाछिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥ यदि जिनमतको प्राप्त करना चाहते हो तो निश्चय व व्यवहारको मत छोड़ो, क्योंकि व्यवहारके बिना तो तीर्थ नष्ट हो जावेगा और निश्चयके बिना तत्त्व नष्ट हो जावेगा। जिसको तत्त्वप्राप्ति हो जावेगी उसके भी व्यवहार तो चलता ही रहेगा किन्तु लक्ष्य विशुद्ध तत्त्वरूप होगा। चढ़ने वाला जिस सीढ़ीपर पैर रखता है वह छोड़नेके लिये ही रखता है और आगे बढ़नेके लिये। जब छतपर चढ़ जाते हैं तब सीढ़ी तो स्वयं ही छूट जाती है। यह तो परवस्तुके लिये परवस्तुका दृष्टान्त है। किन्तु प्रकृतमें तो ज्ञानीके करनेकी बात क्या? उसकी कुशलता तो यही है कि व्यवहारको छोड़ना न पड़े, किन्तु छूटता जाय।

सरागचारित्रका पारीकरण—प्रकृतमें आचार्य कहते हैं—कषायकण होनेसे ज्ञानी जीव के सराग चारित्र बीचमें आता है, फिर भी उसे दूरसे उल्लंघन करके समस्त कषाय विमुक्त होनेसे निर्वाणप्राप्तिके कारणभूत वीतराग चारित्राख्य साम्यभावको प्राप्त होता है। यहां दूरसे उल्लंघन करके शब्द लिखा है, छोड़ करके शब्द नहीं लिखा है अर्थात् ज्ञानीके आत्म-पर्यायमें सराग चारित्र आता तो है उसे छोड़नेकी उस समय चर्चा क्या? है—को लक्ष्यने उल्लंघन कर दिया, उल्लंघ्य चीज है तो अवश्य, परन्तु उसपर उपादेयता या उस रूपका श्रद्धान (कुश्रद्धा) न होनेसे वह उल्लंघित हो जाता है। बम्बई जाने वालेको बीचमें स्टेशन तो मिलते हैं किन्तु उन सबको उल्लंघता हुआ जाता है। यदि बीचकी किसी स्टेशनपर ही प्रेम करके रह जाय तो बम्बई नहीं पहुंच सकेगा। वस्तुस्वरूपका निर्णय करके अपने भीतर रमना चाहिये। जगतमें मैं समस्त चेतन अचेतन पदार्थोंसे भिन्न हूं, परिवारसे भिन्न हूं, इस शरीरसे भिन्न हूं, शरीरके कारणभूत सूक्ष्म शरीर (तैजस कार्माण) से भिन्न हूं, सूक्ष्मशरीरके कारणभूत कर्मसे भिन्न हूं, कर्मके विपाकरूप रागादिसे भिन्न हूं, मतिज्ञानादिसे विलक्षण हूं, केवलज्ञान पर्यायरूप मात्र नहीं हूं, मैं अनादि अनन्त स्वसंवेद्य चैतन्य तत्त्वरूप हूं अर्थात् जो अनादिसे सब पर्यायोंमें अनुगत रहा केवलज्ञान पर्यायमें भी अनुगत होगा वह मैं हूं। कैवल्य पर्याय द्रव्य स्वभावके अनुकूल है वहां द्रव्यका पर्यायका इतरेतरविलीनभाव है तब भी वह सामान्यविशेषात्मक है। वह एक तत्त्व है तथापि इस संकल्प-विकल्पसे भी रहित शुद्धस्वरूपके अनुभवरूप जब हूं तब मैं वह हूं। इस लक्ष्य वालेके मार्गमें सरागचारित्र आता है तब भी उसको उल्लंघन करके वीतरागचारित्रपर ही दृष्टि रहती है। यदि यह सरागचारित्रमें ही रुक जाय तो उसका मार्ग भी रुक जायगा।

http://sahjanandvarnishastra.org/

आत्मोपयोगका विश्रामभवन—निश्चयचारित्र तो आत्मोपयोग रूप छत है। व्यवहारचारित्ररूप सीढ़ियोंपर चढ़ने वालेके अपूर्व व्यवहारमें प्रवृत्ति होती है और प्रथम व्यवहार की निवृत्ति होती है, फिर भी स्वरूपसे लक्ष्य भ्रष्ट नहीं होता है। अहो ज्ञानीका विलक्षण विलास है, अलौकिक ढङ्ग है। उक्त पंचपरमेष्ठियोंमें से जिनके आश्रयसे ज्ञानीका व्यवहार विशुद्ध होता है उनमें से अरहन्त और सिद्ध ये दो देव हैं तथा आचार्य उपाध्याय साधु ये तीन गुरु हैं और अरहन्तदेवकी दिव्यध्वनिके निमित्तसे गणधरदेव द्वारा ग्रंथित व परम्परागत उपदेशक शास्त्र शास्त्र है। देव शास्त्र गुरुके आश्रय बिना धर्ममार्गकी प्रगति नहीं होती। देखिये—संगीत सीखने वालोंकी वृत्तियाँ—उनके उपयोगमें कोई एक ऐसा संगीतका पूर्णज्ञ अपनी बुद्धिके अनुसार रहता है जिसे वह जानता है कि दुनियामें यह पूर्ण संगीतज्ञ है और मुझे इस प्रकार बनना चाहिए। वह विशेषज्ञ तो हुआ संगीत विषयका देव। अब वह देव तो दुष्प्राप्य है तब अपने ही नगरमें जो संगीत सिखाने वाला मिले उस ही के पास सीखता है वह है उसका गुरु, और जो पुस्तकें सरगम आदि विधिपूर्वक शिक्षाके निमित्त हैं वे संगीतके शास्त्र हैं। तब देखिये भैया! संगीत सीखनेमें संगीतके देव शास्त्र गुरु आ गए। प्रत्येक विद्या की ऐसी ही बात है। तभी तो आत्मविद्यार्थियोंके द्वारा आत्मविद्याके आप्तदेव, आत्मविद्याके गुरु, आत्मविद्याके शास्त्र अपेक्षणीय हैं। इसीलिए श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि अरहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधुवोंके द्वैतनमस्कार द्वारा अद्वैतनमस्कार करके उनके आश्रमको (भावाश्रमको) प्राप्त करके समताको प्राप्त होता हूं, मोक्षमार्गको प्राप्त होता हूं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रकी एकाग्रताको प्राप्त होता हूं। यह स्थिति वह है "जहां ध्यान ध्याता ध्येयको न विकल्पवच भेद न जहां। चिद्भाव कर्म चिदेश कर्ता चेतना किरिया तहां॥ तीनों अभिन्न अखिन्न शुद्ध उपयोगकी निश्चल दशा" रूप स्थिति है।

व्यवहारका अविरोध व निश्चयका आलम्बन—यहाँ यह प्रयोजनकी बात है कि भाई व्यवहारनयका विरोध न करके उसमें तटस्थ रहकर निश्चयनयके अवलम्बनसे मोहको दूर कर फिर सर्वपक्षोंको दूर करके निर्विकल्प आत्मचारित्रमें रहे यही सुखमार्ग है, सुख है। क्योंकि वस्तु द्रव्यपर्यायात्मक है, द्रव्य निश्चयनयका विषय है, पर्याय व्यवहारनयका विषय है तब वस्तु भी निश्चयव्यवहारात्मक समझिये। व्यवहारसे छूटकर केवल निश्चयमात्र कौन वस्तु है? ऐसा कौन रह सकता है? सिद्ध भगवान भी जो द्रव्यकर्म भावकर्म नोकर्मसे सर्वथा रहित हैं, हमारे व्यवहारसे परे हैं। वे भगवान भी व्यवहारपर्यायसे रहित नहीं हैं जो उनका द्रव्य है वह निश्चयका विषय है और जो द्रव्यका परिणमन है, गुणोंकी तरंगें हैं शुद्ध भी है तब भी व्यवहारका विषय है, व्यवहार है। मुमुक्षु ज्ञानीकी दृष्टि द्रव्यपर है तब भी वह पर्याय व्यवहारसे शून्य नहीं है। इस प्रकार ४ गाथाओंमें अभीष्ट पथप्रदर्शक उत्कृष्ट आत्मावोंको

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नमस्कार करके उसके फलस्वरूप मैं समताभावको प्राप्त होता हूं।

आशयकी स्वच्छतासे धर्मका प्रारम्भ—भैया! वीतरागके नमस्कारका उपासन-
आराधनका ध्येय वीतरागता प्राप्त करना होना चाहिये। देखो जो जैसा होता है उससे उस
बातकी आशा तो की जा सकती है, जो नहीं उसकी आशा क्या? धनीके पास जाकर कोई
गूढ़ ज्ञानकी बात पूछे या चाहे तो क्या मिल सकती है और ज्ञानीके पास जाकर कोई हजार
रुपया या व्यापारकी बात चाहे तो क्या मिल सकता है? इसी तरह वीतरागके पास आकर
कोई पुत्र धन मुकद्दमा जय आदिकी बात चाहे तो मिलना तो दूर और पापबंध कमा लेते हैं।
और कोई सरागके संगमें रहकर वीतरागताकी बात चाहे तब क्या आशा हमें अपना ध्येय
निर्मल ही रखना चाहिये। वस्तुका यथार्थस्वरूप समझकर अपने अंतरंगके कपाट खोलना
चाहिये। निःकांक्षित अंगका लक्ष्य-कर्मपरवश शान्त दुःखोंकरि व्याप्त पापबीज सुखमें अना-
कांक्षा होना है, उसमें भी विशेषकर "धारि वृष भवसुखवाञ्छा भाने" धर्म धारणकर संसार
के सुखकी चाह न करना तो कमसे कम जरूरी है ही। भाई धर्मकी ओटमें सासारिक सुख
की चाह तो अनंतानुबंधी लोभ है। धर्मके समय तो अपनी स्वच्छता तो पूरी ही रखो।
अपनी उपयोग-भूमिको स्वच्छ बनाओ। अंधेरे तो अंधेरे ही हैं। धर्मके मार्गमें निर्विघ्न बढ़ना
हो तो पहिले अपने उपयोगको भेदविज्ञानसे घोटकर साफ कर निर्मल बनाओ। दो चित्रकार
थे। दोनोंने राजा से चित्र बनवानेके लिये कहा। राजाने एक भवनकी दोनों अन्दरकी भींतोंपर
चित्र करानेकी आज्ञा दी और दोनोंके चित्रका परीक्षण करनेकी व्यवस्था की। बीचमें परदा
डाल दिया गया। एक चितेरेने तो कई तरहके रंगोंसे विचित्र चित्र बनाना प्रारंभ कर
दिया। दूसरे चित्रकारने भींतको मसालेसे घोटना ही घोटना प्रारंभ कर दिया। दोनों अपने
काममें ६ मास तक लगे रहे। ६ मास बाद परदा खोलकर चित्र देखे गये तो घुटी चिकनी
भींतपर वे सामनेकी भींतके चित्रित सारे चित्र झलक गये। वे बड़ी शोभा दे रहे थे। किन्तु
दूसरी भींत पर वे सब चित्र रूखे रूखे ही दीखते थे। सो भैया! भेदविज्ञानके उपयोगसे अपने
आपको सम्यग्ज्ञानी और निर्मल बनावो। स्वामी अमृतचन्द्रजी सूरिने कहा "विरम किमपरे-
णाकार्यकोलाहलेन स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकं। हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्न-
धाम्नो ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धि॥" आत्मन्! व्यर्थके कोलाहलोंसे विराम ले
उनसे तुझे कोई लाभ न होगा। एक ६ माह स्वयं अपने आपके अभिमुख होकर तो देख!
फिर तेरे उपयोगमें पुद्गलसे भिन्न स्वरूपवाले निज आत्माकी प्राप्ति होती है या नहीं। होगी
ही, उस निज चैतन्य भगवान्को देखकर उसीमें रत होकर अपने अनन्त सुखके मार्गमें लगो,
यही भगवानका उपदेश है।

हेय उपादेयके विवेचनका आरम्भ—यहां तक ४ गाथाओंमें नमस्कार और पांचवीं

Version 1

गाथामें उद्देश्यपरक संकल्प कहा। अब आगे जिससे निर्वाणप्राप्ति होती है ऐसे समताभाव की प्रतिज्ञा की थी, उस ही निर्वाणकारणका सविशेष वर्णन करते हुए यह अब बताते हैं कि उक्त वीतरागचारित्र और सरागचारित्रमें कौन तो इष्ट फल वाला है और कौन अनिष्ट फल वाला है, इसकी विवेचना करते हैं, भेद करते हैं—अथायमेव वीतरागसरागचारित्रयोरिष्टानिष्ट-फलत्वेनोपादेयहेयत्वं विवेचयति। अब ये कुन्दकुन्द देव ही वीतरागचारित्रके इष्ट और अनिष्ट फलको दिखाकर उनके उपादेय और हेयपनेका विवेचन करते हैं:—यहाँ अयं शब्दसे कितनी उच्चभक्ति ही टीकाकारने प्रदर्शित की है? जब तक कोई भक्त अपने आदरणीय आराध्यसे अपनेको भिन्न समझता है, तब तक वह उन्हें आप कहता है, सम्मानप्रदर्शनार्थ बहुवचनका प्रयोग करता है। किन्तु जब भक्त अपने आराध्यसे अपनेको अभिन्न समझने लगता है, तब वह आपके स्थानपर 'तू' शब्दका और बहुवचनके स्थानपर एकवचनका प्रयोग करने लगता है। यही बात प्रकृतमें अमृतचन्द्राचार्य चरितार्थ कर रहे हैं और 'अयं' इस पदके द्वारा कुन्द-कुन्दाचार्यके साथ अपना अभिन्नपना प्रगट कर अनुपम भक्तिका प्रदर्शन कर रहे हैं। विवेच-यति–'विच्लृ द्वैधीकरणे' धातुके लट् लकारके प्रथम पुरुषका एकवचन 'विवेचयति' यह रूप है। इसका अर्थ मिली हुई वस्तुओंको पृथक्-पृथक् करना होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ग्रन्थकार सरागचारित्र और वीतरागचारित्रका फल बताकर उनके हेय उपादेयताका विश्लेषण करते हैं:—

गाथा—— संपज्जदि णिव्वाणं देवासुर मणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥

धर्मघटनाओंमें हेय उपादेयका संकेत——जीवके दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्रसे देवेन्द्र, असुरेन्द्र और मनुष्येन्द्र अर्थात् चक्रवर्तीके विभवपूर्वक निर्वाण प्राप्त होता है। उपर्युक्त कथन का विश्लेषण यह है कि वीतरागचारित्रसे निर्वाण प्राप्त होता है और सरागचारित्रसे देवेन्द्रादि की विभूतियाँ प्राप्त होती हैं। अतः सरागचारित्र हेय है और वीतरागचारित्र उपादेय है। यहां सरागचारित्रमें जो राग लग रहा है, वही हेय है; चारित्र हेय नहीं है। राग और चारित्र दोनों एक ही गुणकी पर्याय हैं। आत्मामें कदाचित् राग और चारित्र एक साथ रहता है। लोग सरागचारित्रको चारित्रका घातक मानते हैं, यह उनकी भूल है। एक ही चारित्र गुण का परिणमन राग है और उसीका परिणमन चारित्र है। राग विद्यमानचारित्रका घातक नहीं है। फिर वह किसका घातक है? यहां वध्यघातक भावका सम्बन्ध ही नहीं जुड़ता है, क्योंकि दो वस्तुएँ (पर्यायें) एक साथ नहीं रह सकतीं। एक समयमें एक ही पर्याय होती है, उसके अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद होते हैं, उनमेंसे जिनमें रागपना है वह राग अंश है और जितनोंमें वह नहीं है, वही चारित्र कहलाता है, रागके अनुभवनका नाम चारित्रका घात है। किन्तु

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

ऐसा नहीं है कि चारित्र है और उसका घात रागने किया, इसी बातको अमृतचन्द्राचार्यने अपने दूसरे ग्रंथ पुरुषार्थ सिद्धुपायमें इस प्रकार कहा है:—येनांशेन सुवृत्तं तेनांशेनास्य बंधनं नास्ति। येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥ अर्थात् सम्यग्दृष्टि जीवके जितने अंशसे चारित्र प्रगट है, उतने अंशसे उसके कर्मबंधन नहीं है, और जितने अंशसे राग प्रकट है, उतने अंशसे उसके कर्मबन्धन होता है।

सरागचारित्रका फल—मुनिकी वन्दनादि शुभप्रवृत्ति रूप क्रियाओंका नाम ही सराग चारित्र है और आत्मरूपमें लीन रहना वीतरागचारित्र कहलाता है। मुनियोंके दोनों चलते हैं, इसका अर्थ यह है कि आंशिक दृष्टिसे दोनों साथ रहते हैं, पर बोलनेमें दोनों क्रमवार बोले जाते हैं। अथवा जिस गुणस्थान तक राग व्यक्त रहता है, वहां तक सरागचारित्र है और उससे ऊपर वीतरागचारित्र होता है। इनमें वीतरागचारित्र उपादेय है और सरागचारित्र हेय है। इसका अर्थ यही है कि सरागचारित्रमें चारित्रके साथ जो राग लग रहा है, वही हेय है; क्योंकि चारित्रके साथ रहने वाले रागका फल देवेन्द्रादिके पदोंका पाना है। भगवान कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, अकलंक, विद्यानन्दी आदि आचार्योंने जैनशासनकी कितनी बड़ी प्रभावना की? हमारे उपकारके लिए अनेक ग्रन्थोंकी रचना की, यही उनका सरागचारित्र था, इसके फलसे वे मरकर कहाँ गये? स्वर्गमें। स्वर्गमें भी वे पदधारी देव ही हुए होंगे। वहाँपर देवियाँ चारों ओरसे उन्हें घेरकर बैठी होंगी, संगीत, नृत्य, नाटक आदि चल रहा होगा, रासलीला हो रही होगी, और वे भी सबके साथ सिर हिला-हिलाकर कदाचित् तन्मय हो रहे होंगे। वहाँ जाकर यदि कोई उनसे पूछे कि यह क्या हो रहा है? तो वे यही कहेंगे—भैया, क्या करें, यह सराग चारित्रका फल है, जो इच्छा न रहते हुए भी हमें भोगना ही पड़ेगा।

ज्ञानीका लक्ष्य साम्यभाव—ज्ञानीकी दृष्टि सरागचारित्रपर नहीं रहती, किन्तु वीतरागचारित्ररूप समताभावपर रहती है। ज्ञानी विचारता है कि यदि मुझे स्वर्गादिकी संपदाएं भी मिल गईं, तो क्या हुआ? ये तो आकुलताकी जननी ही हैं। जब तक ये संपदाएं रहेंगी, नित्य नई आकुलता ही उत्पन्न करती रहेंगी, और जब उनका विनाश होगा, तब महान् संक्लेश उत्पन्न होगा। ज्ञानी जन तो यही विचारा करते हैं कि हमारे उपयोगमें परपदार्थ में परपदार्थ आवें ही नहीं। चक्रवर्तीकी सम्पदा, इन्द्र सारिखे भोग। काकवीट सम गिनत हैं वीतरागिया लोग ॥ ज्ञानी जन कर्मोंके विपाकवश पदोचित सर्व कार्य करते हुए भी अपने स्वभावमें जागरूक रहते हैं। उनकी दृष्टि सदा अपने ज्ञातृत्व, द्रष्टृत्व स्वभावपर ही रहती है। सभीकी दृष्टि किसी न किसी प्रोग्रामपर रहती है। मकान बनाने वालेकी दृष्टि उसीपर रहती है और वह चौबीसों घंटे ही उसके साधन जुटानेमें व्यस्त रहता है। इसी प्रकार ज्ञानीकी दृष्टि सर्वदा अपने स्वरूपकी प्राप्तिपर रहती है और वह उसके पानेके साधन-जुटानेमें लगा

Version 1

रहता है। ज्ञानीका विचार वस्तुस्वरूपके अनुकूल रहता है, उसे दृढ़ श्रद्धा रहती है कि सर्व द्रव्य स्वतंत्र हैं। जगतमें सर्व तत्त्वोंकी स्वतंत्र व्यवस्था है। यह तो निमित्तनैमित्तिक सम्बंध की विशेषता है कि हमें अपने साथ परद्रव्योंका सम्बंध हुआसा लगता है। निमित्तनैमित्तिक सम्बंध होनेपर भी मेरा किसीसे कुछ सम्बंध नहीं है। परवस्तुमें मेरा कुछ भी नहीं है और मुझमें परवस्तुका कुछ भी नहीं है। देखो, ये सारा जगत मुझसे कैसा अत्यन्त पृथक् है ? यदि मुझसे सारा जगत रूठा हुआ है, तो रूठने दो; मैं जगतसे रूठता हूं। वस्तुतः न यह मेरे परिणमनसे परिणमता है, और न वह अपने परिणमनसे मुझे परिणमाता है।

परका अन्यमें अनधिकार—चेष्टन्ते स्वकषायेण प्राणिनो मे न वाञ्छकाः। केषु मोदः च खिन्दानि, स्यां स्वस्मै स्वे सुखी स्वयम् ॥ (सहजानन्दगीता) जगतके सर्वप्राणी अपनी-अपनी कषायोंके अनुसार चेष्टा किया करते हैं, उनमें कोई मेरा बाधक नहीं है, कोई मेरा चाहने वाला नहीं है, और न कोई मेरेसे द्वेष करने वाला है। फिर मैं किसमें मोहभाव रखूँ और किसमें खेदभाव रखूं ? मुझे तो स्वयं अपने लिए अपने आपमें ही सुखी होना चाहिए। परकी चाह परमें रहेगी, उसका मोह मुझमें नहीं आ सकता। अमुक व्यक्तिका मुझमें बड़ा प्रेम है, यह कहना बहानामात्र है। हम कहते हैं कि मुझे अमुकने सुख दिया, दुःख दिया, आदि यह सब बहानामात्र है। परपदार्थ तो केवल आश्रयके ही काम आया करते हैं। एक चुटकला है कि राजसभामें बैठे हुए किसी राजाके जोरसे अपानवायु दे निकली। धड़ाके की आवाज सुनकर लोग हंस पड़े। राजा झेंप गया। तुरन्त अपनी झेंप मिटानेके लिए पासमें बैठे हुए किसी बच्चेको लक्ष्य करके बोला—अरे, किसका बच्चा है ? वह राजाका भाव ताड़ गया, बोला—किसीका होऊं, आज आपके काम तो आ गया। बच्चेके कहनेका भाव यह है कि मेरे आश्रयसे आपने अपनी झेंप तो दूर कर ली। इसी प्रकार जगतके पदार्थ मेरे आश्रय मात्र हैं और मेरे विभावपरिणामोंमें कर्मोदय निमित्तमात्र है। संसारके दृष्टिगोचर होने वाले पदार्थ आश्रयमात्र हैं। संसारकी कोई वस्तु रागका कारण नहीं, कर्मोदय ही रागका कारण है। कामी पुरुषके लिए सुन्दरी युवती, स्त्रियोंके चित्र, वेश्या आदि उसके राग पैदा करनेमें कारण पड़ते हैं, क्योंकि उसका उपादान ऐसा ही है। जिसके उपादानमें विशेष जागृति है। उसके सामने वेश्या आदिके आनेपर भी राग जागृत नहीं होता। यह तो दो मल्लोंकी लड़ाई है, एक के बलवान होनेपर दूसरा दबा दिया जाता है। एक मल्ल चेतन आत्मा है और दूसरा मल्ल जड़कर्म है। जब कर्ममल्ल बलवान होता है, तो चेतन आत्मामल्ल दबा दिया जाता है और जब आत्मा-मल्ल बलवान होता है, तब कर्ममल्ल दबा दिया जाता है। यह भाव निमित्तनैमित्तिकका है।

क्लेशविनाशका उपाय चारित्र—लोग कहते हैं मुझे गृहस्थीने फंसा रखा है, पर यह

Report any errors at vikasnd@gmail.com

बहाना मात्र है। मैं स्वयं उन्हें पकड़े हुए हूं, उनमें राग कर रहा हूं। पर मैं जिनमें राग कर रहा हूं, वे मेरे किसी हितमें आने वाले नही हैं। संसार ही दुःखमय है, रागभाव मिटे बिना दुःख मिट नहीं सकता। इसीके मिटानेके लिए तो चारित्र धारण किया जाता है। समन्तभद्र स्वामीने कहा है—मोह तिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः। रागद्वेषनिवृत्त्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥ (रत्नकरण्डश्रावकाचारे) अर्थात् जब दर्शन मोहरूप अन्धकार दूर हो जाता है, तब सम्यग्दर्शनके लाभके साथ ही सम्यग्ज्ञान प्राप्त होता है। तभी वह ज्ञानी साधु पुरुष अपने रागद्वेषकी निवृत्तिके लिये चारित्रको प्राप्त होता है। इस श्लोकका अभिप्राय यही है कि चारित्र धारण करनेका उद्देश्य रागभावकी निवृत्ति करना ही है। इसी बातको भगवान कुन्दकुन्दने इस 'संपज्जदि णिव्वाणं' गाथा द्वारा बताया है कि दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्रसे निर्वाण की प्राप्ति होती है। राग, द्वेष, मोह आदिका नाम ही बाण है। जैसे शरीरमें लगा हुआ बाण सदा शूलसा चुभता रहता है, इसी प्रकार जब तक राग, द्वेष मोहादिक बने रहेंगे, तब तक सदा दुःखका अनुभव होता रहेगा। किन्तु जब वह उक्त बाणोंसे रहित हो जाता है या यों कहिए कि जब उसके भीतरसे वे बाण निकल जाते हैं, तभी उसे निर्वाणकी संप्राप्ति हो जाती है। यह गाथा पहली गाथाके उद्देश्यका सम्बंध लेकर अवतरित हुई है। पहले कहा था—आश्रमको प्राप्त करके, पंचपरमेष्ठीको प्राप्त करके अर्थात् उनके गुणोंकी भावनारूप भावाश्रम को प्राप्त करके सरागचारित्रके अनन्तर वीतरागचारित्रको प्राप्त होता हूं, तब इसमें बताया कि निर्वाणकी सम्प्राप्ति किस साधनसे होती है? निर्वाणकी सम्प्राप्ति दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्रसे होती है।

ज्ञानसे निर्वाणप्राप्तिकी ध्वनि—यहाँ प्रधान दृष्टिसे देखो तो ज्ञानमात्रसे निर्वाणप्राप्ति ध्वनित है। आत्मख्यातिमें कहा है—'जीवादिश्रद्धानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सम्यग्दर्शनम्। जीवादि ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सम्यग्ज्ञानम्। रागादिपरिहरणस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सम्यक्चारित्रम्।' इससे सिद्ध है कि रत्नत्रय ज्ञानस्वभावरूप ही है।

अध्यात्मदृष्टिसे एक गुणमें सर्वगुणके कार्य आते हैं। आधारकी अपेक्षा नहीं, किन्तु विभुताकी दृष्टिसे। जैसे सूक्ष्म गुण होनेसे सर्वगुण सूक्ष्म हैं, आदि। इसी प्रकार आत्माका ज्ञानगुण जब श्रद्धानस्वभावसे देखा जाता है, तब वही दर्शनगुण, ज्ञानस्वभावसे देखनेपर वही ज्ञानगुण और रागादिके परिहरण स्वभावसे देखनेपर वही चारित्रगुण है। यहां चारित्र का प्रकरण है। देखो, ज्ञान ज्ञानस्वभावरूप ही है, उसके स्वरूपमें रागका लेश नहीं। राग के परिहारपूर्वक रहता ही है, तब ज्ञानका ऐसा ही बना रहना चरित्र है। देखो भैया, निमित्त-नैमित्तिक भावकी विशेषता—जिसकी शुद्ध स्वभावपर दृष्टि हो गई, उसके अवशिष्ट रागके कारण पुण्य बन्ध होता ही है, और उसके विपाकमें वैभव प्राप्त होते ही हैं। इस

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

लिए निर्वाण प्राप्त करने वालेके पहले महान् पुण्योंके उदय आया करते हैं, अतः वे भारी वैभव पानेके अनन्तर मुक्तिलाभ करते हैं। कोई जगत्‌के वैभवको पाकर निर्वाण पाता है, कोई विपदाओंको पाकर भी निर्वाण पाता है, परन्तु प्रायः क्रम यही है कि पुण्य-प्रेरित वैभव आते हैं, उन्हें वह त्यागता है, ज्ञानमात्रमें रत होता है और निर्वाणको प्राप्त हो जाता है।

समृद्धिपूर्वक निर्वाण प्राप्ति—देखो भैया! यहाँ जब हम किसी प्रेमीको कुछ दिनोंके लिए कहीं विदा करते हैं, तो उसकी कैसी तैयारी करते हैं, सर्व प्रकारके मांगलिक आयोजन करते हैं, तब जो हमारे संसारकी कमेटीसे निर्मलतापूर्वक सदाके लिए विदा हो रहा है, तब क्या वह रूखा-सूखा ही विदा होगा? वह तो बड़े-बड़े वैभवोंके साथ ही विदा होगा, ठाट-बाट से ही निर्वाण जायगा। वैभवका तो यह स्वभाव ही है कि ज्यों-ज्यों इसकी कामना करते हैं, त्यों-त्यों यह दूर भागता है। ज्ञानी जन इसकी चाह नहीं करते, तो यह ज्ञानियोंके पीछे-पीछे चलता है। तीर्थंकर भगवान गर्भमें आये, तो लक्ष्मी बरसने लगी, किन्तु भगवान अपने स्वरूपा-चरणसे ही प्रभावित रहे। यही जन्म कल्याणकके समय हुआ। बचपनमें भी यही बात रही। इन्द्रादिक मन लुभानेको सदा तत्पर रहते, पर आप रहते थे अपनी ही धुनमें। तप-कल्याणक में इंद्रोंने पालकी रची, आभूषण पहिनाये, पर भगवानने उन सबको तृणकी भाँति फेंक दिया। ज्ञानकल्याणके समय लक्ष्मी समवशरण बनकर आई, किन्तु वे उससे ऊपर ही रहे। वह गन्ध-कुटीके बहाने चरण स्पर्श करने चली, तब भी वह असफल रही। कमल भी रचा गया, सिंहा-सन भी रखा गया, पर वे सबसे ऊपर ही रहे, अपनेको किसीका संस्पर्श नहीं होने दिया। लक्ष्मीने सोचा—चलो इनके ऊपर छत्र बनकर छू लूँ, तो छत्र भी उनसे ऊपर ही रहे। इससे हमें यही शिक्षा मिलती है कि इस धन वैभवरूप लक्ष्मीसे और उसकी मूर्च्छासे मुख मोड़ो।

व्रत और अव्रतका अन्तर—लोग इस कहनेमें कि पुण्य पाप दोनों हेय हैं, सो पुण्य तो झट छोड़ बैठते हैं, पर पाप छोड़ना कठिन पड़ता है। किन्तु प्राक्‌दपवीमें इन पुण्य-पापके प्रभावोंके अन्तरको तो देखो, इष्टोपदेशमें कहा है—वरं व्रतैः पदं दैवमव्रतैर्वत नारकम्। छाया-ऽऽतपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान्॥ देखो, एक तो छायामें बैठा हुआ किसी आने वालेकी प्रतीक्षा कर रहा है और एक धूपमें बैठा हुआ किसीकी प्रतीक्षा कर रहा है। क्या इन दोनों में अन्तर नहीं है? बस यही बात पुण्यवान और पापियोंकी है। एक तो देव सुखमें रहकर उत्तमार्थकी प्रतीक्षा कर रहा है और एक नरक दुःख भोगता हुआ उत्तमार्थकी प्रतीक्षा करता है। जिनकी दृष्टि विशुद्ध है उनके पापका उदय रहे, तब भी भले, पुण्यका उदय रहे, तब भी भले। किन्तु वे तो अतिनिकृष्ट हैं, जिनके पापसे विरक्ति नहीं, और पुण्य तो पहलेसे ही छूटा हुआ है। पापको छोड़नेके पश्चात् पुण्य छूटे, तो भलाई है ज्ञानीके पुण्यफलमें उपादेय बुद्धि

Report any errors at vikasnd@gmail.com

नहीं होती, उनके राग चलते हुए भी रागमें राग नहीं रहता। राग होना अनन्तानुबन्धी नहीं है, किन्तु रागमें राग होना अनन्तानुबन्धी है, क्योंकि रागका राग पर्यायबुद्धिके बिना नहीं होता। वैभव तो निर्वाण पाने वालेके अधिकसे अधिक आया करते हैं। यदि आप पूछें, कि जिसने सारा वैभव छोड़ दिया, नग्न दिगम्बर हो गया, उसके पास वैभव क्या रहा? तो इसका उत्तर यह है कि जिसे भूलोकका स्वामी चक्रवर्ती, पाताललोकका स्वामी असुरेन्द्र और स्वर्गलोकका स्वामी देवेन्द्र नमस्कार कर रहे हैं, उसके तीनों लोकोंका वैभव स्वतः ही आ गया है। कोई मल्ल किसी जिलेके मल्लोंको जीतकर प्रदेशके मल्लोंमें विजय पाकर राष्ट्रके मल्लोंमें विजय पाता है। पुनः वह सर्व राष्ट्रोंके मल्लोंमें विजय पाकर विश्वविजयी कहलाता है। यदि उस एक विश्वविजयी मल्लको यदि कोई नवीन मल्ल जीत ले तब वह नवीन मल्ल विश्वविजयी कहलाने लगेगा। देखो उस नवीन मल्लने एकको ही जीता, सारे संसारके सर्व मल्लोंसे मुठभेड़ नहीं करना पड़ी। फिर भी वह विश्वविजयी कहलाता है। बस ऐसा ही अनायास वैभव विरक्तोंके स्वतः हो जाता। चक्री व इन्द्रादि चरणोंमें आये तब उनका वैभव भी चरणोंमें आ गया।

निश्चल स्वभावकी दृष्टिका प्रसाद—यह निर्वाण जो उत्तम वैभवोंसे भी उत्कृष्ट है, निश्चयचारित्रसे होता है। स्वाधीन ज्ञान सुख स्वभाव वाले शुद्ध आत्मद्रव्यमें निश्चल, निर्विकार अनुभव रूप अवस्थान होना यही निश्चयचारित्र है। इससे ही स्वाधीन, अतीन्द्रिय परम ज्ञान सुखमय निर्वाण होता है। सुख शरीरके निमित्तसे नहीं होता। सुखगुणकी परिणतिसे ही सुख होता है। सुख दुःख बाह्यपदार्थोंपर अवलम्बित नहीं है, निज सुख परिणतिपर अवलम्बित है। स्वाधीन सुखकी दशा ही चारित्र है। यहाँ 'निर्वाण' शब्दसे अरहन्त और सिद्ध अवस्था ध्वनित है। अरहन्तको संसारी तो कह नहीं सकते क्योंकि वे पंच प्रकारके परिवर्तन से छूट चुके हैं, और मुक्त भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि अभी चार अघातीया कर्मोंसे बंधे हुए हैं, पारिशेषन्यायसे उन्हें जीवन्मुक्त कहा जाता है तथा सिद्ध सर्वकर्मोंसे विमुक्त हैं, अतः अरहंत और सिद्ध दोनोंका 'निर्वाण' पदसे ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न—सम्यक्त्वी पुरुष तो असुरोंमें उत्पन्न नहीं होता, फिर उसे असुरेन्द्रके वैभव प्राप्तिकी बात कैसे कही? उत्तर—हां, यह ठीक है कि सम्यक्त्वी असुरेन्द्रोंमें उत्पन्न नहीं होता, किन्तु जो पहले सम्यक्त्वकी अवस्थामें देवायुका बन्ध कर चुका है, और पीछे वह सम्यक्त्वकी विराधना कर दे, तो वह घातायुष्क कहलाता है और वह मिथ्यात्व दशामें मरकर असुरेन्द्रोंमें उत्पन्न हो सकता है और वहाँ फिर सम्यक्त्वको प्राप्त कर लेता है। अथवा कोई असुरेन्द्र होकर वहीं सम्यक्त्व पैदा कर ले। सम्यग्दृष्टि किसी झंझटमें हो, परम्परया वीतराग चारित्रसे मुक्ति पावेगा ही। अपनी दृष्टि निश्चल स्वभावपर रखना चाहिए।

Version 1

वीतरागचारित्रकी उपादेयता—अतो मुमुक्षुणा इष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयम-निष्टफलत्त्वात्सरागचारित्रं हेयम्।' मोक्षकी इच्छा और प्रयत्न करने वालोंको वीतरागचारित्र उपादेय है, क्योंकि वीतरागचारित्रसे निर्वाण (अभीष्ट) प्राप्त होता है। सरागचारित्र हेय है, क्योंकि उसका फल वैभवोंके क्लेश ही हैं। सरागचारित्र हेयकी बात विशेषतया उन्हें शोभा देती, जो उन्नत पथमें चलकर सरागचारित्र पर्यायपर आ गए हैं। श्रद्धा यथार्थ करना तो ठीक ही है। कहाँ पर क्या हेय है और क्या उपादेय है, इसका रहस्य या अन्तस्तत्त्व ठीक समझने का प्रयत्न करना चाहिए, श्रद्धामें तो पर्यायमात्र हेय होना चाहिए। सरागचारित्रमें चारित्र तो मोक्षमार्ग है, किन्तु उस समय लगा हुआ राग हेय है। 'हमें क्या करना,' इसका उत्तर एक उत्तम लक्ष्य ही होना चाहिए। वह है एक ध्रुव चैतन्यस्वभाव।

ज्ञानियोंका परसे अलगाव—एक नगरका राजा मर गया, मन्त्रियोंने सलाह की, सवेरे नगरके मुख्य द्वारको खोलते समय जो व्यक्ति वहाँ मिले, उसे ही राजा बनाया जाय। प्रातः काल मन्त्रिगण मुख्य द्वारपर आ गए और दरवाजा खोला गया, तो वहाँपर एक लंगोटी लगाए साधुको बैठा पाया। मंत्रियोंने प्रार्थना की कि महाराज, आजसे आप हमारे राजा हैं, हमारे साथ चलकर राजपदको स्वीकार कीजिये। साधु सोचने लगा—मैं क्या झंझटमें फंस गया हूं? उसने राजपद लेनेसे इन्कार किया। मंत्रियोंके बहुत अनुनय विनय करनेपर वह इस शर्तपर राजी हुआ कि मुझसे राज-काज सम्बन्धी कोई बात पूछी न जाय। मंत्रियोंने इसे स्वीकार कर लिया और साधुको ले जाकर राजगद्दीपर बैठा दिया और राजाके वस्त्राभूषण लाकर उसे पहिननेको दिये। उसने एक पेटी मंगाकर अपनी लंगोटी उसमें रख दी और सब वस्त्राभूषण पहनकर राजगद्दीपर बैठ गया। कुछ दिनोंके बाद किसी बलवान राजाने उस देशपर आक्रमण कर दिया। मंत्री घबड़ा गये और राजासे पूछने लगे—अब हमें क्या करना चाहिये? राजाने अपनी शर्तको भंग होती देख अपनी पेटी मंगाई और उसमेंसे लंगोटी निकाल राजाके वस्त्राभूषण उतार उसे पहन ली और जंगलका रास्ता पकड़ता हुआ बोला—मुझे तो ये करना चाहिए, तुम्हारी तुम जानो। इसी प्रकार ज्ञानी जनोंको तो यह राजपाट उस साधुके समान क्लेशदायक दिखता है, पर अज्ञानियोंको वह सुखदायक प्रतीत होता है। अज्ञानी परवैभवको देखकर ईर्ष्यासे उद्विग्न एवं सन्तप्त रहता है, अतः अपने प्राप्त वैभवका भी उपयोग नहीं कर पाता। एक ग्रामीण चार पैसे कमाकर उतनेमें ही अपनी गुजर करके सन्तुष्ट चित्त रहता है पर वही जब किसी शहरमें आकर रहने लगता है और वहाँके नाना प्रकारके भोगोपभोगके साधनोंको देखता है, तो उन्हें देखकर पानेके लिये लालायित हो उठता है और तृष्णावश दुःखी बन जाता है। पुण्यके उदय प्रायः तृष्णाके ही कारण हैं। अतः तृष्णा पापके कारणका कारण सरागचारित्र हेय है। चारित्र तो चारित्र है, राग हेय है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चारित्रके स्वरूपका विभावन—अब सातवीं गाथामें चारित्रका स्वरूप कहेंगे। ज्ञान और आनन्दमें चरित्रका स्वरूप निहित है, अतः यहाँ प्रथम ज्ञानाधिकार रखा है। इसमें ज्ञानतत्त्वका वर्णन किया जायगा। इस प्रसंगमें उपाय व फलभूत चारित्रके स्वरूपको प्रगट करते हैं—अथ चारित्रस्वरूपं विभावयति। अब चारित्रके स्वरूपका विभावन करते हैं। यहाँ पर 'कथयति' आदि अन्य क्रियापद न देकर जो 'विभावयति' क्रियापद दिया है, उसमें एक भारी रहस्य छिपा हुआ है। 'भवन्तं प्रेरयति भावयति, विशेषेण भावयति विभावयति' जो होते हुएको विशेष रूपसे प्रेरित करे अर्थात् हुआवे, यह इसका निरुक्त्यर्थ है, आचार्य भी श्रोताओंके हृदयमें चारित्रके स्वरूपको उत्पन्न कराते हैं। जब चारित्रका वर्णन होगा और श्रोता जन सुनेंगे, तब उनकी परिणति कैसी होगी? चारित्रके उपयोगरूप हो जायगी, यह रहस्य निहित है।

आज सभाएं होती हैं और उनमें किसी कार्यके लिए प्रस्ताव पास किया जाता है। फिर कुछ दिनोंके पश्चात् दूसरा प्रस्ताव किया जाता है कि पहले जो प्रस्ताव पास किया जा चुका है, उसे कार्यरूपमें परिणत किया जाय। पुनः आगेके अधिवेशनमें प्रस्ताव पास किया जाता है, कि उसे क्रियात्मक रूपमें अमलमें लाया जाय। इस प्रकार प्रस्तावपर प्रस्ताव पास किये जाते हैं, पर कार्य कुछ भी नहीं होता। भैया! प्रस्ताव करो या मत करो, केवल कार्य प्रारम्भ करो। आज जितना कहना बढ़ गया है, उतना ही करना कम हो गया है। इसलिए आचार्य श्रोताओं के सामने चारित्रका स्वरूप कहते नहीं हैं, बल्कि उनके हृदयमें उसे उत्पन्न कराते हैं:—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

चारित्रमें क्षोभका अभाव—चारित्र क्या है? धर्म है। धर्म क्या है? समभावका नाम धर्म कहा गया है। समभाव क्या है? मोह और क्षोभसे रहित जो आत्माका परिणाम है वह 'समभाव' कहलाता है। सारांश—राग, द्वेष, मोहको दूर करके आत्मामें विश्राम करनेको चारित्र कहते हैं। लोग कहते हैं कि चारित्रका पालन करना कठिन है, पर इसका विवेचन तो कर लो कि चारित्र पालन करनेमें कष्ट है या पालन नहीं करनेमें? बताओ—रागद्वेष करनेमें कष्ट है कि उनके नहीं करनेमें? क्रोध करनेमें कष्ट है कि उसके नहीं करनेमें? सभी जानते हैं कि क्रोध करनेमें आत्माको बड़ा कष्ट होता है पर क्रोध नहीं करने और शान्तिपूर्वक बैठे रहनेमें कोई भी कष्ट नहीं होता। इसलिए चारित्रपालन करनेमें कष्ट नहीं है, बल्कि चारित्रके पालन नहीं करनेमें कष्ट है, जिसका अनुभव हम आप प्रतिदिन कर रहे हैं। सर्व विदित है, जो भी कष्ट है वह मोह रागद्वेषका ही है।

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

मोहका क्लेश—एक सेठजी अपनी स्त्री और २-३ वर्षके बच्चेको घरपर छोड़कर व्यापारके लिए विदेशको गये। जब १२ वर्ष पूरे हो गये और सेठजी नहीं लौटे तो उसकी स्त्रीको बड़ी चिन्ता हुई और उसने लड़केसे कहा—जाओ बेटे, तुम्हारे पिताको परदेश गये १२ वर्ष हो गये, अभी तक लौटकर नहीं आए हैं, सो तुम जाकर उनका पता लगाओ। यह कहकर और सेठजीका नाम, धाम बताकर उसे रवाना कर दिया। वह सेठका पुत्र गांवोंमें उनका पता पूछता हुआ आगे बढ़ता गया। उधर सेठजी भी देशको रवाना हो चुके थे और लौटते हुए मार्गमें जिस धर्मशालामें ठहरे थे, भाग्यवश लड़का भी राहमें वहीं जा पहुंचा और धर्मशालामें ठहर गया। आधी रातमें इसे जोरका पेटमें दर्द उठा, वह दर्दके मारे कराहने चिल्लाने लगा। चिल्लाहटसे सेठजीकी नींद खुल गई, तो मैनेजरसे कहते हैं कि यह रातको कौन शोर गुल मचा रहा है? हम कई रातके जगे हैं, इसे यहाँसे हटाओ। बेचारा पेटके दर्द से छटपटा रहा है, पर सेठजीके पास उस दर्दकी दवाके होते हुए भी उनका दिल नहीं पसीजा और रातमें ही उस बेचारेको धर्मशालासे बाहर करवा दिया। दूसरे दिन सेठजीने तो अपने नगरका रास्ता पकड़ा। जब कुछ दिनोंमें सेठजी घर पहुंचे तो सेठानीसे बोले, लड़का कहां है? उसने बताया—कि वह तो तुम्हें ही ढूँढ़नेको गया है। क्या मार्गमें उसकी तुमसे भेंट नहीं हुई? उसे आज घरसे गये तो अनेक दिन हो गये हैं। सेठजी घबड़ाकर उसे ढूंढ़नेको चले। मार्गमें धर्मशालाओंमें पूछते जावें और पता चलनेपर कि हाँ, वह यहाँ ठहरा था, आगे बढ़ते जावें। आखिर उसी धर्मशालामें जिसमें कि सेठ पहले ठहर चुके थे, मैनेजरको अपने पुत्रका नाम बताकर पूछने लगे कि इस नामका एक लड़का क्या कभी आपकी धर्मशालामें ठहरा है? उसने रजिस्टर देखकर बताया कि हाँ सेठजी, जिस रात आप यहाँ ठहरे थे, उसी रात इस नामका एक लड़का यहाँ ठहरा था। सेठजी स्थितिको भाँपने लगे, हाथ-पैर काँपने लगे। बोले फिर क्या हुआ? मैनेजर बोला—रातमें उसके पेटमें बड़े जोरसे दर्द उठा, उससे वह कराहने चिल्लाने लगा। आपकी नींद खुली तो आपने गुस्सेमें आकर उसे धर्मशालासे बाहर निकलवा दिया। दूसरे दिन आप तो देशको रवाना हो गये और वह बेचारा छटपटाता हुआ मर गया। यह सुनना था कि सेठजी बेहोश होकर गिर पड़े और जब होशमें आये तो लगे रोने चिल्लाने और सिरको पीटने।

भाइयो, बताओ यहाँ दुःख सेठजीको किससे हुआ? मोहसे। जब तक उन्हें उस बच्चे से मोह नहीं था, तो उसे चिल्लाते कराहते देखकर भी आह तक नहीं भरी, प्रत्युत निर्मम होकर धर्मशालासे बाहर निकलवा दिया। जब उन्हें उस बच्चेसे मोह हुआ तो उसकी बात सुनते ही मूर्छित हो गए। इससे पता चलता है कि सारा दुःख मोहमें है। यदि मोह है तो मनुष्य दुःखी है और यदि मोह नहीं है तो वह सुखी है।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

धर्मका अनुपम फल—जिस ज्ञानीके अनन्त पदार्थोंमें यह भाव आ गया कि जगतमें मेरा कोई नहीं है, उसका बड़ा भारी दुःख मिट गया। हमें भी जगत्‌के पदार्थोंसे मोह दूर करना चाहिए, तभी हमारा दुःख मिट सकेगा और समभाव प्राप्त हो सकेगा। हम मन्दिरमें उसी समभावरूप धर्मको प्राप्त करनेके लिए आते हैं। धर्मसे धन नहीं मिला करता। लोग ऐसा समझते हैं कि धर्मसे धन मिलता है, वे भ्रममें हैं। धन तो पुण्यसे मिलता है। इसी प्रकार जो लोग समझते हैं कि धर्मके प्रसादसे ही सीताका अग्निकुंड जल हो गया, वे भूलमें हैं। यदि ऐसा माना जाय तो जो पांडव नग्न दिगम्बर थे, परमतपस्वी और रत्नत्रयके धारक थे, जब उन्हें गर्म-गर्म लोहेके गहने पहनाये गये, तो वे ठंडे क्यों नहीं हो गए? क्या उनका धर्म सीताके धर्मसे कम था? गजकुमारके सिरपर मिट्टीकी पाल बाँधकर जो कोयले जलाये गये, वे जल क्यों नहीं बन गये? क्या उनका धर्म सीताके धर्मसे कम था? सबका उत्तर यही है कि किसीका भी धर्म सीताके धर्मसे कम नहीं था। पर अग्निको ठंडा करना या पानी रूपमें परिणत कर देना यह धर्मका कार्य नहीं है, किन्तु पुण्यका कार्य है। सीताके ब्रह्मचर्या-णुब्रतरूप शील था, अणुब्रतके साथ जो रागभाव या शुभपरिणाम रहता है, उससे पुण्यबन्ध होता है। वही पुण्य अग्निपरीक्षाके समय सीताके प्रगट हुआ और अग्निकुंड जलरूपमें परिणत हो गया। धर्मका काम कर्मोंका नाश करना है, सो पांडवोंके, गजकुमारके या इसी प्रकार दारुण उपसर्ग सहने वाले अन्य अन्तःकृत केवलियोंके कर्मोंका नाश धर्मने किया ही है। इससे सिद्ध हुआ कि धर्मसे धन, वैभवादि नहीं मिलता है, किन्तु परम अतीन्द्रिय, अनुपम और स्वाधीन आत्मसुख मिला करता है।

स्वरूपाचरण—स्वरूपमें चलना चारित्र है। किससे? ज्ञानसे। अर्थात् ज्ञानका ज्ञान में रहना ही चारित्र है। स्वसमयमें निजात्मामें प्रवृत्ति करनेको चारित्र कहते हैं। अपने शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूपमें ठहरना चारित्र है और यही आत्माका स्वभाव होनेसे धर्म कहलाता है। धर्म शब्दका अर्थ 'धरना' है। जो मिथ्यात्व, रागादिरूप भावसंसारमें पड़े हुए प्राणीका उद्धार करके निर्विकार शुद्ध चैतन्यमें धरे, स्थापित करे, उसे धर्म कहते हैं। वही धर्म स्वात्मभावनो-त्पन्न सुखामृत रूप शीतल जलके द्वारा काम क्रोधादिरूप अग्निजनित संसार-दुःख दाहका उपशामक होनेसे शम कहलाता है। शुद्धात्मश्रद्धानरूप सम्यक्त्वके नाश करने वाले दर्शन मोह की 'मोह' संज्ञा है तथा निर्विकार निश्चल चित्तवृत्तिरूप चारित्रके विनाश करने वाले चारित्र मोहको 'क्षोभ' कहते हैं। इन मोह और क्षोभके अभावको ही सम कहते हैं और उस सम भावका नाम ही धर्म है। शुद्ध चैतन्यका प्रकाश होना धर्म है। यथावस्थित वस्तुका तद्रूप रहना ही साम्य कहलाता है। आत्माके अत्यन्त निर्विकार परिणामको साम्य कहते हैं। परके निमित्तसे विकारी नहीं होना, निर्विकारी रहना ही सम या शम कहलाता है। इस प्रकार

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

यह फलितार्थ हुआ कि दर्शनमोह और चारित्रमोहके उदयसे उत्पन्न होने वाले मोह और क्षोभ से रहित, अत्यन्त निर्विकार जीवके परिणामको साम्य कहते हैं। साम्यभाव, धर्म और चारित्र ये तीनों एकार्थवाची नाम जानना चाहिए।

निर्विकार भावके आदरमें लाभ—यदि निर्विकारी भाव अधिक समय तक स्थायी नहीं रहते हैं, धर्मसाधनमें चित्त अधिक काल तक नहीं लगता है, तो देवपूजा आदि अनेक कार्य भी करनेको बाकी हैं, उनमें मनको लगाना चाहिए। धर्मके बाह्य साधनोंमें रहना पड़कर भी अन्तरंग साध्यको प्राप्त करनेका लक्ष्य सदा रखना चाहिए। क्षेत्र संसारसे डरनेकी जरूरत नहीं, उससे डरकर कहां भागोगे ? सिद्ध भी तो संसारके भीतर ही रहते हैं, भले ही वह लोकका शिखर ही क्यों न हो ? इसलिए हमें संसारमें रहनेका डर नहीं होना चाहिये। हाँ, इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिए कि हममें संसार न आ जाय। नावके पानीमें रहनेका डर नहीं होता, पर नावमें पानीके रहनेसे डूबनेका डर रहता है। इसी प्रकार यदि हम मोह क्षोभ रहित होकर संसारमें रहते हैं, तो डरकी कोई बात नहीं है, पर यदि हममें संसार रहता है, मोह क्षोभ परिणाम रहता है, तो अवश्य डरनेकी बात है। जब नावमें पानी रहेगा, तो उसके डूबनेका भय बना ही रहेगा। इसलिए नावमें पानी नहीं आने देनेके समान आत्मामें रागद्वेषका प्रवेश मत होने दो। अपनेको सदा रागद्वेष, मोहसे दूर रखो, केवल ज्ञातादृष्टा ही बने रहो।

काम मोहविकार—विकारोंमें प्रधान विकार काम है। काम नाम मैथुनेच्छाका है। पुरुषवेदको तृणकी अग्निके समान, स्त्रीवेदको कारीष (कंडा) की अग्निके समान और नपुन्सकवेदको इष्टपाक (ईंटोंके भट्टा) के समान बताया गया है। तृणकी अग्निसे कंडेकी अग्नि तेज और अधिक काल तक रहती है तथा कंडेकी अग्निसे ईंटोंके भट्टेकी अग्नि और भी अधिक तेज और बहुत समय तक रहती है। इसी प्रकार पुरुषवेदीसे स्त्रीवेदीकी और स्त्रीवेदीसे नपुन्सकवेदीकी कामाग्नि उत्तरोत्तर अधिक होती है। जब तक मनुष्यके हृदयमें यह कामाग्नि धधकती रहेगी, तब तक उसकी परिणति धर्मकी ओर हो ही नहीं सकती। इसलिए सबसे पहले हमें कामभावपर विजय पानेका प्रयत्न करना चाहिए। कामभावपर विजय पानेके लिए आवश्यक है कि रागवर्द्धक, उत्तेजक आहार, विहारसे दूर रहा जाय, कुशीलियोंकी संगतिसे बचा जाय। शृङ्गारके साधनोंको पासमें न फटकने दिया जाय। स्त्री पुरुष आपसमें एक दूसरेके मनोहर अंगोंको न देखें, पूर्वमें भोगे गये भोगोंका स्मरण न करें, गरिष्ठ और बाजीकरण पदार्थोंका सेवन न करें, शरीरको न सजायें, विषयसेवनकी कथाएं न करें, तो कामभावपर विजय पाना आसान हो जायगा।

क्रोधी और निन्दकको चाण्डालकी तुलना—इसी प्रकार क्रोधके लिए भी लोकमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

अग्निकी उपमा दी जाती है। देखा भी जाता है कि क्रोध करनेके समय क्रोधीका चेहरा लाल हो जाता है, आँखें चढ़ जाती हैं, मुखाकृति भयानक हो जाती है। कहीं लिखा भी है, यद्यपि यह श्लोक अशुद्ध है, तथापि यह सर्वत्र प्रसिद्ध है—मुनीनां कोपचाण्डालः, पशुचांडाल गर्दभः। पक्षिणां काकचांडालः, सर्वं चाँडाल निन्दकः ॥ यदि मुनियोंमें कोई चाँडाल है, तो क्रोध ही है, पशुओंमें चाण्डाल गदहा है, पक्षियोंमें चाण्डाल काक है और निन्दा करने वाला सबसे पतित चाण्डाल है। देखिए क्रोधकी तीव्रतासे द्वीपायनने अपना और द्वारिकाका नाश किया। क्रोधसे अपना पराया दोनोंका अहित होता है, पर क्रोधीको क्रोधके समय कुछ सूझता नहीं है। जिसमें क्रोध हो, उसमें साधुता कैसी ? और सबसे बड़ा चाण्डाल तो निन्दकको कहा है। निन्दक दूसरेके दोषोंको देख देखकर न जाने दोषोंका कितना बड़ा पहाड़ बना देता है ? निन्दा करनेसे न अपनी ही कोई भलाई है और न परकी ही। उल्टी हानि ही हानि है। यदि किसी के दोषोंको दूर करवाकर उसे निर्मल बनानेकी ही इच्छा हुई हो, तो उसे एकान्त में जाकर समझाओ, आपकी सत्य आत्माका नियमसे उसपर असर पड़ेगा। चार आदमियोंमें निन्दा करके, उसे डांट करके तो आप बालकको भी नहीं समझा सकते। यदि एकान्तमें शान्तिपूर्वक बालकको समझाया जाय, तो वह भी प्रसन्नतासे उसे स्वीकार कर लेता है। समाजमें भी विद्रोहके कारण ये ही निन्दक लोग हैं। निन्दकसे कहीं समताभावकी आशा की जा सकती है ? और नहीं, तो अपनी ही दया करना चाहिए। निन्दासे खुदका कितना महान घात होता है, इसका वर्णन करना अशक्य है। यदि निन्दक लोग अपनी आदत नहीं छोड़ सकते हैं, तो निन्दा सुनने वाले भी वस्तुकी स्वतंत्रता जानकर उसे सुनकर अपने भीतर क्षोभ उत्पन्न न होने दें, बल्कि उपेक्षाभाव ही रखें। इसी प्रकार काम, क्रोधको ही आप अग्नि न समझें, सभी कषायें अग्नि हैं। उन कषायाग्नियोंसे उत्पन्न होने वाला जो संसार-दुःख-दाह है, उसका उपशमन चारित्र परिणाम करता है, इसका नाम शम है।

चारित्रकी स्थिरताका आधार सम्यग्ज्ञान—इस चारित्रकी स्थिरता सम्यग्ज्ञान बिना नहीं हो सकती। संसारके सारे पदार्थ हैं तो अपनेसे भिन्न, पर जो इन्हें अपने समझता है, उसका तो परलक्ष्य होगा ही, स्थिरता कहांसे आवेगी ? जो पुण्यको अपने हितरूप समझता है, उसके फलको अपना सारा ऐश्वर्य समझता है, वह आत्माकी अभिमुखता नहीं पा सकता, वह तो जगत्के ही अभिमुख है। कुछ लोग समझते होंगे कि सांपको सांप जान लिया, रस्सी को रस्सी जान लिया, तो सम्यग्ज्ञानी हो गए। पर यह तो लौकिक ज्ञान है। वस्तुके विषय में जब तक भेदाभेदविपर्यय, कारणविपर्यय, स्वरूपविपर्यय नहीं निकलता, तब तक वह सम्यग्ज्ञान कैसा ? जिन्होंने स्वका अनुभव ही नहीं किया और परको स्व मानते हैं, बाह्य वस्तुओंमें भी द्रव्य और पर्यायका जिन्हें अवगम नहीं, जिसकी दृष्टिमें जो दिखता है, वही तत्त्व

Version 1

हैं, उनका ज्ञान तो लौकिक ज्ञान ही है। किसीकी परिणतिसे किसीकी परिणति मानने वालों का ज्ञान वस्तुके स्वरूपको स्पर्श करने वाला भी कैसे माना जा सकता है? वस्तुके स्वतंत्र स्वरूपका ज्ञान होना ही वास्तविक ज्ञान है। उस ज्ञानके होते ही क्रोधादिक कषायें निवृत्त होने लगती हैं। दीखने वाला सारा जगत इन्द्रजालसा प्रतीत होने लगता है, स्वके सिवाय किसी अन्य पदार्थमें हितका विश्वास नहीं रहता, ऐसे सम्यग्ज्ञानी नियमतः परलक्ष्यसे निवृत्त होकर स्वमें स्थिर हो जाते हैं।

ज्ञाताका स्वरूपसंचेतन—स्थिर लक्ष्मीको अपने स्वरूपका इस प्रकार संचेतन होने लगता है कि—अहमिक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी। णवि अत्थि मज्झ किंचिवि अण्णं परमाणुमित्तं पि॥ (समयसार)

जैसे किसीके हाथपर सोना रखा है, पर उसे जब तक यह भान नहीं कि यह सोना है, तो वह उसकी कीमत नहीं करता। किन्तु जिस समय उसे यह ज्ञान हो जाता है कि यह तो शुद्ध सोना है, बहुमूल्य पदार्थ है, तो वह उसी समयसे उसमें आदर और उपादेय बुद्धि करने लगता है, इसी प्रकार जब तक जीव मिथ्यात्वी रहता है और आत्माका उसे भान नहीं होता, तब तक वह परलक्ष्यी और दिङ्मूढ़ या किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना रहता है। किन्तु जैसे ही उसे स्वबोध जागृत होता है कि मैं निश्चयसे एक अखंड स्वरूप हूं, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमयी हूं, सदा अरूपी हूं, मेरे भीतर परद्रव्यका परमाणुमात्र भी नहीं है, तब वह स्व-लक्ष्यी बन जाता है। उस समय दर्शन मोहके अभाव हो जानेसे उसका अज्ञान मिथ्यात्वरूप अन्धकार दूर हो जाता है, उसका दिग्भ्रम नष्ट हो जाता है और चिन्मय प्रकाश प्रगट हो जाता है। साथ ही चारित्रमोहनीयकी अनन्तानुबन्धी कषायके अभाव हो जानेसे नाना प्रकारका संकल्प-विकल्परूप जो क्षोभ उत्पन्न होता था, वह भी दूर हो जाता है और परिणामोंमें शमभाव या प्रशमगुण प्रगट हो जाता है, उसे अपने कर्तव्य कार्य और गंतव्य मार्गका प्रकाश मिल जाता है। इस प्रकार मोह और क्षोभके दूर होनेसे जो प्रकाश, जो प्रशमभाव, जो समताभाव आत्मामें प्रगट होता है, उसे ही धर्म कहते हैं और उसीका नाम चारित्र है। धर्म डूबा कहने वाले धर्मका स्वरूप ही नहीं समझते हैं। सांसारिक पदार्थोंकी, विषय वासनाओंकी चाह ही अधर्म है और परपदार्थोंकी चाहका अभाव होना, विषयाभिलाषाका मिटना ही धर्म है।

आत्माके चारित्रस्वरूपताका निश्चय—अथात्मनश्चारित्रत्वं निश्चिनोति—चारित्र आत्मस्वरूप ही है, इसका वर्णन किया जाता है। चारित्र कोई परपदार्थ नहीं है कि उसे कहींसे उठा लो। बल्कि यह आत्माका ही स्वरूप है, इस बातको बतलाते हैं। यहाँपर अन्य क्रियापद न देकर 'निश्चिनोति' पद प्रयोग किया है, इसमें भी रहस्य है। निस् उपसर्गपूर्वक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

'चि चयने' धातुसे 'निश्चिनोति' पद बना है। तदनुसार इसका अर्थ यह होता है कि निःशेष रूपसे, सामस्त्य या अविकलरूपसे चारित्रका चयन करते हैं। जैसे व्यवहारमें 'कहते हैं, बोलते हैं और बकते हैं,' इन तीनोंके अर्थ भिन्न-भिन्न हैं, इसी प्रकार संस्कृतमें भी उपसर्ग लगनेसे शब्दोंका अर्थ भिन्न-भिन्न हो जाता है। यहाँ निश्चिनोति शब्दका रहस्य है—निःशेषेण चिनोति अर्थात् सर्व प्रकारसे संग्रह करते हैं। जहाँ आत्मामें और चारित्रमें भेदकी प्ररूपणा न रहे ऐसा निर्णय या निश्चय करते हैं—

प्रश्न—क्या वास्तवमें आत्मासे चारित्र भिन्न है, जो अब आत्माके साथ उसके अभेद का निर्णय करते हैं ? उत्तर—हां, गुण-गुणीकी अपेक्षा भेद है। आत्मा गुणी है और चारित्र उसका गुण है ऐसा समझनेके समय वह प्रयोग होता है। परन्तु गुणीको छोड़कर गुण अन्यत्र रह नहीं सकता, अतएव वह तद्रूप ही है अर्थात् चारित्र आत्मस्वरूपमय है, अभिन्न है।

गाथा— परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो ॥८॥

जो द्रव्य जिस कालमें जिस रूपसे परिणमित होता है, वह उस कालमें उस भावमय अर्थात् तन्मय हो जाता है। जैसे उष्णतारूपसे परिणमता लोहपिंड उष्णरूप ही हो जाता है, इसी प्रकार धर्मसे परिणत आत्मा धर्मरूप जानना चाहिए। जिस समय आत्मा कषायरूपसे परिणमता है, उस समय कषायरूप माना जाता है, इसी प्रकार जब वह धर्मरूपसे परिणमता है, तब वह धर्ममय माना जाना चाहिए। क्योंकि वस्तुतत्त्वकी व्यवस्था ही ऐसी है कि जब जो द्रव्य जिस रूपसे परिणमन करता है, तब वह उसी रूपसे माना जाता है। उष्णरूपसे परिणत लोहेके पिंडको सब लोग उष्ण ही कहते हैं, क्योंकि उस समय लोहेके जितने भी शीत परमाणु थे, वे अपनी शीत पर्यायको छोड़कर उष्णरूपसे परिणत हो गये हैं।

यदि कोई पूछे कि जैनधर्म कहाँ है, तो हम उसे कहाँ बतावेंगे ? यही कहना पड़ेगा कि ये जो जैनधर्म पालन करने वाले हैं, वे ही सब जैनधर्म हैं, क्योंकि धर्म आत्माका स्वभाव है। जो धर्मपालन करने वाले धर्मात्मा जन हैं, उन्हींमें जैनधर्म मिलेगा, उन्हें छोड़कर वह अन्यत्र कहीं नहीं पाया जा सकता। ये धर्म, सम्यक्त्व आदि देने लेनेकी वस्तु नहीं है, आत्मा की ही परिणति है। अतएव व्यवहारमें धर्मकी रक्षाका अर्थ धर्मात्माकी रक्षा करना होता है। निज धर्मात्माकी रक्षा करना मुख्य है। अपनी रक्षा सच्चे श्रद्धानमें है। सम्यग्दर्शन ही परम-शान्तिका स्वतः मूल है। वस्तुएं जैसी हों, वैसी श्रद्धा करना शान्तिके लिए आवश्यक है।

द्रव्यका स्वरूप—जो अनादि अनन्त हो, स्वसहाय हो और अखण्ड हो वह द्रव्य है। द्रव्यका उक्त लक्षण सर्व जीवोंमें भी पाया जाता है। जीव अनादिकालसे चला आ रहा है और आगे अनंतकाल तक चला जावेगा, इसलिए वह अनादि अनंत है। कोई द्रव्य किसी द्रव्य

Version 1

के आश्रय नहीं है, किन्तु सर्व अपने आपके आश्रय हैं, इसलिए जीव भी स्वसहाय है और वह अखण्ड है, उसमें गुणादिकी अपेक्षा भी कहीं कोई सद्रूपका खण्ड या विभाग नहीं है। सभी गुण सर्वाङ्गमें अखण्डरूपसे व्याप्त रहते हैं।

प्रश्न—सर्वद्रव्य कितने हैं, जो अपने-अपने स्वरूपमें परिणमते हैं? उत्तर—जीवद्रव्य अनन्त हैं। जीवसे अनन्तगुणित पुद्गल द्रव्य हैं। धर्मद्रव्य एक है, अधर्मद्रव्य एक है, आकाशद्रव्य एक है और कालद्रव्य असंख्यात हैं। इन सर्वद्रव्योंका अपने-अपने स्वरूपमें परिणमन होता है। यदि एकद्रव्य अन्य द्रव्यरूपसे परिणत होने लग जाय, तो किसी द्रव्यकी कोई व्यवस्था ही न रहे, सर्वसांकर्य हो जायगा और सर्वद्रव्य आपसमें मिल जायेंगे तब सभीका अभाव हो जायगा। जहाँ परमाणु-परमाणुका भी बंध होता है, वहाँ भी कोई किसीको स्निग्ध या रूक्ष नहीं करता है। वहाँ रूक्ष परमाणु स्वयं ही स्निग्धरूपसे परिणत हो जाता है। अग्निके सम्बंधसे ठंडा घी स्वयं ही उष्ण हो जाता है। ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। यह काँचका गोला (पेपरवेट) हाथसे उठाकर इधरसे उधर रखा, तो क्या हो गया? यह वस्तु अपने ही आधार है, केवल इस स्थानसे हटकर उस स्थानपर आ गई, यह स्थान परिवर्तन यद्यपि एक अपेक्षासे निमित्ताधीन है, क्योंकि निमित्तकी उपस्थितिके बिना उक्त परिणमन तो नहीं होता? परन्तु हाथकी क्रिया हाथमें है और गोलेकी क्रिया गोलेमें हुई है।

जीवके त्रिविध परिणाम—जीवोंके परिणाम तीन प्रकारके बतलाये गये हैं—अशुभ, शुभ और शुद्ध। संक्लेशरूप परिणामोंको अशुभ, भक्ति दया दानादिरूप परिणामोंको शुभ और संकल्प-विकल्प, रागद्वेषादि रहित परिणामोंको शुद्ध कहते हैं। इनमें अशुभ परिणाम अधर्मरूप हैं और शुद्ध परिणाम धर्मरूप हैं। मध्यवर्ती जो शुभ परिणाम हैं, वे किस रूप हैं? धर्मके होनेपर भी जो अधर्मरूप प्रवृत्ति होती है, वस्तुतः उसे शुभ रूप कहते हैं। कर्ज चुकानेपर भी जो कर्ज शेष रहता है, उसके समस्थानीय शुभ परिणमन है। इसका अभिप्राय यह है कि स्थूल अधर्मके नाश होनेपर जो सूक्ष्म अधर्म शेष रहता है, बहुतसा कर्ज चुका देनेपर भी जो कर्ज बाकी रह जाता है, वह शुभमें परिगणित होता है। पर मिथ्यादृष्टिके स्थूल अधर्मका नाश है ही नहीं, अतः उसका शुभ परिणाम भी अधर्मरूप ही है और इसलिए उसे भव-बन्धकारक ही माना है।

प्रश्न—धर्म अधर्मकी सीधी सरल परिभाषा क्या है? उत्तर—जो आत्माके सहज स्वभावरूप हो, वह धर्म है और जो आत्माके सहज स्वभावसे प्रतिकूल रूप हो वह अधर्म है।

प्रश्न—धर्म और अधर्म किसके होते हैं? उत्तर—यतः धर्म जीवका स्वभाव है अतः वह जीवका है और अधर्म पुद्गलके निमित्त बिना होता नहीं है, अतः वह कर्मका है। मयूरका परिणमन मयूरमें रहेगा, और दर्पणमें आने वाला आकार दर्पणमें रहेगा, अतः दर्पणगत

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

आकार दर्पणका ही समझना चाहिये, फिर भी मयूरकी सन्निधि बिना नहीं हुआ, अतः मयूर का है। इस तरह अशुभोपयोग पराश्रित भाव है और शुभोपयोग भी पराश्रित भाव है।

ज्ञानीका लक्ष्य शुभोपयोगमें नहीं रहता। शुभोपयोग रागात्मक है। जब राग है तब चारित्र नहीं है और जब चारित्र है तब राग नहीं है। जो द्रव्य जिस कालमें जिस रूपसे परिणत होता है, उस समय वह उसी रूपसे है। जिस समयमें आत्मा सम्यग्दर्शन गुणसे परिणत हो रहा है, उस समय वह उसी रूप है। द्रव्य अपने पर्यायमय ही होता है। किसी द्रव्यका गुण-पर्याय किसी अन्यमें नहीं पहुंचता। वस्तुके सर्वस्वको उसी वस्तुमें देखो, तो स्वातंत्र्यका जल्दी पता लग जावेगा। निमित्तनैमित्तिकके प्रसारोंने वस्तुके पर्याय, स्वभाव आदिके शीघ्र यथार्थ जाननेमें साधारण लोगोंको अड़चनें लगा दी हैं। परन्तु तर्क-वितर्कके बाद शीघ्र ही समझमें आ जायगा कि निमित्तनैमित्तिकता तो इतनी है और वस्तुस्थिति यह है।

दृष्टान्तपूर्वक निमित्तनैमित्तिक भावका स्पष्टीकरण—इसी निमित्त-नैमित्तिकताको एक दृष्टान्तसे स्पष्ट करते हैं—यह फैला हुआ प्रकाश जो हमें दिखाई दे रहा है और जिसे लोग सूर्यका समझते हैं, वह सूर्यका नहीं है। किन्तु जो चीजें हमें दिखाई दे रही हैं, उनका है। द्रव्यके गुण-पर्याय द्रव्यमें ही रहते हैं, बाहर नहीं जाते। अतः सूर्यका आताप, सूर्यका प्रकाश भी सूर्य बिम्बके भीतर ही रहेगा, बाहर नहीं जावेगा। सूर्यका निमित्त पाकर यहाँके पदार्थ अपनी अन्धकार पर्यायको छोड़कर प्रकाशरूप पर्यायसे परिणत हो रहे हैं, अतः यह प्रकाश इन्हीं पदार्थोंका जानना चाहिए। इसी प्रकार अंगुलीकी पड़ने वाली यह छाया अंगुलीकी नहीं है, वृक्षकी पृथ्वी पर दिखने वाली यह छाया वृक्षकी नहीं है। अंगुलीकी छाया अंगुलिमें और वृक्षकी छाया वृक्षमें ही है। पर यह जो छाया दिखाई दे रही है, यह तो अंगुली या वृक्षके निमित्तको पाकर इस स्थलवर्ती भूमिके प्रदेश स्वयं छायारूपसे परिणत हो रहे हैं। भोजन करते हुए हम जो आम खानेका आनन्द मानते हैं, वह आनन्द आमका नहीं है। किन्तु आम के निमित्तको पाकर जो हमारे भीतर, कल्पना द्वारा सुख गुण प्रकट हुआ, उसका आनन्द है। इसी प्रकार अच्छे घरमें रहने, स्त्रीका सुख भोगने आदिमें जो यह जीव आनन्द मानता है, तो यह आनन्द मकान या स्त्री आदिका नहीं है, किन्तु उनके निमित्तको पाकर आत्माका जो सुख गुण किसही रूप सही प्रगट होता है, वह आनन्द उस सुख गुणका है। हर प्राणी प्रति समय सुख हो तो अपना हो सुख भोगता है। पर मिथ्यात्वी कहता है कि मैं अमुक पदार्थका सुख भोग रहा हूं।

स्वयंकी स्वयंमें प्रयोजकता—'आत्मा पुत्राय न कामयते, आत्मा आत्मने कामयते। इस वेद वाक्यका अर्थ यही है कि मनुष्य पुत्रके लिए सुखकी कामना नहीं करता है, अपने लिए ही सुखकी कामना करता है। एक बारकी बात है कि गंगाकी बाढ़ आई, चारों ओर

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

पानी फैल गया। एक बंदरी अपने बच्चेको लेकर एक ऊंचे मकानपर चढ़ गई। जब बाढ़ वहाँ तक पहुंची, तो वह खड़ी हो गई। जब बाढ़ उसके गले तक पहुंची, तो वह अपनी जान बचानेके लिए अपने बच्चेको नीचे करके उसके ऊपर चढ़ गई। कहनेका भाव यही है कि जब तक अपनी जान पर नौबत नहीं आती, तब तक ही वह दूसरोंसे प्रेम करता रहता है। किन्तु जब उसकी जानपर आती है, तो वह सबके प्रेमको भुलाकर अपनी ही चिन्ता करता है। इससे यही अर्थ निकलता है कि सभी लोग अपने-अपने सुखको चाहते हैं। स्त्री जो पति से प्रेम दिखलाती है, यदि वास्तवमें देखो, तो वह पतिसे नहीं, अपने आपसे प्रेम करती है। स्त्रीका प्रेम उसमें है, अतः वह उसमें तन्मय होगी, वह मुझमें नहीं आ सकता। यदि एकका परिणमन दूसरे रूपसे परिणत हो जाय, तो भारी गड़बड़ी हो जाय। मिलमें सब मनुष्य अपने-अपने स्थान पर कार्य कर रहे हैं, सबकी क्रिया स्वतंत्र है। सब अपनी धुनमें हैं। परन्तु निमित्तके योगसे ऐसा लगता है कि यह परिणमन अमुकके निमित्तसे हो रहा है। निमित्तसे कहीं परिणति नहीं होती।

गाँवोंमें अकसर कहा करते हैं कि यदि तुम मंदिर पूजनको नहीं जा रहे हो, तो बच्चे को भेज दो। मानो बच्चेके पूजन करनेसे उसका फल इन्हें प्राप्त हो जायगा। पर किसीके पूजन करनेका फल किसी औरको नहीं मिला करता है, जो पूजन करेगा, उसे ही उसका फल मिलेगा। हाँ, जिसने बच्चेको पूजनके लिए भेजा है, उसके जो भाव पूजन करानेके हुए हैं, कषाय मन्द हुई है, उसका फल उसे मिलेगा। इसी प्रकार लोग जो सिद्धचक्र विधान कराते हैं, समवशरण मंडल या त्रैलोक्यमंडलविधान कराते हैं, वहांपर भी यही बात है। वहाँ भी पूजनका फल तो पूजन करने वालोंको ही मिलेगा। हाँ, कराने वालोंके जो भाव पूजन कराने के हुए और उनकी जो कषाय मन्द हुई, पूजनके निमित्त द्रव्य लगाया, उसका फल उन्हें मिलेगा, पर पूजा करने वालोंका फल उन्हें नहीं मिल सकता, वह तो पूजा करने वालोंको ही उनके भावोंके अनुसार उन्हें मिलेगा। इस प्रकार सब जगह निमित्तनैमित्तिक सम्बंधको जानकर यथार्थ स्थितिको जाननेका प्रयत्न करना चाहिए।

निश्चयधर्म और व्यवहारधर्म—निश्चय और व्यवहारकी अपेक्षा धर्मका वर्णन दो प्रकारसे होता है। निश्चयधर्म तो आत्माकी शुद्ध परिणति रूप है, उसमें परकी कोई अपेक्षा नहीं रहा करती। वहाँ अभेद दृष्टि ही प्रधान है। पंचपरमेष्ठीकी भक्ति करना, उनके गुणोंका स्मरण करना, उनके नामका जाप करना इत्यादि सब व्यवहारधर्म है। यह व्यवहारधर्म भी निश्चयधर्मकी भावना बिना नहीं आता, इसलिए पंचपरमेष्ठीकी भक्ति आदि करनेको व्यवहारसे व्यवहार धर्म कहा जाता है। इन दोनों प्रकारके धर्मोंमें से आत्मा जब जिस रूपसे परिणत होता है, तब वह उस रूपसे कहा जाता है। उपादान कारणके सदृश ही कार्य होता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है, ऐसी लोकमें व्यवस्था है। वह उपादान कारण शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकारका होता है। आगमकी भाषामें जिसे शुक्लध्यान कहते हैं और अध्यात्मकी भाषामें जिसे रागादि-विकल्परहित स्वसंवेदन ज्ञान कहते हैं, वह केवलज्ञानकी उत्पत्तिमें शुद्ध उपादान कारण है। इस वीतराग परिणतिका नाम ही कार्य निश्चयधर्म है। जो धर्म या जो कार्य परम्परासे इस वीतराग परिणतिके प्राप्त करनेमें कारण पड़ते हैं, उन्हें व्यवहारधर्म कहा जाता है। श्रावकके जो देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान ये ६ आवश्यक बतलाये गये हैं, उनके उद्देश्यपर यदि दृष्टि डाली जाय, तो पता चलेगा, कि वे भी परम्परा निश्चयधर्मके ही पोषक हैं। देखो, देवपूजा और दान सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेमें कारण है, स्वाध्यायसे सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति होती है। गुरूपास्ति, संयम और तपसे सम्यक्चारित्रकी सिद्धि होती है। इस प्रकार श्रावकके ये षट्कर्तव्य रत्नत्रयके ही कारण होते हैं, इसलिए उन्हें व्यवहारधर्म कहा गया है।

चारित्रपना आत्माके ही है, अथवा अभेद दृष्टिसे चारित्र आत्मा ही है, धर्म आत्मा ही है। इस प्रकार चारित्रका आत्माके साथ अभेद सन्धिपूर्वक वर्णन हुआ। अथ जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वं निश्चिनोति—अब जीवके शुभ, अशुभ और शुद्ध भावोंका निर्णय करते हैं—

गाथा— जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हु परिणामसब्भावो ॥६॥

जीवकी शुभ अशुभ शुद्धरूपता—जब जीव शुभ परिणामसे परिणमता है, तब वह शुभ कहलाता है, जब अशुभ परिणामसे परिणमता है तब वह अशुभ कहलाता है और जब शुद्धभावसे परिणमता है तब शुद्ध कहलाता है। इस प्रकार विभिन्न परिणामोंके योगसे जीवके तीन रूप हो जाते हैं।

वस्तुके यथार्थस्वरूपको समझनेके लिए जो प्रयत्न होता है, उसे श्लाघ्य शुभोपयोग कहते हैं। गृहस्थकी अपेक्षा सरागसम्यक्त्वपूर्वक दान देना, पूजा करना, गुरुसेवा करना, बारह व्रतोंका पालना आदि कार्य शुभोपयोगरूप हैं। साधुकी अपेक्षा अट्ठाइस मूल गुणों और चौरासी लाख उत्तर गुणोंका पालन करना, उनके बढ़ानेमें उद्यत रहना सो शुभोपयोग है। चौथे गुण-स्थानसे लेकर छठे गुणस्थान तकके ज्ञानियोंके यह शुभोपयोग पुंछल्लाके समान लटका ही रहेगा। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषायादि रूप अशुभ परिणतिको अशुभोपयोग कहते हैं। आर्त-रौद्रध्यान रूप जो अशुभ क्रिया होती है, उसे ही अशुभोपयोग जानना चाहिए। हिंसादि पांच पाप रूप प्रवृत्ति अशुभोपयोग है और अहिंसादि पाँच व्रतरूप प्रवृत्ति शुभोपयोग है। पुण्य और पापरूप दोनों प्रकारकी प्रवृत्तियोंसे रहित शुद्ध आत्माभिमुखी प्रवृत्ति या परद्रव्यके सम्पर्कसे रहित निवृत्तिरूप परिणतिको शुद्धोपयोग कहते हैं। यह शुद्धोपयोग तारतम्य क्रमसे सातवें गुणस्थानसे लेकर ऊपर-ऊपरके गुणस्थानोंमें क्रमशः वृद्धिगत होता जाता है।

Version 1

व्यवहारधर्मका निभाव—आज लोग दूसरोंकी निन्दा करते हैं; त्यागी, व्रती और साधुवोंकी भी निन्दा करते हैं और कहते हैं कि उसमें 'यह कमी है, वह कमी है,' इत्यादि। पर क्या आप लोगोंने अपनी ओर भी कभी देखा है ? व्यवहारधर्मके आधार श्रावक हैं। जिन भगवानका प्रतिदिन पूजन करना और व्रती, त्यागियोंको भक्तिपूर्वक दान देना श्रावकोंका प्रधान कर्तव्य कहा गया है। जो गृहस्थाश्रममें रहकर भी उक्त दोनों कार्य नहीं करता है, पद्मनन्दि आचार्य कहते हैं कि उसे तो गहरे जलमें प्रवेश करके गृहस्थाश्रमके लिए जलांजलि दे देना चाहिए—पूजा न चेज्जिनपतेः पदपंकजेषुदानं न संयतजनाय च भक्तिपूर्वम्। नो दीयते किमु ततः सदवस्थतायाः शीघ्रं जलांजलिरगाधजले प्रविश्य ॥

सदाचारी, विचारवान् और व्रती श्रावकोंसे ही श्रावक और मुनि दोनोंका मार्ग चलता है। पहले दातार शुद्धभोजी थे, तो मुनियोंको भी शुद्ध भोजन सहजमें प्राप्त हो जाता था। साधु जन गृहस्थोंके यहाँ जैसा खाते हैं, तदनुसार उनकी मनोवृत्ति हुआ करती है। ऐसी प्रायः लोकोक्ति है कि 'जैसा खावे अन्न, वैसा होवे मन। जैसा पीवे पानी, वैसी बोले बानी।' लोग शुद्धोपयोगकी चर्चा करके भी शुभोपयोग तकमें भी कदम ही नहीं रखना चाहते, तो बताओ वे लाभमें रहेंगे या हानिमें ? शुष्कचर्चासे मोक्षमार्ग नहीं चलेगा। शुद्ध तत्त्वकी दृष्टिका दृढ़ प्रक्रियासे मोक्षमार्ग होगा। श्रद्धाकी बात श्रद्धाकी जगह है, पर करनेकी बात करनेकी जगह है। हम लोग बढ़ते भी हैं तो अफसोस करके ही रह जाते हैं। सहारनपुरकी बात है, उस समय मेरे नवमी प्रतिमा थी। मैं आहार करनेके लिए गया। भक्त दातारने ताजे गुलाबजामुन बनाए थे। मैंने एक उठाकर जैसे ही मुखमें डाला कि मेरी आँखोंसे आँसू निकल पड़े। दातार देखकर घबड़ा गया कि कहीं मेरे गुलाबजामुन कड़ुवे तो नहीं हो गए हैं ? आहारके अनन्तर उसने आँसू आनेका कारण पूछा ? मैंने कहा—गुलाबजामुन तो मीठे ही थे। पर जब मैं भोजनके पूर्व सिद्धभक्ति कर रहा था, तब मेरे भाव हुए कि देखो, जीवको खाते-खाते अनन्त-काल व्यतीत हो गया, असंख्य बार इस उत्तमसे भी उत्तम भोग्य पदार्थोंको इसने भोग-भोग-कर छोड़ दिया, फिर भी यह उन उच्छिष्ट पदार्थोंको खानेके लिए उत्सुक रहता है। इन विचारोंमें डूबा हुआ मैं जब भोजन करने बैठा, तो गुलाबजामुनको मुखमें रखते ही मेरे आँखों से आँसू निकल पड़े।

धर्मप्रवृत्तियोंका प्रयोजन—भोजनके पहले और पीछे जो सिद्धभक्ति की जाती है, उसका क्या रहस्य है ? पहले की जाने वाली सिद्धभक्तिका तो यह रहस्य है कि जिस भोजन को करने जा रहे हो, मानो तुम भोजनसे मोर्चा लेने जा रहे हो, उसमें कहीं तुम्हारी आसक्ति न हो जाय और तुम मोर्चेमें असफल हो जाओ। अन्तमें जो सिद्धभक्ति की जाती है, उसका यह अभिप्राय है कि भोजन करते हुए यदि कहीं मैं आसक्त हो गया होऊं, कोई भूल हो गई

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

हो, तो उसकी आलोचना तुरन्त कर ली जाय, सम्हाल कर ली जाय। यह सिद्धभक्ति क्या है? निज रूपकी सम्हाल ही तो है। गृहस्थीका प्रत्येक कार्य रहस्यसे भरा हुआ है, अतः जिस कामको भी करो, उसके रहस्य जाननेका प्रयास करो। जब तक रहस्य समझमें न आवे तब तक उसके जाननेका प्रयत्न जारी रखो। अरहन्त भक्तिका क्या रहस्य है? मित्रता और, सही भक्ति बराबर वालोंमें ही हुआ करती है। मुमुक्षुओंको मोक्षमार्गपर चलते हुए बार-बार किसका ख्याल आयगा? मोक्षमार्गियोंका ही आयगा। यही अरहन्त भक्तिका रहस्य है। हम भी मोक्षमार्गी हैं, अतः उसपर चलते हुए हमें भी अरहंतोंका ध्यान आना ही चाहिए। यदि प्रातःकाल मन्दिरमें अधिक भीड़-भाड़ होनेसे हमारा ध्यान पूजनमें नहीं लगता है, तो हमें दोपहरमें आकर भगवानका पूजन करना चाहिए। पूजन करते समय हमारी दृष्टि भगवानपर, उनके गुणस्मरणपर ही रहनी चाहिए। दूसरे किसी पदार्थपर हमारी दृष्टि नहीं जानी चाहिए।

सबको प्रसन्न करनेकी अशक्यता—प्रायः लोग औरोंको खुश करनेके लिए देवपूजा आदि कार्य किया करते हैं, पर यह उनकी भूल है। सबको तो खुश कोई रख ही नहीं सकता। इसलिए औरोंको खुश करनेकी दृष्टि छोड़कर अपने कर्तव्य पालनकी दृष्टि रखना चाहिए। एक कथा है कि किसी सेठजीके चार लड़के थे और उनके पास पांच लाख रुपया था। उन्होंने एक-एक लाख रुपया लड़कोंको देकर न्यारा कर दिया और एक लाख रुपया अपने लिए रख लिया। सेठजीने छोटे लड़केको बुलाकर कहा—देखो बेटे, जाति-बिरादरीमें अपनी पोजीशन मानप्रतिष्ठा बनाये रखनेके लिए जाति वालोंको खिलाते-पिलाते रहना चाहिए। छोटे लड़केने पिताकी बात मानकर बिरादरी वालोंका निमंत्रण किया, सात प्रकारकी मिठाई बनवाई और हर्षपूर्वक सबको खूब खिलाई। लोग आपसमें बातें करने लगे, इस बदमाशने अधिक धन मार लिया है, तभी यह खुशीमें लोगोंको लड्डू खिला रहा है। कुछ दिनोंके पश्चात् दूसरे भाईने जातिवालोंका निमंत्रण किया, पर उसने सातकी जगह पांच प्रकारकी ही मिठाई बनवाई। लोग खाकर बोले—यह और भी बदमाश मालूम पड़ता है, इसने माल तो अधिक रख लिया और पंचोंको पंचवन्नीमें ही टिरकाता है। कुछ दिनोंके बाद तीसरे भाईने जाति वालोंका जीमनवार किया और दो-एक किस्मकी मिठाई और पूड़ी शाक खिलाई। लोग बोले, यह उससे भी अधिक बदमाश मालूम पड़ता है। कुछ दिनोंके बाद सबसे बड़े भाईने जाति वालोंकी जीमनवार की, और केवल पूड़ी शाक ही बनवाई। लोग खाकर बोले—यह सबसे अधिक बदमाश मालूम पड़ता है, सबसे बड़ा लड़का है चाबी इसके पास थी, धन तो सब रख लिया होगा अपने पास और हम सबको पूड़ी शाकमें ही टिरका दिया। कहनेका सारांश यह है कि सबको खुश रखनेका कोई उपाय नहीं है, और न कोई सबको खुश रख ही सकता है। इसलिए हमें कोई भी काम व विशेषतः धर्मसाधन दूसरोंको खुश रखनेके लिए

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं, बल्कि अपने ही कर्तव्यपालनकी दृष्टिसे करना चाहिए। दुनियाको प्रसन्न कौन रख सकता है? अतएव सबको अपनी मान मर्यादा सामने रखकर कर्तव्यपालन करना चाहिए। दूसरोंके खुश करनेकी चिन्ता व्यर्थ है।

मोक्षमार्गीको पहले अरहंत सिद्धका स्वरूप समझना चाहिए। जैसा अरहंत सिद्धका स्वरूप है, यदि यह न समझ पाया तो करोगे क्या? अपने स्वभावकी और उनके आश्रयसे वैसे पर्यायस्वभावकी एकत्वसन्धि लगाना ही मोक्षमार्ग है।

शुभोपयोगकी निष्पत्तिकी पद्धतिपर विचार—प्रश्न— जीवमें जो शुभ परिणाम होता हैं, वह स्वभावसे होता है, या निमित्तकी उपस्थितिसे? उत्तर—जीवमें शुभ परिणाम निमित्त की उपस्थितिसे होता है। शुभोपयोगमें कर्म तो निमित्त है और मूर्ति आदिक आश्रय हैं परन्तु उपादानदृष्टिसे वस्तुत्वदृष्टि देखो तो जीवकी परिणतिसे जीवका परिणमन होता है। यदि बाह्य और अन्तरङ्ग कारणोंके योगसे मेरे शुभोपयोग होता है, तो होने दो, पर ज्ञानी अपने आत्म-स्वभावमें शुभोपयोगकी प्रतिष्ठा नहीं होने देता। शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनों ही कर्म-प्रेरित हैं, पर भेद तीव्र मन्दताका है। जब कषायोंका उदय तीव्र होता है तो अशुभोपयोग होता है और जब कषायोंका मन्द उदय होता है, तब शुभोपयोग होता है। स्फटिकमणिमें जो जपा आदिके योगसे रंग दिखता है, वह क्या स्फटिकका है? नहीं। वह तो परके सम्बंधसे दिख रहा है और उसका सम्बंध दूर होते ही मिट जायगा। मैं भीतर घुसके कह रहा हूं, हमें सिद्धोंका लक्ष्य रखकर कार्य करना चाहिए। जिन्होंने सिद्धोंको रखकर निज शुद्ध परमात्माके लक्ष्यसे अपनी दृष्टि निर्मल की, वे ही शुद्धोपयोगमें पहुंचे। मेरा उद्यम शुद्धोपयोगके लिए है, पर जो उद्यम है, वह शुभोपयोग है। शुभोपयोगके बिना काम नहीं चलता, और उसे पकड़े रहनेसे भी काम नहीं चलता। जब यह जीव अशुभोपयोगसे परिणत होता है, तब अशुभ कहलाता है। जब यह शुभोपयोगसे परिणत होता है, तब वह शुभ कहलाता है और जब यह शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रूपसे परिणत होता है तब वह शुद्ध कहलाता है।

अपराध और मुक्तिमें जीवका प्रवर्तन—भैया! यही जीव तो अपराध करता है और यही उससे मुक्त होता है। जैसा करेगा, सो वैसा भरेगा। कोई तो क्या भगवान भी किसीको सुख दुःख नहीं देते। निमित्त होनेकी बात दूसरी है। विषापहार स्तोत्रमें कहा है—उपैति भक्त्या सुमुखः सुखानि, त्वयि स्वभावाद्विमुखश्च दुःखम्। सदावदातद्युतिरेकरूप स्तयोस्त्वो मादर्श इवावभासि॥

हे भगवन! हे ज्ञानमय तत्त्व, जो रुचि श्रद्धापूर्वक तुममें अभिमुख होता है, वह स्व-भावसे ही सुखको प्राप्त करता है और जो तुमसे विमुख रहता है वह स्वतः ही विभावके परि-णमनसे दुःखको प्राप्त करता है। पर हे प्रकाशमान चैतन्य! तुम तो उन दोनों ही दशाओंमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

सदा एक आदर्श (दर्पण) के समान शोभायमान होते हो।

इससे भी यही अर्थ निकलता है कि भगवान किसीको कुछ देते नहीं हैं। भक्त ही अपनी भक्ति और भावनाके अनुसार भला या बुरा फल पाया करता है। भगवान न किसी को सुख देते हैं और न किसीको दुःख ही। जिसकी भावना सदा अच्छी रहेगी, वह सुख पायगा, और जिसकी भावना बुरी रहेगी वह दुःख पायगा। भगवान तो केवल आश्रय विषय मात्र हैं और सुख दुःखमें हमारे भाव निमित्त हैं। यदि आपका लक्ष्य निरन्तर शुद्ध तत्त्वके लक्ष्य वाला शुभोपयोग रूप रहेगा, तो आप परीक्षामें अवश्य उत्तीर्ण होंगे। शुद्धोपयोगमें चलने का मार्ग शुभोपयोग है। किन्तु यदि उसके लक्ष्यमें शुभोपयोग आ जाय, तो उसका मार्ग ही बन्द हो जायगा।

लक्ष्यका सहारा—इस समय शुभोपयोग तो पर्यायमें है और शुद्धोपयोग लक्ष्यमें है। क्या कहाँ कैसा है, यह बात यथार्थ समझना चाहिए। सम्यग्ज्ञान यही है कि जो जैसा है, उसे वैसा ही समझें, हीनाधिक नहीं। समन्तभद्राचार्यने सम्यग्ज्ञानका यही स्वरूप कहा है—अन्यून-मतिरिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्। निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥

वस्तुके स्वरूपको न्यूनतारहित, अधिकतारहित, विपरीततारहित और सन्देहरहित यथार्थ जाननेको आगमके जानकारोंने सम्यग्ज्ञान कहा है। प्रश्न—क्या किसी खास कामका नाम शुभोपयोग है? उत्तर—किसी खास कामका नाम शुभोपयोग नहीं है, किन्तु जो काम शुभ परिणामोंसे सम्पन्न होते हैं, शुभ भावसे युक्त हैं, जिनके करनेसे किसी जीवको भी किसी प्रकारका कोई कष्ट नहीं पहुंचता उन कामोंका नाम शुभोपयोग है। मन, वचन, कायकी क्रिया, विनयरूप होना, जीवरक्षारूप होना, दान देने रूप होना—ये सब शुभोपयोग ही हैं। जब तक जीव अपनी परिणतिको शुभसे शुभतर नहीं बनाता, तब तक वह शुद्धोपयोगी भी नहीं बन सकता। मोक्षमार्गकी पटरीपर चलनेके लिए पूर्ण सावधानीकी आवश्यकता है।

अन्तरंगमें भावना जागृत करो, जिसकी भावनामें शुद्धोपयोग है, वह भावना तो शुभोपयोगरूप पर्याय है, परन्तु उसका जो लक्ष्य है, वह शुद्ध है। शुभोपयोग हमारा खंड ज्ञान है। परन्तु जो शुद्ध निज वस्तुका लक्ष्य करके बना है, वह अखंड तत्त्व शुभोपयोगमें विद्यमान है अर्थात् अखंडका खंड ज्ञान है। खंडमें अखंड विराज रहा है। बताओ जिसमें अखण्ड विराज रहा है वह खण्डरूप कब तक रहेगा? एक दिन वह भी अखण्ड हो जायगा। आप स्वयं कल्पवृक्ष हैं, किससे क्या याचना कर रहे हो? जैसी भावना होती है, वह आत्माको अवश्य मिलता है। एक-एक वस्तुकी बात तो नहीं कहते, परन्तु जिस जातिकी आप भावना करेंगे, उसकी सिद्धि अवश्य होती है। यदि शरीर अच्छा है, शरीर ही मिलता रहो, ऐसी भावना बनी रहे, तो शरीरोंके टोटे नहीं, मिलते ही रहेंगे, अर्थात् मरे और नया शरीर मिला, इस

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकारका तांता लगा ही रहेगा। यदि ऐसी भावना करें कि मैं शरीररहित हूं, ज्ञानमात्र हूं, सबसे भिन्न हूं, निर्विकार हूं, तो इस भावनाके फलस्वरूप चाहे एकाध भवकी देरी लगे, परन्तु ऐसा हो करके ही रहेगा। तब बताओ—जैसी भावना की, तैसी ही इसे सिद्धि हुई या नहीं ? इससे अपने फलाफलके लिए अपनी ही जिम्मेदारी समझें, अपनी दशाके लिए हम स्वयं जिम्मेदार हैं।

आत्मविजयकी आत्मतन्त्रता—देखो भैया, मांगने वाले बहुतसे लोग कहा करते हैं कि भगवती तुम्हारी फतेह करे। क्या जैसे पंडितकी पंडितानी, सेठकी सेठानी, बाबूकी बाबूयानी होती है, वैसे ही क्या भगवानकी भी कोई भगवती स्त्री है ? नहीं है। तब क्या उनका यह कहना झूठ है ? हां, उनकी दृष्टिसे तो झूठ है, परन्तु तत्त्वदृष्टि लगाओ तो झूठ नहीं है। भगवतीका अर्थ है—भगवतः अभिन्ना इयं परिणतिः—भगवती अर्थात् भगवानकी निज सहज अभिन्न परिणति ही भगवती है। सो यह भगवती फतेह ही करती है। शुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहनेमें अनाकुल सुखरूप विजय ही विजय है। विजय स्वके तन्त्र है।

सर्व कार्य अपनी-अपनी द्रव्यकी परिणतिसे ही होते हैं। आप कहोगे कि वाह, इसमें तो ईश्वरको भी उड़ा दिया, परन्तु भाई, वह द्रव्य क्या है, वह मैं क्या हूं ? जिसके परिणमन पर्याय कहलाते हैं उसे जो समझे, समझो उसने ही ईश्वरकी असली भक्ति की। ईश्वर तो हमारा आदर्श है, उसके स्वरूपके लक्ष्यरूप निज द्रव्यदृष्टिसे पर्यायमें निर्मलता आती है। उस ज्ञानीको पूर्ण निश्चय है, अपने स्वभावको देखकर उसे पूर्ण निर्णय हुआ कि जो सिद्धमें है, वह मुझमें है और जो मुझमें नहीं, वह सिद्धमें नहीं। द्रव्य और गुणोंकी कैसी अपूर्व सन्धि है ? सचमुचमें ज्ञानीके ही अनन्त चतुष्टयमय प्रभुकी भक्ति होती है।

सर्वज्ञदेवका तो हमें यह उपदेश है कि हे मुमुक्षो, तुम मुझमें भी अनुराग मत करो। यह अनुराग भी चन्दन वनमें लगी हुई अग्निके समान स्वर्गसुखके क्लेशरूप दाहको ही पैदा करेगा। तुम्हारा शुद्धस्वरूप ज्ञानदर्शनकी विशुद्ध परिणति है आदि निष्पक्ष उपदेश है। इस उपदेशको सुनकर सरागपर्यायमें रहने वाला भक्त क्या उनकी भक्ति छोड़ देता है ? नहीं, उल्टी उसकी तो भक्ति और बढ़ जाती है। हां, श्रद्धा अवश्य सूक्ष्मसे सूक्ष्म भी विकारोंसे रहित, भेद कल्पनासे रहित, शुद्ध तत्त्वकी है और वही लक्ष्यमें रहता है।

सम्यग्दृष्टिकी लीला—सम्यग्दृष्टिकी लीला विचित्र है। देखो—जिस कल्पनासे सम्यग्दृष्टिको अरहंत और सिद्धस्वरूप मिल गया, वह कल्पना भूखी रह-रहकर स्वयं मर जाती है। कल्पनाकी खुराक कल्पनाका राग है। ज्ञानीका जो शुभोपयोग है, उसे रागकी खुराक नहीं मिलती। रागको यदि रागकी खुराक नहीं मिले, तो वह खत्म हो जायगा। भक्तकी भक्ति भी उसे उच्च पद प्राप्त करनेमें बाधक है। भक्त इस बातको जानता हुआ भी भक्ति करता है,

Report any errors at vikasnd@gmail.com

उससे बाज नहीं आता। इसे शास्त्रोंमें उसका प्रशस्त राग ही माना है, और राग तो चाहे प्रशस्त हो या अप्रशस्त, सभीको हेय बताया गया है। प्रश्न—जब रागको हेय बताया गया है, तो सम्यग्दृष्टि शुभोपयोगको करता ही क्यों है? उत्तर—सम्यग्दृष्टि शुभोपयोगको करता नहीं है, वह उसके होता है, इसके लिये वह क्या करे? वह अन्तरंगमें उसे उपादेय नहीं मानता, इसलिये उसे पकड़ता नहीं है। सम्यग्दृष्टि श्रद्धासे पूर्ण अकर्ता है।

परिणामोंका उपसंहार—जीवोंके परिणाम तीन प्रकारके बताये गये हैं—अशुभ, शुभ और शुद्ध। इनमें मिथ्यादृष्टिके शुभ और अशुभ परिणाम कर्मबन्धके ही कारण होते हैं। सम्यग्दृष्टि अशुभका तो त्याग करता ही है, पर शुभको भी उपादेय नहीं मानता, अतः उसका शुभोपयोग विशेषतया कर्मबन्धका कारण नहीं होता, प्रत्युत शुद्धोपयोगका पूर्व कारण होता है। शुद्धोपयोग साक्षात् वीतरागपरिणति है, वही कर्मोंका विनाश करता है और केवलज्ञानको उत्पन्न करता है। ज्ञानीकी दृष्टि सदा शुद्धोपयोग प्राप्त करनेपर रहती है परन्तु श्रद्धाका लक्ष्य शुद्ध पर्याय भी न रहकर द्रव्य व अर्थ रहता है। हमें भी सदा यही लक्ष्य रखना चाहिए, और जब तक शुद्धोपयोग दशा प्रगट न हो, तब तक उदासीन भावसे शुभ क्रियाएं होते रहना चाहिये। कहीं ऐसा न हो कि हम अशुभके समान शुभ क्रियाओंको भी छोड़ बैठें और शुद्ध तो हमसे छूटा हुआ ही है। ऐसी दशामें हम कहींके न रहेंगे। यह व्यवहारकी बात है।

ये अशुभादि तीन परिणाम आत्माके ही हैं, पर इनमें जो सामान्य परिणमन है, वह आत्मस्वरूप है। आत्मामें जो विभावगुण है, वही क्रोधादिरूप परिणमता है। प्रश्न—क्या रागादि भी आत्माके स्वभावसे परिणमता है? उत्तर—निमित्तकी उपस्थितिमें अशुद्ध आत्मा अपने विभावस्वभावकी परिणतिसे रागरूप परिणमता है। अथ परिणामं वस्तुस्वभावत्वेन निश्चिनोति—अब परिणाम वस्तुका स्वभाव है, इस बातका निश्चय करते हैं—

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥१०॥

पदार्थकी द्रव्यगुणपर्यायस्थता—परिणामके बिना अर्थ नहीं, इसका अभिप्राय यह है कि पर्यायके बिना द्रव्यका अस्तित्व नहीं। यदि कोई कहे कि ऐसा मनुष्य लाओ जो न बालक हो, न जवान हो और न बूढ़ा हो, तो बताओ किसी अवस्था विशेषके बिना केवल मनुष्य कैसे लाया जा सकता है? जब भी और जहाँ कहीं भी मनुष्य मिलेगा, वह किसी न किसी बाल-वृद्धादि अवस्थासे युक्त ही मिलेगा। इसी प्रकार कोई भी पदार्थ पर्यायशून्य नहीं मिल सकता। जब भी और जहां कहीं भी पदार्थ मिलेगा, वह पर्याय-संयुक्त ही मिलेगा। जिसकी कोई पर्याय उपलब्ध नहीं, उसकी सत्ता क्या? बच्चे अक्सर खेल खेलमें किसी बालकको बीमार मानकर उसके चिकित्सक बन जाते हैं और उसके अच्छा होनेके लिए दवा बतलाने

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

लगते हैं कि इसे आकाशकी छाल, धुंआकी कोंपल और अमरबेलकी जड़ लेकर गधेके सींगसे पीसकर पिला दो, जल्दी अच्छा हो जायगा। पर जब उक्त कोई चीज अपना अस्तित्व ही नहीं रखती, तो उनका समुदाय कैसा ?

पर्यायकी प्रतिक्षण अवश्यंभाविता—द्रव्यके बिना पर्याय नहीं, पर्यायके बिना द्रव्य नहीं। जो वस्तु जिस क्षण जिस रूपसे रहेगी, उसीका नाम पर्याय है। पर्याय प्रतिक्षण नवीन नवीन उत्पन्न होती रहती है, पर वह प्रतिक्षणका परिणमन इतना सूक्ष्म होता है कि हम उसे जान नहीं सकते। कुछ कालके बाद ही हमें उसका ज्ञान होता है। कोई बालक एक वर्ष पूर्व ३॥ फुटका था और उसका वजन १ मन था। आज वर्षभरके उपरान्त वह ४ फुटका हो गया और वजन भी १ मन ५ सेर हो गया, तो यह परिवर्तन एक साथ एक दिनमें ही नहीं हो गया। वह बराबर गत वर्षसे ही प्रतिक्षण बढ़ता हुआ चला आ रहा है, पर प्रतिक्षणका परिवर्तन इतना सूक्ष्म था कि हमें उसका भान नहीं होता था। आज वर्षभरमें वह स्थूलरूप में सामने आया, तब हमें उसका ज्ञान हो सका।

वस्तुका परिणमन तो अवश्यम्भावी है। कहींपर उस परिणमनके बाह्य निमित्त दिखाई देते हैं और कहींपर नहीं। एक लड़का दूर खड़ा हुआ किसी दूसरे बालकको अपनी मुखाकृति बिगाड़कर चिढ़ा रहा है और दूसरा चिढ़ रहा है। बताओ, वह किसकी परिणतिसे चिढ़ रहा है ? चिढ़ तो उसमें निज परिणतिसे है, परन्तु निमित्त वह चिढ़ाने वाला बालक हो रहा है। यहाँपर बाह्य निमित्त दिखाई दे रहा है। पर कहीं बाह्य निमित्त दिखाई दे रहा है। पर कहीं बाह्य निमित्त नहीं होनेपर भी वस्तुका परिणमन बराबर होता रहता है। एक आम हरासे पीला हो गया। यहाँपर जाहिरमें कोई बाह्य निमित्त नहीं है, फिर भी आमके रूपमें परिवर्तन तो हुआ ही है। मुखकी उपस्थितिमें दर्पणमें जो रूप बनता है, वह प्रतिबिम्ब कहलाता है। यहाँ जो दर्पणमें परिणमन हुआ, वह दर्पणका ही है, हाँ मुख उसमें निमित्त कारण अवश्य हुआ। इसी प्रकार जीवमें जो क्रोधादिरूप परिणमन होता है, उसमें कर्मका उदय निमित्त पड़ा करता है। पर सिद्धोंमें जो परिणमन प्रतिक्षण हो रहा है, उसमें बाह्य निमित्त नहीं है।

वस्तुविज्ञानका फल विकारका अभाव—प्रश्न—"हम जीवद्रव्य हैं, हमारा परिणमन हममें हमारे ही निमित्तसे हो रहा है। दूसरे किसीके निमित्तसे मेरे भीतर परिणमन नहीं होता।" ऐसा जाननेसे हमें क्या लाभ हुआ ? उत्तर—यह लाभ हुआ कि वैसा जाननेसे हमारे भीतर वैसी ही श्रद्धा प्रगट होती है, उससे परमें राग, द्वेष या मोह नहीं होता। दूसरे में इष्ट-अनिष्टकी कल्पना नहीं जगती और इस प्रकार हम एक बड़ी आकुलतासे मुक्ति पा जाते हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

वस्तुविज्ञानका फल राग, द्वेष, मोह, लिप्सा आदिको दूर करना है। हमें कर्मके क्षयोपशमसे जो कुछ भी ज्ञान मिला है उसका उपयोग हमें परसे ममत्व हटानेमें ही करना चाहिये। जो दुनियादारीकी बातोंमें ही अपने ज्ञानका उपयोग करते हैं वे मानो हाथी पा करके उसपर ईंधन ढो रहे हैं, अथवा राखके लिये चन्दनको जला रहे हैं, अथवा अमृत पा करके उससे पैर धो रहे हैं, अथवा चिन्तामणि रत्नको कौआ उड़ानेके लिये फेंक रहे हैं। कुछ लोग इतने कंजूस देखे जाते हैं कि केला खा करके उसके छिलकेको भी चाट जाते हैं। पर हमें उन जैसी कंजूसी ज्ञानके पक्षमें लगाना चाहिये। हमें जितना भी ज्ञान प्राप्त है, उसे निरन्तर आत्महितमें, स्वकल्याणमें ही व्यय करना चाहिये। सर्व ज्ञेयाकार वहाँ स्वयं प्रकट होंगे।

उपदेशका विशुद्ध प्रयोजन—प्रश्न—यदि ऐसा है, तो फिर आपको भी आपका ज्ञान अपने ही कल्याणमें लगाना चाहिए। हमारे लिए उपदेशादि क्यों देते हैं? उत्तर—आपका कहना ठीक है, हमें अपने ज्ञानका उपयोग स्वकल्याणमें ही करना चाहिए। फिर भी हम जो उपदेशादि देते हैं, वह अपने ज्ञानकी रक्षाके लिए ही देते हैं। ज्ञानकी ऐसी विलक्षण बात है कि ज्यों-ज्यों इसे हम खर्च करते हैं, त्यों-त्यों यह बढ़ता है और जब हम इसका खर्च बन्द कर देते हैं अर्थात् दूसरोंको नहीं देते हैं, तब इसकी वृद्धि रुक जाती है और ज्ञानको जंग लगना शुरू हो जाता है। कहा भी है—

सरस्वतिके भंडारकी, बड़ी अपूरब बात।
खर्चे ते यह बढ़त है, बिन खर्चे घट जात॥

लोग ज्ञान पा करके दूसरोंके साथ शास्त्रार्थ करते हैं, वाद-विवाद करते हैं और दूसरोंको नीचा दिखानेका प्रयत्न करते हैं। पर यह ज्ञानका, विद्या पानेका दुरुपयोग है। इसी प्रकार धन पा करके लोग मदान्ध हो जाते हैं, उन्हें फिर दूसरेके सुख दुःखका कुछ ख्याल नहीं रहता। रात दिन विषयोंके सेवनमें ही उलझे रहते हैं। उनकी यह दशा यहां तक बढ़ जाती है कि यदि कोई सुगुरु उनके भलेकी बात कहे, तो उन्हें वह विषसी लगती है। किसी आचार्यने उनकी यह दशा देखकर कहा है—

न शृण्वन्ति न बुध्यन्ति न प्रयान्ति च सत्पथम्।
प्रयान्तोऽपि न कार्यन्तं धनान्धा इति चिन्त्यताम्॥

अर्थात् धनके मदसे अन्धे हुए पुरुष प्रथम तो अपने कल्याणकी बात सुनते ही नहीं हैं। यदि लोकलाजवश सुन भी लेवें, तो उसे समझते नहीं हैं। यदि समझ भी लें, तो उस सुमार्गपर चलते नहीं हैं। यदि चार जनोंके कहने-सुननेसे चलें भी, तो कार्यके अन्त तक नहीं पहुंचते, बीचमें ही अटक जाते हैं, धनान्धोंकी यह दशा विचारणीय है। इसी प्रकार लोग शक्तिबलको पाकर उसका उपयोग दूसरोंको पीड़ा पहुंचानेमें करते हैं। वे शिकार खेलकर,

Version 1

गरीबोंको सताकर और निहत्थोंपर वार करके अपनेको शक्तिशाली होनेका गौरव अनुभव करते हैं। पर समझदारोंकी बातें इनसे विपरीत ही हुआ करती हैं। किसीने कितना सुन्दर कहा है:—

विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय। खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्, ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥१॥ अर्थात् यदि दुर्जन मनुष्यको विद्या मिलती है, तो वह दूसरों से विवाद करता है, धन मिलता है, तो वह गर्व करता है और शक्ति मिलती है तो वह दूसरोंको पीड़ा देता है। पर जो सज्जन होते हैं, साधु होते हैं, उनकी विद्या दूसरोंके ज्ञान बढ़ानेके काम आती है, उनका धन दानके काम आता है और उनकी शक्ति दूसरोंकी रक्षाके काम आती है।

वस्तुकी सामान्यविशेषात्मकतामें द्रव्य गुण पर्यायकी सिद्धि—कोई भी वस्तु परिणमनके बिना नहीं रहती। द्रव्य, गुण, पर्यायमें रहनेसे ही उसका अस्तित्व है। वस्तु पर्यायके बिना सत्ताको प्राप्त नहीं हो सकता। मनुष्यपर्यायमें रहनेपर जो हालतें उस पर्यायके स्वभाव से हैं, यदि उन्हें न माना जाय, तो मनुष्यत्व क्या रहेगा ? यदि किसीसे कहा जाय कि मनुष्य को देखो, पर उसके बालपन, जवानी और वृद्धपनको मत देखो, तो बताओ—क्या देखा जा सकता हैं ? हाँ, उन सब पर्यायोंमें अन्वयरूपसे रहने वाला जो कुछ है, वह मनुष्य ज्ञानके द्वारा जाना जा सकता है। वस्तु एक है, वह कोई न कोई हालतमें रहती ही है। जो हालत है, पर्याय है और जो प्रत्येक हालतमें अन्तर एक स्वरूप है, वही द्रव्य है। यह हालत द्रव्यसे पृथक् नहीं है। परन्तु अवस्था क्षणभरको रहती है और द्रव्य अनेक अवस्थाओंको पार करता हुआ त्रिकाल रहता है, इसलिए पर्यायसे द्रव्यका पृथक् स्वरूप हुआ। वर्तमानमें तो द्रव्य उस पर्यायमय है। वस्तुकी उपलब्धि परिणमनसे पृथक् ज्ञानगम्य तो है, परन्तु वस्तुमें पृथक् नहीं मिलेगी, क्योंकि वस्तु सामान्यविशेषात्मक ही होता है। जब हम ज्ञाननयके द्वारा उस वस्तुके सामान्य भावका बोध कर रहे हैं, तब हमारे ज्ञानमें सामान्य भाव तो पृथक् स्वरूपसे ज्ञात हुआ, फिर भी ऐसा जानने वाला मैं भी सामान्यविशेषात्मक रहा तथा जिस वस्तुका वह अंश ज्ञात हुआ वह भी सामान्यविशेषात्मक है।

अविध्वग्भावकी दृष्टिसे सिद्धि—अनादिकालसे इस जीवने पर्यायमात्रको तो समझा, अपनी क्षणिक विकार अवस्थाओंको आत्मपदार्थरूपसे माना, परन्तु प्रतिपर्यायमें नित्य प्रकाशमान, अनाद्यनन्त, अखंड ध्रुवस्वभावी निज ज्ञायकभावको नहीं पहिचाना। उसका लक्ष्य द्रव्यदृष्टिसे होता है। वह द्रव्य पर्यायके बिना नहीं है, फिर भी पर्यायके भेदको गौण करके नित्य अखंड स्वभावसे जो बर्तता है उसके लक्ष्यसे पर्यायका विकल्प मिटता है और पश्चात् परमार्थ का अनुभव होता है। इसी उपायसे पर्यायकी निर्मलता प्रगट होती जाती है।

http://www.jainkosh.org

आत्माकी पर्यायें जाति-अपेक्षा संक्षेपसे तीन प्रकारकी हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध। हम इन्हीं पर्यायोंके करनेमें समर्थ हैं, किन्तु जगत्के किसी परमाणुमात्रका परिवर्तन करनेमें हम समर्थ नहीं हैं। जैसे हम अशुभ विचार कर लें या शुभ विचार करें, या शुभ अशुभ दोनोंसे रहित केवल ज्ञाताद्रष्टा रहें, हममें क्या पर्याय होती है, वह मुझमें उस काल अभेदरूपसे बर्तती है, इसी तरह जिन-जिन द्रव्योंमें जब जो पर्याय होती है, तब वह वहां अभेदरूपसे वर्तती है। इस प्रकार निजसे ही द्रव्य और पर्यायकी अपृथक्ता जानने समझने वाला मोही अज्ञानी नहीं हो सकता, उसमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं जग सकती। द्रव्यके यथार्थस्वरूपका बोध मोहभावके नाशका कारण है। जो कार्य जिस उपायसे होता है, उसकी सिद्धि उसी उपायसे होती है।

परिणमनशून्य वस्तुका अभाव—यदि वस्तु परिणमनशून्य हो, तो वह वस्तु तो गधेके सींगकी तरह शून्य होगी। जब परिणमन नहीं तब चर्चा किसकी? परिणमनशून्य वह वस्तु तो गप्प नहीं, महागप्प है। गप्पमें भी द्रव्य, गुण, पर्याय मिलेगा; उसका आश्रय मिलेगा; परन्तु परिणमनशून्य उस हौवाकी हम क्या चर्चा करें। इसलिए द्रव्य, गुण और पर्याय पृथक् सत्ताक नहीं मिलेंगे, और न किसीकी पर्याय किसी अन्यकी सत्तारूप ही मिलेगी। सर्व पदार्थ स्व-स्वमें ही स्थित हैं। यदि परिणमनशून्य वस्तु मानी जाय, तो हमें लोकमें बताओ कि दूध, दही, घी, छाछके अतिरिक्त गोरस क्या है? यद्यपि यहां गोरस भी द्रव्य नहीं, पर्याय है, तो भी दृष्टान्तको प्रगट करनेके लिए यह समर्थ दृष्टान्त है। देखो—दूध गोरस है और दही भी वही गोरस है, छाछ, घी भी वही गोरस है। फिर भी जो इन पर्यायोंमें से किसी एक पर्याय रूप ही न रहकर सबमें अनुगत है, वह गोरस आपको कभी दिख भी सकता है? नहीं दिख सकता, किन्तु ज्ञानगम्य अवश्य है। यही कारण है कि गोरसका त्यागी सर्वत्यागी कहलाता है। परन्तु दूध या दहीका त्यागी गोरसका त्यागी नहीं कहलाता। इसी बातको आप्तमीमांसा में समन्तभद्राचार्यने कहा है—

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे, तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥

जो पयोव्रती है अर्थात् जिसने केवल दूध खानेका ही नियम ले रखा है, वह दही नहीं खाता। जो दही खानेका नियम वाला है, वह दूध नहीं खाता और जो अगोरसव्रती है अर्थात् जिसने गोरस खानेका ही त्याग कर रखा है, वह न दूध ही खाता है और न दही ही खाता है। इससे सिद्ध होता है कि तत्त्व त्रयात्मक है अर्थात् वस्तु उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है। दूध, दही आदिमें जो रहता है, वही गोरस है, पर उसे दूध आदिसे पृथक् नहीं कर सकते और न उसे पृथक्रूपसे बताया ही जा सकता है। जो कुछ भी कहा जायगा, वह दूध दही आदि रूप

Version 1

ही होगा। पर्याय तो समझमें आ जायगी, पर द्रव्य समझमें आनेपर भी बताया नहीं जा सकता। गोरसके बिना दूध दही आदि नहीं और दूध-दहीके बिना गोरस नहीं, द्रव्यके बिना पर्याय नहीं और पर्यायके बिना द्रव्य नहीं।

केवलीके और सामान्य जनोंके ज्ञानमें अन्तर—प्रश्न—केवलीके और सामान्यजनोंके जाननेमें क्या अन्तर है ? उत्तर—सामान्य जन तो कुछ अंशको जानते हैं, क्रमसे जानते हैं, अस्पष्ट जानते हैं, परन्तु केवली भगवान तीन लोक, तीन कालके सर्व पदार्थोंको एक साथ स्पष्ट जानते हैं। ज्ञानका स्वभाव जाननेका है। जब हम अनेक विघ्न बाधाओंके रहते हुए भी, आवरण कर्म और इन्द्रियकी प्रतिबन्धता होते हुए भी इतना जानते हैं, तो जहाँ सर्व आवरण और सर्व प्रतिबन्ध नष्ट हो गये, उनका ज्ञान इतनी सीमाको ही जाने, ऐसी नियामक व्यवस्था करने वाला कौन है ? कोई नहीं। तब उनका ज्ञान नियमसे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सभी अपेक्षाओंसे असीम है, सबको स्पष्ट जानता है। अर्थात् सब जैसे निज ज्ञेयाकारको जानता है।

यथार्थ ज्ञानके बिना दुर्दशाकी भाजनता—वस्तुके बिना पर्याय नहीं रह सकती। यह दीखने वाली पर्याय है, पर ज्ञानसे त्रैकालिक अनुगत द्रव्यको जान सकते हैं। यह जो सामने खड़ा खम्भा दिखाई देता है, वह भी पर्यायरूप है। यह इसी रूपमें सदा स्थायी नहीं रहेगा, किन्तु उसकी विभिन्न पर्यायोंमें पुद्गलद्रव्य बराबर अनुगत रहेगा। यही बात सर्व चेतन-अचेतन द्रव्योंमें समझना चाहिए। इस प्रकार यदि तत्त्व समझमें आ गया, तो बेड़ा पार है, अन्यथा सब बेकार है। जैसे मोही जीव स्त्री पति आदिके साथ विषय भोगकर अपनी शारीरिक शक्तिको खोकर सुख मानता है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव बाहरी पदार्थोंके जानने देखनेमें ही अपनी ज्ञानशक्तिको खोकर अपनेको ज्ञानी और विद्वान् मानता है। जो ज्ञान आत्मज्ञान पैदा न करे, वह अज्ञान या कुज्ञान ही है। इसलिए हमें बाह्यपदार्थोंकी ओरसे उपयोग हटाकर उन्हीं तत्त्वोंको जाननेका प्रयत्न करना चाहिए जो कि आत्माके लिए हितकारी हों। उन्हीं लोगोंकी संगति करना चाहिए, जिनसे हमारे ज्ञान, ध्यान और चारित्रकी वृद्धिमें सहायता मिले। उन लोगोंकी संगति कदाचित् भी नहीं करना चाहिए, जिनसे हमारा चारित्र बिगड़े, हमारे बिचार बुरे हों और संयममें बाधा आवे। हमें अपने दिन रातके २४ घंटोंका हिसाब रखना चाहिए कि हमारा कितना समय भले कार्योंमें लगता है, या बेकार जाता है। मनुष्यजीवन अनमोल है, इसकी एक-एक घड़ी रुपया व्यय करनेपर भी नहीं मिल सकती है। आज हमें इसके बहुमूल्यपनेका ज्ञान नहीं होता परन्तु जब हम दुर्गतियोंमें पहुंचते हैं यदि कुछ विवेक जगे तब वहां इसकी कीमतका पता लगता है। जरा बैलगाड़ीमें जुते और बोझा ढोने वाले इन बैलोंकी ओर तो देखो, जो बेचारे आँसू बहा-बहाकर गाड़ीको खींच रहे हैं और मानो अव्यक्त रूपसे हाँकने वालों और देखने वालोंसे कहते हैं कि हे मनुष्यो, हमने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

उस जन्ममें मायाचार किया, भली बात कहने वालोंसे लड़नेके लिए तैयार रहे और लेकर किसीका देना नहीं समझा, उसका फल आज बैल बनकर भोग रहे हैं। तुम लोगोंने यह मानव देह पाया है, तो हमारे समान व्यर्थ मत खो देना, अन्यथा हम जैसे बनकर दिन रात कष्टसेवनमें ही समय बिताना पड़ेगा, दिनभर कठिन परिश्रम करनेपर भी वक्तपर घास पानी भी नसीब नहीं होगा। ये पूंछ हिलाकर पीछे-पीछे भागने वाला कुत्ता भी मानो हमसे कह रहा है कि हे मानव देहधारी, तू मायाचारी करके किसीकी खुशामद मत करते फिरना। यदि दूसरेकी खुशामद करते फिरे और अपने भाई बन्धुओंको काटनेके लिए दौड़ते फिरे, तो मेरे समान तुम्हें भी कुत्तेका देह धारण करते और इधर-उधर पूंछ हिलाते फिरना पड़ेगा। इस प्रकार जिस किसी भी देहधारीकी ओर हम देखें, वह अपनी मूकभाषामें कोई संकेत करके सावधान कर ही रहा है।

निराश्रय परिणमनका अभाव—जो पर्यायका आश्रयभूत है, वही पदार्थ है, तत्त्व है, द्रव्य है। यदि पर्यायका कोई आश्रय नहीं माना जायेगा, तो वह निराश्रय कहाँ ठहरेगा? जो निराश्रय परिणाम होता है, वह तो शून्यके समान कोई वस्तु नहीं है। एक सज्जनने अपने मित्रको पत्र लिखा कि तुम्हें मेरे पुत्रकी शादीमें अवश्य शामिल होना चाहिये और नियत समय पर मेरे घर आ ही जाना चाहिये। मित्रने लिखा, आपकी आज्ञा जरूर पालन करूंगा और सिरके बल दौड़ा आऊंगा। जब शादी हुई और मित्र शामिल नहीं हुए, तो उसने मित्रको पत्र लिखकर उलाहना दिया। उसने उत्तर दिया कि मैंने लिखे मुताबिक आपके यहाँ सिरके बल चलनेकी बहुत कोशिश की, मगर कामयाब न हो सका। बढ़के बातें करना पोलखातेकी हुआ करती हैं। पर्यायशून्यके वस्तुकी बात भी पोल ही है, जिसका कोई आश्रय नहीं, जड़-मूलका पता नहीं, वह अवस्तु ही समझना चाहिए। प्रतिसमय वस्तुमें एक एक परिणमन होता है।

एक बुढ़ियाके चर्खेका तकुआ टेढ़ा हो गया, वह लुहारके पास गई और बोली, इसका टेढ़ापन निकाल दे। वह बोला दो टका लूंगा। उसने हां भरदी। जब लुहारने उसका तकुआ सीधा कर दिया और पैसे मांगे तो वह बुढ़िया बोली—हमारे तकुएका टेढ़ापन हमें दो और अपनी मजदूरीके टका हमसे ले लो। लुहार बेचारा यह उत्तर सुनकर बहुत चकराया। वह तकुवेका टेढ़ापन कहांसे दे? वह टेढ़ापन तो एक पर्याय थी जो उसे सीधा करते समय उसी में विलीन हो गई। अब वह उसमें न सद्भावरूप ही है और न अन्तर्गुप्तरूप ही है। प्रत्येक द्रव्यमें प्रतिक्षणभावी पर्याय नष्ट होती हुई नवीन पर्यायको उत्पन्न करती रहती है, यही अनादिकालीन परम्परा है, जो आगे भी अनन्त काल तक चलती रहेगी। तकुवेके टेढ़ेपनकी विलीनताने ही उसके सीधेपनका रूप धारण किया है। जब किसी वक्त जवान थे और आज

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बूढ़े हो गये, तो बताओ—हमारी जवानी कहां चली गई ? क्या शरीरके भीतर छिप गई ? शरीरको चीरकर भी देखें, तो उसका कहीं पता नहीं चलेगा। मानना पड़ेगा कि वह जवानी क्रम-क्रमसे बुढ़ापेरूपमें परिणत हो गई।

चर्चासे शिक्षाका लाभ—देखो भैया ! हमने इस प्रकार आपसे चर्चा एक घंटे भर की, पर इसमें धर्म क्या और कितना हुआ ? इसका निष्कर्ष यही है कि हमें आजकी चर्चासे यह श्रद्धान् दृढ़ हो जाना चाहिए कि प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। मैं भी स्वतन्त्र द्रव्य हूं और मेरी गुण पर्याय भी स्वतंत्र है। चर्चा धर्मदृष्टिके लिये होती है। सिद्धान्तमें बाह्य द्रव्यकी भी चर्चायें हैं, जैसे—महामत्स्य इतना लम्बा चौड़ा है, चौइन्द्री भौंरा एक योजनका होता है, इत्यादि बतावो इस चर्चासे क्या लाभ है ? यही कि हमारी दृष्टि उन विकारी परिणामोंपर जाये कि जिनके कारण उन पर्यायोंमें उत्पन्न होना पड़ता है परन्तु जावे उन परिणामोंके निषेधका लक्ष्य रहते हुए। त्रिलोक और त्रिकालकी चर्चाका भी यही उद्देश्य है कि हमारी दृष्टि उस ओर जाय, जिसके कारण हमें सर्वत्र परिभ्रमण करना पड़ता है। कहनेका सार यही है कि तत्त्वको स्वतन्त्र समझकर स्वरूपमें लीन रहो।

अर्थकी द्रव्यगुणपर्यायस्थताका विश्लेषण—इस गाथाकी उत्तर पंक्ति बहुत माननीय है "दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो" जो द्रव्यगुण पर्यायमें स्थित है द्रव्यगुणपर्याय-सूचक उत्पादव्ययध्रौव्यमय अस्तित्व करके रचा हुआ व रच रहा है यह अर्थ अनुभवनीय होता है। यहाँ चर्चनीय पद चार हैं—१–पर्याय, २–गुण, ३–द्रव्य, ४–अर्थ। पर्याय तो प्रतिक्षण वर्तनारूप है, विनाशीक है, एक वस्तुमें अनेक सहभावी परिणमन पाये जाते हैं उनकी शक्तियोंका नाम गुण है। ये गुण ध्रुव होते हैं त्रैकालिक सर्व अवस्थावोंमें एकरूप गुणरूप रहते हैं इसीसे यह सामान्य कहलाते हैं, इन सर्व गुणोंका अभेद एक पिण्ड जो सामान्य रूप रहता है वह द्रव्य है। इसमें पर्यायें अन्तर्लीन हैं अतः गुणपर्ययवद्द्रव्यं भी इसका लक्षण है। द्रव्यदृष्टि करते हुए सामान्य अभेदरूप दृष्टि इसी हेतु हो जाती है। अब अर्थ क्या है ? द्रव्य गुण पर्यायमें व्यवस्थित परन्तु किसी एक दृष्टिसे रहित समग्र अनुभवनीय जो वस्तु है वह अर्थ है यही परम भूतार्थ है। इसके अतिरिक्त जो भी दृष्टि है वह सब अंश है। यहाँ अर्थके समक्ष द्रव्य विशेष है, द्रव्यके समक्ष गुण विशेष है, गुणके समक्ष पर्याय विशेष है। अर्थ कभी विशेषरूप नहीं बना, अर्थकी ये विशेषता है। देखो भैया ! द्रव्य तो अभेदसामान्य है वह भी अनुभवके समक्ष विशेष है, आखिर अभेदरूपसे तो भेद किया गया। यहाँ वस्तुका स्वरूप चल रहा है। प्रत्येक वस्तुकी पर्यायें प्रतिक्षण बदलती रहती हैं और नवीन उत्पन्न होती रहती हैं। उन प्रतिसमय-भावी पर्यायोंमें जो अन्वयरूपसे चलता रहता है, उसे ध्रौव्य कहते हैं जो नवीन पर्यायें पैदा होती हैं उसे उत्पाद कहते हैं और जो पूर्व पर्याय नष्ट होती है उसे व्यय कहते हैं। इस

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रकार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्ययुक्त वस्तु है। यही सूत्रकार श्री उमास्वामीने कहा है—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्। (तत्त्वार्थ० अ० ५) देखो भैया ! सर्वत्र पर्यायोंका प्रवाह चल रहा है। उनमें जो अन्वयरूपसे चल रहा है, वह सामान्य कहलाता है। जो पर्यायोंका प्रवाह है, वह विशेष है। जो सामान्यमें विशेषोंमें और उन सब व्यक्तियोंमें रहे वह द्रव्य है। एक मनुष्य मरकर देव हो गया। यहां मनुष्यपर्यायका तो व्यय हुआ और देवपर्यायका उत्पाद हुआ। इन दोनोंके बीच क्या केवल सामान्य तत्त्व है ? नहीं। क्या केवल विशेष तत्त्व है ? नहीं। तो क्या अर्थ हुआ ? तीनोंका समुदायरूप जो तत्त्व है, वही सत्य है।

सामान्य विशेषकी द्विविधताका भाव—सामान्यके दो भेद हैं—ऊर्ध्वतासामान्य और तिर्यक्सामान्य। एक ही वस्तुकी आगे-आगे होने वाली अनेक पर्यायोंमें रहने वाले सामान्यको ऊर्ध्वता सामान्य कहते हैं। एक समयमें भिन्न-भिन्न स्थानोंमें पाये जाने वाले पदार्थोंमें जो समता होती है, वह तिर्यंक् सामान्य कहलाता है। द्रव्य सामान्यरूप है, पर्याय विशेषरूप है। सामान्यके दो भेद हैं, उनमें द्रव्य ऊर्ध्वता सामान्यरूप है। मेरी जितनी पर्यायें हैं, उनमें चलने वाला जो ऊर्ध्वतासामान्य है, उसीमें द्रव्य है, वही द्रव्यका सूचक है, एकत्वका संकेतक है। विशेष भी दो प्रकारके होते हैं—सहभावी विशेष और क्रमभावी विशेष। जो एक साथ रहें, उन्हें सहभावी विशेष कहते हैं। जो क्रमसे होने वाले विशेष हैं, उन्हें क्रमभावी विशेष कहते हैं। आत्मामें ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि एक साथ रहते हैं, अतः उन्हें सहभावी विशेष कहते हैं। इन्हींका दूसरा नाम गुण है। क्रमभावी विशेष क्रमसे होते हैं और उन्हें ही पर्याय कहते हैं। वस्तुकी अखंडता जाननेके लिए उक्त तत्त्वोंका जानना आवश्यक है। क्या प्रतिसमय होने वाली पर्यायें ही वस्तु हैं ? नहीं। तो क्या सामान्यभाव ही वस्तु है ? नहीं, तब क्या शक्तिमात्र वस्तु है ? नहीं। वस्तु तो द्रव्य, गुण, पर्यायमें व्यवस्थित है। वस्तुको समझनेके लिए व्यापक दृष्टि बनानी पड़ती है। सहभावी विशेषरूप गुणोंमें और क्रमभावी विशेषरूप पर्यायोंमें जो रहता है, वह द्रव्य है।

परिणमनकी निरन्तरभाविता—पूर्व पर्यायका व्यय और नवीन पर्यायका उत्पाद होते हुए भी जो दोनोंमें अन्वयीरूपसे विद्यमान है, वही सत् है। जो उक्त तीनोंसे रचा गया और रचा जा रहा है, वह द्रव्य है, वस्तु है। द्रव्यमें ऐसा नहीं होता कि एक बार तीनोंसे रच दी गई, अब उसे आगे कुछ नहीं करना है। प्रतिसमय वह तीनोंसे रचा जा रहा है और आगे भी प्रतिसमय तीनोंसे रचा जाता रहेगा। इससे सिद्ध हुआ कि वस्तु परिणमनस्वभावी है। दर्पणका स्वभाव वस्तुओंको झलकाना है। उसे कहीं भी रखो, वस्तुका प्रतिबिम्ब उसमें पड़ेगा ही। यदि उसे सन्दूकमें बन्द करके भी रख देंगे, तो भी उसमें सन्दूकका ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा। यदि उसे कपड़ेसे लपेटकर रखेंगे तो उसमें उसका ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा। बिना प्रतिबिम्ब पड़े दर्पण

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

रह नहीं सकता। इसी प्रकार वस्तुका स्वभाव भी परिणमनशील है। जहाँ कहीं भी रहेगा—निरन्तर परिणमन करता ही रहेगा।

रुड़कीमें गंगा नदीका पुल है। उसके ऊपरसे नहर निकाली गई है। इस पुलमें ऊपरसे पानी झरता है। इंजीनियरोंका कहना है कि जिस दिन उसका झरना बन्द हो जायगा, उसी दिन वह टूट जायगा। यह तो एक लौकिक दृष्टान्त है, पर यही बात वस्तुमें लागू होती है कि जिस क्षण वस्तुका परिणमन बंद हो जायगा उसी वक्त उसका अस्तित्व समाप्त हो जायगा। बनना, बिगड़ना और बनी रहना ही वस्तुका वस्तुत्व है। एकके बिना दूसरेका अस्तित्व कैसा? कल्पना करो—यदि कोई बने नहीं, तो बिगड़े क्या? यदि बिगड़े नहीं, तो बने क्या और यदि बने बिगड़े नहीं, तो बना रहे क्या? यदि कोई बना नहीं रहे, तो बने-बिगड़े क्या? जो धनी है, तो वह सदा धनी ही रहेगा, ऐसा नहीं हो सकता है। परिवर्तन अवश्यम्भावी है। हम भी बनते, बिगड़ते और बने रहते हैं।

हृदयस्पर्शी भावकी आवश्यकता—भैया! इस पर्यायका भी व्यय होगा, इसकी बात तो हम बहुत करते हैं और किसीके मरनेपर श्मशानमें वैराग्य भी सबको बहुत पैदा होता है। संसार क्षणभंगुर दिखने लगता है और ऐसा लगने लगता है मानो हम अभी संसारका परित्याग कर देंगे। पर बताओ भीतर दिलमें चोट कितनोंके लगती है? मृतकको जला करके नहानेके पूर्व तक ही ये वैराग्यकी बातें होती रहती हैं। पर ज्यों ही नदी, तालाब या कुएं पर स्नान किया कि उस स्नानके साथ ही वह श्मसान वैराग्य भी धुल जाता है और नहाने के बाद वह चर्चा ही बन्द हो जाती है। यदि किसीका मरण सुनकर गहरी चोट लगे, धर्मके लिए उत्साह जगे तो सच्चा वैराग्य कह सकते हैं। पर ऐसा नहीं होता, इसका अर्थ है कि हमें मरणका पूरा भरोसा नहीं है। यदि देखा जाय, तो हमारे जीवनका क्या भरोसा है? हमने अपने जीवनके प्रोग्राम कितने लम्बे चौड़े बना रखे हैं कि जो कभी पूरे नहीं हो सकते। जीवन बहुत थोड़ा है, कितने दिन रहना है, इसका कोई भरोसा नहीं है, इसलिए हमें जीवन के प्रोग्राम भी उतने ही बनाना चाहिए, जिन्हें कि हम आसानीसे निराकुलताके साथ पूर्ण कर सकें। सर्व वस्तु संसारमें असार हैं। कीर्तिकी भी यही दशा है। सब कीर्तिके इच्छुक हैं। किसी भी कार्यको करके हम चाहते हैं कि हमारी कीर्ति सदा स्थायी रहे। हर एक मनुष्य अपनी कीर्तिको अनन्तकाल तक बनाये रखना चाहता है। पर क्या किसीकी कीर्ति आज तक स्थायी रही है? असंख्य तीर्थंकर हो चुके हैं। पर हम उनके नाम तक नहीं जानते हैं। असंख्य दिग्विजयी चक्रवर्ती सम्राट हो गये, पर किसकी कीर्ति आज तक रही है, ऐसा जानकर अपने यशको त्रिकाल स्थायी बनानेका मोह छोड़ देना चाहिए।

अशुभ भावके त्यागकी शिक्षा—मौतका कोई विश्वास नहीं। कितने ही बालक तो जन्मते ही मर जाते हैं। यदि हम भी बचपनमें मर गये होते तो आज क्या करते हैं? हम

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जीवित बच गये हैं, तो समझना चाहिए कि धर्मसेवन करनेके लिए ही बच गये हैं ? इसलिए हमें अपना समय धर्मसेवनमें ही लगाना चाहिए। यदि किसीसे पूछो कि आप कितने वर्षके हैं, तो वह उत्तर देता है कि हम ३७ वर्षके हैं परन्तु यह झूठ है। हम अनादिकालसे चले आ रहे हैं, इसलिए उत्तर यह देना चाहिए कि हम अनन्त वर्षके बूढ़े हैं और यदि किसी विशेष जिन्दगीसे मतलब है तो देखो धर्मके बिना जिन्दगी कोई जिन्दगी नहीं। अतः यह अनन्तकाल का जीवन तो व्यर्थ हो गया समझना चाहिए। जबसे हमारे भीतर धर्मभाव जागृत हुआ, पर से लक्ष्य छूटा, तभीसे हमारी जिन्दगी प्रारम्भ हुई समझना चाहिए। सुखकी प्राप्ति सुखके उपायसे मिलेगी। सुखकी प्राप्ति धर्मसे होती है, इसलिए सुखकी कामनावालोंको धर्मका पालन करना चाहिए। हम गृहस्थीकी लम्बी चौड़ी शान भले ही बना लेवें, पर उससे क्या ? सप्तम नरकका नारकी एक बार सुखी हो सकता है, यदि उसके श्रद्धा जग जाय और सम्यक्त्व उत्पन्न हो जाय। पर गृहस्थीमें फंसे मिथ्यात्वी मनुष्यके सुखकी कल्पना नहीं की जा सकती। जिसकी तरंगोंमें सप्त तत्त्वका श्रद्धान है, ज्ञायकभावकी श्रद्धा है ऐसा सम्यक्त्वी नारकी सुखी है, पर भोगासक्त मिथ्यात्वी मनुष्य सुखी नहीं है। अतः अशुद्धोपयोगका सम्बंध सुखका बाधक जानकर उसे त्यागें।

क्रियाफलकी आलोचना—अथ चारित्रपरिणामसंपर्कसंभववतोः शुद्धशुभपरिणामयोरुपादानहानाय फलमालोचयति—अब चारित्र परिणामके संपर्कके संभववाले या जिनमें चारित्र परिणामका संपर्क व संभवपना है ऐसे शुद्ध और शुभ परिणामके उपादेय हेयपनाको प्रगट करनेके लिए फलका विवेचन करते हैं—

लोकमें ऐसा व्यवहार है कि जब किसीसे किसी चीजका त्याग कराना हो, तो उससे फलकी चर्चा करनी पड़ती है। फल सुन करके मनुष्यके भाव स्वयं हेय पदार्थको छोड़नेके हो जाते हैं। आज लोगोंमें रात्रिभोजनका प्रचार बढ़ रहा है, तो रात्रिभोजन करना बुरा है इसे छोड़ दो, ऐसा करनेसे काम नहीं चलेगा। उसे छुड़ानेके लिए हमें रात्रिभोजनसे होनेवाली बुराइयोंको बताना पड़ेगा कि देखो रात्रिमें भोजन करनेसे सैंकड़ों कीड़े-मकोड़ोंका घात होता है। यदि जीव दिख जाय, इसलिए प्रकाश रखते हैं, यदि ऐसा कहा जाय तो उसके निमित्तसे और भी पतंगे वगैरह आकर दीपकपर और भोजनमें गिरते हैं। सो खुद विचार लो यदि भूलसे ठीक तौरपर न दिखाई देनेसे जूं पेटमें चला जाय तो जलोदर रोग हो जाता है। यदि मकड़ी चली जाय तो कोढ़ निकल आता है। यदि कहीं जहरीला कोई जीव जन्तु भोजनमें गिर जाय तो खाने वालोंके प्राण तक चले जाते हैं। एक बारकी बात है कि एक बरात किसी रात्रिभोजीके घर आई। बरातके लिए खीर पकाई गई। रातमें पकते समय ऊपरसे कहीं धुवां वगैरह लगनेसे छिपकली खीरकी कढ़ाईमें गिर पड़ी। बरातियोंको खीर परोसी गई

Version 1

और उन्होंने खाई। प्रातःकाल कितने ही बराती सोतेके सोते रह गये अर्थात् मरे हुए पाये गये। उनके शरीर हरे पीले हो गये थे। जांच करने पर पता चला कि बची हुई खीरमें एक छिपकली पड़ी हुई है। इस प्रकारके अनेक अनर्थ हम प्रतिदिन देखते और सुनते हैं। इनसे बचने के लिए हमें रात्रिभोजनका त्याग करना आवश्यक है। इस ही शैलीसे विकल्प दूर हो सकता है। यह मोक्षमार्गका प्रकरण है, अतः उसके बाधक राग विकल्पको दूर करनेका उपदेश है, जिसमें अशुभोपयोगका राग प्रायः सबकी समझमें आता है सो वह तो प्रसिद्ध है, यहाँ शुभोपयोगका वर्णन शेष न्यायसे करते हैं अर्थात् इसी प्रकार कुन्द-कुन्द स्वामी भी शुभोपयोग का फल बताकर उसकी हेयताको और शुद्धोपयोगका फल बताकर उसकी उपादेयताको बतलाते हैं।

दृष्टिकी उपरिमता—जो शुद्धोपयोग पर चलेगा, उसके बीचमें शुभोपयोग होगा ही। परन्तु उसे उपादेय नहीं समझना चाहिए। चलते वक्त हमारी दृष्टि चार हाथ आगे रहती है, पर पैर तो दृष्टिके चार हाथ पीछे ही चलते हैं। यही क्रम है अतः उद्देश्य हमेशा ऊंचा रखना चाहिए। खेती अन्न उत्पन्न करनेके उद्देश्यसे की जाती है, घास फूसको उत्पन्न करनेके लिए नहीं। यह तो स्वयं ही उत्पन्न हो जाता है। यदि कोई खेती घास-फूसके पैदा करनेके लिए करे, तो वह समझदार नहीं कहलायगा। इसी प्रकार यदि कोई चारित्रको शुभोपयोगके लिए धारण करे, तो यह भी बुद्धिमान् नहीं जानना चाहिए। शुद्धोपयोगके मार्ग पर चलनेवालेके शुभोपयोग तो स्वयं होता ही है। शुद्धोपयोग शुभोपयोगसे नहीं होता किन्तु शुभोपयोगके अनन्तर ही होता है, अशुभोपयोगके अनन्तर नहीं। हम पूजनके अन्तमें जो इष्ट प्रार्थना करते हैं, उसके शब्दोंपर ध्यान दीजिए। शुभोपयोग करते हुए भी शुभोपयोगका निषेध झलक रहा है। तब पादौ मम हृदये, मम हृदयं तब पदद्वये लीनम्। तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाणसम्प्राप्तिः॥ अर्थात् हे जिनेन्द्र, तुम्हारे दोनों चरणकमल मेरे हृदयमें रहें और मेरा हृदय तुम्हारे दोनों चरणकमलोंमें लीन रहे। कब तक? जब तक कि मुझे निर्वाणकी प्राप्ति न हो। कितना साफ कथन है कि हम तुम्हारे चरणोंकी भक्तिरूप शुभोपयोगको तब तक ही उपादेय मानते हैं, जब तक कि निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती। इससे शुभोपयोगके हेय-पना स्वतः सिद्ध हो जाता है। शुभोपयोगकी चिंता मत करो, शुद्धतत्त्वके लक्ष्यसे बर्तते रहो।

अन्तःप्रकाश—बड़ेसे बड़ा साधु भी अपनेको मैं साधु हूं यों साधुपनका अनुभव नहीं करता। वह यही अनुभव करता है कि मैं ज्ञायक भाव रूप ही हूं। पर उसके साधुकी क्रियाएं स्वयं होती हैं। शुद्ध लक्ष्यवालेके राग हो तो कैसी क्रियायें होती हैं, कैसे अन्तर्वृत्ति होती है वह शुभोपयोग व शुभ क्रिया है। प्रश्न—क्या वह अपनेको साधु नहीं मानता? उत्तर—कदाचित् वह पर्यायको जानता है परन्तु वह पर्यायमें 'ही' नहीं लगाता, अपने त्रैकालिक स्वरूपको देखता है। साधु पर्याय है, पर्यायको आत्मवस्तु नहीं मानता। देखो भैया! आचार्य

Report any errors at vikasnd@gmail.com

कुन्दकुन्द सब करते थे, पर उनकी दृष्टि शुद्धोपयोगपर ही थी। चारित्र परिणाम जहाँ अंशरूप से सम्भव है, वहाँ शुभोपयोग है और जहाँ चारित्र परिणामपर ही पूर्णपरिणमन है, वहां शुद्धोपयोग है। ऐसे शुद्धोपयोग और शुद्धोपयोगमें उपादेयता और हेयता बतलानेके लिए उनके फलोंपर विचार करते हैं। विचार ही नहीं, किन्तु विवेचना करते हैं। विवेचनाका अर्थ दोनों का लक्षण, फल आदि पृथक्-पृथक् रखकर स्पष्ट रूपसे अलग-अलग कर देना है। यहां शुभोपयोगको जो हेय कहा है, उसका यह अर्थ है कि जो शुभोपयोग होता है वही हित है, वही मैं हूं, इस प्रकारकी बुद्धि होना हेय है। शुभोपयोग छोड़नेसे नहीं छूटता, किन्तु अनादि, अनन्त निर्मल चैतन्यस्वभावपर दृढ़ दृष्टि होनेपर स्वयं छूट जाता है। यदि ज्ञानीके शुभोपयोग रखने की ही दृष्टि होती तो आत्माके निर्मल स्वभावपर उपयोग रहनेरूप शुभोपयोग कैसे होता ?

वस्तु निश्चय-व्यवहारात्मक है, वस्तुयें दोनोंमें से एक ही रहे, ऐसा नहीं हो सकता। क्योंकि पर्याय बिना द्रव्य नहीं टहरती और द्रव्यके बिना पर्याय नहीं टहरती। आपने गणेश-मूर्ति देखी होगी, वह अभेद और भेदका दृष्टान्त प्रतीत होता है। अभेद तो ऐसा है कि मनुष्य के शरीरमें हाथीका मुख फिट बैठा दिया और भेद बतानेके लिए चूहेके वाहनकी कल्पना की गई है। जैसे चूहा किसी वस्त्रादिको कुतर-कुतरकर खंडित कर देता है, यही बात निश्चय-व्यवहारमें है। इतना भेद अवश्य है कि निश्चय-व्यवहारके अभेद और भेद एक ही वस्तुमें दिखाए जाते हैं। जैसे अनन्त गुणोंका अभेद पिण्ड आत्मा निश्चयनयका विषय है, और उसके गुणोंका भेद या पर्याय विकार पर्यायनयका विषय है। इस आत्मामें तीन उपयोग होते हैं जो पर्यायस्वरूप हैं। उसमें से अशुभोपयोग तो अत्यन्त हेय है ही, यहाँ शुद्धोपयोग और शुभोपयोगमें से क्या ग्रहण योग्य है और क्या त्यागने योग्य है, इस प्रयोजनको बतानेके लिए उनके फलोंका प्रतिपादन करते हैं:—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तोव सग्गसुहं ॥११॥

ज्ञानीके शुद्धोपयोग और शुभोपयोगका फल—धर्मसे परिणत आत्मा यदि शुद्धोपयोग संप्रयुक्त होता है, वह निर्वाणके सुखको पाता है, और यदि वह शुभोपयोगसे युक्त होता है, तो स्वर्गके सुखको पाता है। भैया ! धर्मका फल तो एक ही है। जब यह आत्मा धर्मस्वभाव से परिणत होकर शुद्धोपयोगकी परिणतिको धारण करता है, तब निष्प्रतिपक्ष शक्तिवाला होकर स्वेष्टसाधनमें समर्थ चारित्रको धारण कर साक्षात् मोक्षको प्राप्त होता है। देखो, जो रामचन्द्र अग्नि परीक्षाके बाद संसारसे विरक्त सीताको मनाते थे, उसे घर चलने और आनन्द से रहनेके लिए आग्रह करते थे, वे ही जब संसारसे विरक्त हो गये और दीक्षा लेकर साधु बन गये, तब सीताका जीव जो सोलहवें स्वर्गमें प्रतीन्द्र हुआ था, वह आता है और उसके

Version 1

मोह जागृत होता है कि यदि किसी भी प्रकार रामचन्द्रजी संयमसे डिग जायें, तो फिर हम दोनो संसारमें एक साथ कुछ काल और आनन्दसे व्यतीत करेंगे, फिर तपस्या कर साथ साथ मोक्ष जावेंगे। ऐसा सोचकर वह सीताका रूप बनाता है और अनेक प्रकारके हाव-भाव दिखाकर संयमसे गिरानेका उपाय करता है। जब उसे इस प्रकार सफलता नहीं मिलती है, तो वह अपनी और भी माया फैलाता है, रावणको अपने केश पकड़ करके खींचता हुआ दिखलाता है, स्वयं चिल्लाता है और कहता है—हे राम, मुझे बचाओ, यह दुष्ट रावण मुझे जबर्दस्ती पकड़के ले जा रहा है, आदि नाना प्रकारकी माया दिखा करके रामको डिगानेके सहस्रों प्रयत्न किये, पर धन्य रामकी अडिग शुद्धोपयोग परिणतिको, कि वे रंचमात्र भी उससे नहीं डिगे, बल्कि ज्यों-ज्यों सीताके उपसर्ग बढ़े, त्यों-त्यों उनके भाव और भी ऊपरको चढ़े और क्षपकश्रेणी चढ़ केवलज्ञानको प्राप्त किया। बताओ यदि रामचन्द्रकी डिग जाते, तो सीताके जीवके पास कोई ऐसा उपाय था कि वह उन्हें नरकमें जानेसे रोक लेता! नहीं, कोई उपाय नहीं था, वह मोहसे अन्धा हो रहा था और अपने स्वार्थके लिए अन्यथा आचरण कर रहा था। कहावत है कि घरके कुरवासे ही आँख फूटती है। सीताका जीव ही रामको उपसर्ग करने आया है?

हमारा आन्तरिक शत्रु—दूसरेसे हमारा विनाश नहीं होता, हमारा भीतरी शत्रु मोहभावसे ही हमारा विनाश होता है। हम बाहरके शत्रुपर नजर डालते हैं, पर भीतरी शत्रुओं को नहीं देखते। एक राजाकी कथा है, उसने सुना कि दूसरा कोई राजा उसपर चढ़ाई करने आ रहा है। वह भी उसका सामना करनेके लिये सेनाको लेकर नगरके बाहर चला। मार्गमें एक जगह एक मुनिराज बैठे ध्यान कर रहे थे, वह उनके पास जाकर और नमस्कार कर चरणोंके समीप बैठ गया। इतनेमें उसके शत्रुकी सेनाकी आवाज आती है और उस राजाके कानोंमें पड़ती है, उसके हाथ कंधेपर रखे धनुषपर पहुंचते हैं और तीर कमान चढ़ा कर निशाना लगानेके लिए उद्यत होता है। इतनेमें साधुका ध्यान खुलता है और वे राजाको संबोधन करते हुए कहते हैं कि राजन् क्या बात है? वह बोला महाराज जैसे-जैसे शत्रु मेरे समीप आ रहा है वैसे ही मेरा क्रोध बढ़ता जा रहा है। साधु बोले ठीक ऐसा ही होना चाहिये, परन्तु हे राजन्, तू बाहरी शत्रुको मारनेके लिये इतनी तैयारी कर रहा है, पर तेरे भीतर जो उससे भी बड़ा क्रोधशत्रु बैठा हुआ है और तेरा प्रतिक्षण भारी नुकसान कर रहा है, हजारों और नये शत्रु बना रहा है, उस पर तेरी दृष्टि ही नहीं है। पहले उस भीतरी शत्रु को मार, फिर देख, तेरे ये बाहरी शत्रु स्वयं शान्त हुए जाते हैं। विकल्पमात्र जिसका स्वरूप नहीं उस निजस्वभावको देख। राजाके हृदयमें साधुके वचन प्रवेश कर गये, उसने सब शस्त्रास्त्र वहीं फेंक दिये और दिगम्बरी दीक्षा धारण करली। थोड़ी देरमें शत्रु ससैन्य आता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है और देखता है कि हम जिसे जीतनेके लिए जा रहे हैं, वह तो राजपाट छोड़कर मुनि बन गया है और मुनिराजके समीप बैठा आत्मध्यान कर रहा है। वह सेनाको आगे जानेसे रोक देता है और उनकी वन्दना करने पहुंचता है, चरणोंमें गिरता है और उनकी स्तुति करता है। बताओ, जिस शत्रुको कई दिनों तक युद्ध करके, सैकड़ों मनुष्योंका खून बहा करके भी नहीं जीत सकते थे, उसे एक क्षण भरमें जीत लिया। इससे पता चलता है कि यदि हम अपने भीतरके शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेवें, तो बाहरी शत्रु क्षणभरमें जीते जा सकते हैं।

दृष्टिका प्रभाव—कल्पित सारे दुःखोंकी जड़ पर्यायबुद्धि है। मालिकके संकेतपर कुत्ते भौंकते हैं, पर्यायबुद्धिके इशारेपर सारे दुःख आकर तंग करते हैं। द्रव्यदृष्टिमें तो अमृत तत्त्व ही है। प्रश्न—पर्यायबुद्धि किसे कहते हैं ? क्या पर्यायका जानना भी पर्यायबुद्धि है ? उत्तर—जो हमारा वर्तमानकालिक परिणमन है, हम इसी रूप हैं, आगे पीछे कुछ नहीं, इस प्रकारकी बुद्धिको पर्यायबुद्धि कहते हैं। पर्यायबुद्धिके नष्ट होनेपर भी संस्कारवश जो राग शेष रहता है पहिले उसकी ही तो करामात देख लो। भैया! जब यह धर्मपरिणत आत्मा शुभोपयोगरूप परिणतिसे संयुक्त होता है, तब यह स्वकार्य करनेमें असमर्थ होनेसे विकल शक्ति होकर मोक्ष को नहीं प्राप्त कर पाता है, और स्वर्ग सुखको प्राप्त करता है। पांचों पांडवोंको देखो, वे शत्रुञ्जयपर तपस्या कर रहे थे, ध्यानमें लीन थे, तब शत्रुओंने आकर उनपर उपसर्ग करना प्रारंभ किया, उन्हें लोहेके गर्म-गर्म आभूषण पहिनाना प्रारम्भ किया। तीनों भाई तो अपने उपयोग में अचल रहे, पर नकुल, सहदेवके शुभोपयोग जग गया। वे सोचने लगे, देखो तीनों भाई कितने शान्तमूर्ति बने ध्यान कर रहे हैं, और ये लोग उपसर्ग कर रहे हैं, कहीं ऐसा न हो कि ये ध्यानसे चल जायें और सारी तपस्यापर पानी फिर जाय। उनके देह तो जल ही रहे थे, नकुल और सहदेवके शुभोपयोग हो गया था, इसलिए वे संसारमें ही रह गये—सर्वार्थसिद्धि पहुंचे। पर भीम, अर्जुन और युधिष्ठिर अपने आपमें स्थिर रहे, शुद्धोपयोगी ही बने रहे और उसके फलसे तत्काल मोक्षको प्राप्त किया। पाँचों पाँडवोंका उदाहरण इस बातका प्रत्यक्ष साक्षी है कि शुद्धोपयोगसे निर्वाण सुख मिलता है और शुभोपयोगसे स्वर्गसुख मिलता है। परन्तु ज्ञानी कभी भी सुख पुण्य या शुभोपयोगमें हित बुद्धि नहीं करता। हमें हर काम करते हुए अपनी दृष्टि सहज शुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावपर रखनी चाहिए। स्वभावदृष्टिरूप धर्म करते हुए भी जो अबुद्धिपूर्वक राग चल रहा है, उसका फल है स्वर्गादि, किन्तु संवर निर्जरा तत्त्व कल्याण ही है। यहां तो चरित्र परिणाम जहां भी संभव है, वहां भी राग रहे, उसके फलका वर्णन किया जा रहा है। ऊँचेसे ऊँचा शुभोपयोग वह है जहाँपर बाह्यमें पंचपरमेष्ठीका आश्रय हो और भीतर अपनी ओर लक्ष्य हो अर्थात् पूजन करते समय ऐसे भाव होना चाहिए कि बाहर हम जिन पंचपरमेष्ठी भगवानका पूजन कर रहे हैं, वही स्वरूप हमारा लक्ष्य हो, हमें

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

उसी स्वरूपको प्राप्त करना है। हमारे इष्ट लक्ष्यको प्राप्त करानेके लिए ये पंचपरमेष्ठी आश्रय है। इस प्रकार प्रत्येक छंद बोलते समय, प्रत्येक पंक्तिका उच्चारण करते हुए हमारा ध्यान बाहरसे भीतर और भीतरसे बाहरकी ओर आता-जाता रहना चाहिए। जिस प्रकार साधु सदा छठे गुणस्थानसे सातवेंमें और सातवेंसे छठेमें आते जाते रहते हैं, ऐसी क्रियारूप परिणति पूजन करते समय हमारी रहनी चाहिए। हमने रागद्वेषरहित देवका स्वरूप बोला, तदनुसार ही हममें भीतरी श्रद्धा जगनी चाहिए कि हमारे आत्माका भी यही स्वरूप है और हम उसे प्राप्त करनेके लिये प्रयत्नशील हैं। पूजाका उद्देश्य तो आश्रयके आधारसे स्वरूप प्राप्त करनेका उद्यम है, स्वरूप तो अनन्याधार है। इसीसे पूज्य श्री आचार्यने पहले भीतरी अशुभ परिणतिके छोड़नेका उपदेश दिया है।

आन्तरिक स्वच्छताका अनुरोध—ऊपरसे भले ही हम कितना ही दिखावा करें, यदि भीतरसे रागद्वेषकी परिणति नहीं मिटी है, तो बाहरमें भी प्रवृत्ति तदनुसार ही होगी। दो भाई थे, आपसमें उनका भारी प्यार था, जो काम करते, एक दूसरेसे पूछे बिना नहीं करते। एक बार बड़ा भाई बाजार गया और वहाँसे दो ककड़ी मोल लाया। उनमें एक छोटी थी, दूसरी बड़ी। बड़ी ककड़ीको उसने दाहिने हाथमें लिया और छोटीको बायें हाथमें ले लिया और घरको चला। रास्तेमें दोनों भाइयोंके दोनों लड़के मिले और ककड़ी लेनेके लिए लपके। भाग्यसे उस बड़े भाईका लड़का बांये हाथकी ओर आया जिसमें कि छोटी ककड़ी थी, और छोटे भाईका लड़का दाहिने हाथकी ओर आया, जिसमें कि बड़ी ककड़ी थी। वह अपने पुत्र को बड़ी ककड़ी देनेका मोह न रोक सका और दाहिना हाथ बाईं ओर करके और बायां हाथ दाहिनी ओर करके दोनों बच्चोंको दोनों ककड़ियां पकड़ा दीं। छोटे भाईने बड़े भाईका यह कौशल देख लिया और आकर बोला—भाई मुझे अलग कर दो। बड़ा भाई बोला—क्या बात है, जो तुम अलग होनेकी कह रहे हो। वह बोला—मैंने सब कुछ देख लिया। बड़े भाई ने कहा, न भाई, यह न होगा, तुम मेरे आज्ञाकारी भाई हो, मैं तुम्हें इतना प्यार करता हूं कि तुम जितनी चाहो, उतनी सम्पत्ति ले लो, पर मैं तुम्हें न्यारा नहीं कर सकता। छोटा भाई बोला—अब कुछ भी कहो, मैं शामिल नहीं रह सकता, मैंने सब कुछ देख लिया है। जब भीतरमें भेदभाव होता है, तो उसे कितना ही छिपाया जाय, वह किसी न किसी प्रकार बाहर आ ही जाता है। बड़े भाईको चाहिए तो यह था कि छोटे भाईके बच्चेको बड़ी ककड़ी देता और अपनेको छोटी। पर वह मोहवश ऐसा न कर सका। घर गृहस्थीमें रहते हुए भाइयों इन छोटी-छोटीसी बातोंमें पूरी सावधानी रखनी चाहिए, अन्यथा जरासी गलतीसे बड़े-बड़े घर बर्बाद हो जाते हैं। इसी तरह रागका बढ़ावा भी बड़ा अनर्थ कर रहा है।

रागका परिणाम—काल चक्रका परिणमन तो देखो—हम कितनी ही बातोंमें रोज

Report any errors at vikasnd@gmail.com

गिरते चले जा रहे हैं। पहले लोग अपने माता-पिता या वृद्ध जनोंके सामने अपने बाल-बच्चों को नहीं लेते थे या उन्हें लाड़-प्यार नहीं दिखलाते थे। बड़ोंकी कान रखते थे। यदि लड़का ४० वर्षका भी हो जाता, तो भी अपने बुजुर्गोंके सामने वह अपनी सन्तानको गोदमें नहीं उठाता था। पर आज लोगोंने लोकलाजको तिलांजलि दे दी है। भले ही हम और बातोंमें उठ रहे हों, पर असलियतसे बहुत दूर जा रहे हैं। बान तो छोटीसी है परन्तु संस्कार बुरा हो जाता है। ये बातें तो दूर ही रहो। यहाँ तो शुभोपयोगकी भी बालकी खाल काढ़ी जा रही है। शुभोपयोग रागनिर्मित है, उपयोग तो ज्ञानपर्याय है, शुभ रागके कारण है, इसी कारण जिस समय यह आत्मा धर्मपरिणत होकर भी, शुद्ध तत्त्वमें लीन होनेकी उमंग होनेपर भी शुभोपयोगकी परिणतिके साथ चल बैठता है, तब इसकी शक्ति कर्मोंसे रोक दी जाती है, इसलिए वह शुभोपयोग संप्रयुक्त चारित्र मोक्षरूप कार्य करनेको असमर्थ हो जाता है। उस समय वह शुभोपयोगमें ही भटक जाता है। पर शुद्धोपयोगीकी दशा इससे विपरीत होती है।

ज्ञानीकी वृत्ति—ज्ञानी भगवद्भक्ति करता हुआ भी उनमें अनुराग तो रखता है, पर उसे वह रागरूप ही समझता है। शुभोपयोगके त्यागकी बात शुद्धोपयोगीके लिए ही शोभा देती है। पर जो स्वयं तो अशुभोपयोगसे परिणत हो रहा है और शुभोपयोगके त्यागकी बात कहे, तो उसे कैसे शोभा दे सकती है? यह बात ठीक है, किन्तु भैया अपनेको शुद्धोपयोगके योग्य ही समझो। प्रभु और तेरी जातिमें कोई अन्तर नहीं, जितना भी विकारभाव है, सम्यक्त्वी उससे दूर होना चाहता है। वह जानता है कि शुभोपयोगकी दृष्टि सम्यक् दृष्टि नहीं है। नकुल और सहदेवकी बात कल कही थी। उनके शुभोपयोग हो गया और वे सर्वार्थसिद्धि पहुंचे, मोक्ष नहीं जा सके। पर नकुल और सहदेवके भी शुभोपयोगमें आदर नहीं था। यदि उनके शुभोपयोगमें आदर होता, तो वे सर्वार्थसिद्धि भी नहीं जा पाते। सम्यक्त्वी शुभोपयोग में रहता है, पर उसकी श्रद्धा शुभोपयोगमें नहीं रहती। दुनियाके सारे काम करते हुए भी उसके अन्तरंगमें शुद्ध लक्ष्यकी निर्मलधारा अनवरत बहती ही रहती है।

रागका फल—धर्मका सीधा फल मोक्ष है, पर शुभोपयोगकी परिणतिमें वह उसे प्राप्त करानेमें असमर्थ हो जाता है। उसका वह शुभोपयोग व्यवहार धर्मरूप है, इस कारण वह विरुद्ध कार्यका करने वाला बन जाता है और इसीलिए वह संसारका साधक हो जाता है। कहीं चारित्र विरुद्ध कार्य नहीं करता विरोधकर्ता, रागभाव है जो कि अशुद्धोपयोगका साधक है। शुभोपयोगयुक्त चारित्रको अग्नितप्त घृतके समान कहा है। जैसे घी का स्वभाव तो शीतल और दाहको शमन करनेका है, पर जब वह अग्निके सम्पर्कसे उष्ण हो जाता है, तो स्पर्श करने वाले पुरुषको जलाता ही है। इसी प्रकार शुद्ध चारित्रका फल तो जन्म दाह को शान्त करना ही है, पर जब वह शुभोपयोगरूप अग्निसे संतप्त हो जाता है, तो दाहको उत्पन्न करता ही है। देवोंके यद्यपि शारीरिक रोग दाह नहीं है, तथापि मानसिक दाह तो

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

है ही। जब इन्द्रकी सवारी आ रही हो और किल्विषिक जातिके देवोंसे यह कहा जाता है कि दूर हटो, एक तरफ रहो, तब उनके जो मानसिक वेदना होती है, वह अवर्णनीय है। जब इन्द्रकी सवारी कहीं जानेको तैयार होती है और आभियोग्य जातिके देवोंको वाहनका रूप धारण करके आनेका आदेश दिया जाता है, उनकी मनोदशा कैसी होती है, यह करुणा-जनक चीज है। जब बाजे बजाने वाले देव बाजे बजा रहे हैं, बजानेमें तन्मय हो रहे हैं और उन्हें आज्ञा दी जाती है, बाजे मत बजाओ, तब उन्हें राग-रंगके भंगसे तथा पराधीनतासे जो कष्ट होता है, उसे भुक्तभोगी ही जान सकते हैं। इस सबके कहनेका अर्थ यही है कि चारित्र के साथ जो शुभोपयोग लग जाता है और उसमें जो उपादेय बुद्धि हो जाती है, वही ऐसी देवदुर्गतिको देता है। यह तो छोटे देवोंकी बात कही, बड़े देव भी होते तो वे भी क्रूर-क्रूर कर रागवश दुखी होते, सुख किसी भी अशुद्धोपयोगसे उपलब्ध नहीं होता। हाँ अशुभोपयोगके क्लेशसे शुभोपयोगके क्लेशमें मंदता है। जब ज्ञानी इस शुभोपयोगसे भी ऊंचा उठता है, तभी वह निर्वाणका पात्र होता है। जिसके मनमें सांसारिक वस्तुमें राग नहीं, वही ठीक रास्तेपर है। जिसका मन सांसारिक सम्पदामें उलझा हुआ है वह कभी संसारसे पार नहीं हो सकता। उसके पुत्र तक भी उसकी ऐसी दशाको देखकर हंसते हैं। एक सेठजी की बात है, वे अत्यन्त वृद्ध हो गये, पर तिजोड़ी की चाबी अपने किसी लड़केको नहीं दी। उन्हें भय था कि यदि किसीको चाबी दी तो वह सारा धन हड़प जायगा, फिर मुझे मारा-मारा फिरना पड़ेगा। जब सेठजी सख्त बीमार पड़े और परलोकको चलनेका ही अवसर आ गया, तो लड़कोंको बुलाकर बोले, 'यह चाबी लो' लड़कोंने उत्तर दिया—दादाजी, चाबी साथ लेते जाइये, हमें चाबीकी कोई जरूरत नहीं। तब उस वृद्धको अपनी भूलपर खेद हुआ।

सविवेक चर्या—हमें अपनी चर्या अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावको देखकर बनाना चाहिए। अपनी दिनचर्या बनानेके लिए हमें औरोंके वोट (मत) लेनेकी जरूरत नहीं। यदि दूसरोंसे वोट लेकर दिनचर्या बनायेंगे, तो विपरीत मार्गपर चले जावेंगे। क्योंकि संसारमें सन्मार्गपर चलने वाले कम हैं और कुमार्गपर चलने वाले अधिक हैं। इसलिए स्वकल्याणके विषयमें हमें अपनी ही चिन्ता करना चाहिए। हमारे भीतर यह भाव निरन्तर प्रवाहित रहना चाहिए कि हम अकेले हैं, अकेले ही हमें अपने भले बुरेका फल भोगना पड़ेगा, इसलिए हमें परवस्तुपर दृष्टि न रखकर स्वपर ही दृष्टि रखना चाहिए। हमें पहले अपनी ही दया करना चाहिए। जिसने स्वदया नहीं की, वह परदया नहीं कर सकता। प्रश्न—स्वदया क्या है? उत्तर—आत्मामें अहिंसा भावका जागना, स्वमें श्रद्धा होना, स्वका जानना और स्वरूपमें रमना ही स्वदया है। इसके विपरीत सब कषायें स्वहिंसा हैं। जिनकी परनारीमें रुचि या आसक्ति होती है, उन्हें ही परस्त्रियोंके हाव भाव अच्छे लगते हैं, उन्हें ही उनकी कथा सुहाती

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। जुआरीको जुआरियोंकी, सटोरियोंको सटोरियोंकी और शिकारियोंको शिकारियोंकी बात रुचिकर होती है। पर जिनके भीतर विवेक जागृत हो चुका है, आत्मश्रद्धा प्रगट हो चुकी है उसे वीतरागियोंकी ही चर्चा सुहायगी। उसे सुकुमाल, धन्यकुमारकी चर्चा प्रिय लगेगी। आत्मतत्त्वके पानेका उपाय भी सुहावेगा। प्रश्न—शुद्ध आत्मतत्त्वके पानेका क्या उपाय है? उत्तर—अन्तरंगमें अन्तरंग चरणानुयोगकी रुचिका होना ही शुद्ध आत्मतत्त्वके पानेका उपाय है।

शुद्धात्मतत्त्वके रसिककी प्रवृत्ति—जो शुद्धात्माकी कथा सुनता है, उसे करणानुयोग की बातें भली लगने लगती हैं, शुद्धात्मासे सम्बन्ध रखने वाली सभी बातें सुहाने लगती हैं। फिर उसे कोई अनुयोग बेकार नहीं लगता, सभी अच्छे लगने लगते हैं। अकलंक निकलंकका नाटक आप लोगोंने देखा है। ये नाटक आदि प्रथमानुयोग ही तो हैं। जो बात हम प्रथमानुयोगके शास्त्र पढ़कर जानते हैं, वही तो नाटक देखकर भी जान लेते हैं। कथाओंके बांचने और देखनेका असर तो आत्मापर होता ही है। सबको अपनी रुचिके अनुसार चारों अनुयोगों का अभ्यास करना चाहिए, पर लक्ष्य द्रव्यानुयोगपर ही रखना चाहिए, इसीलिए उसे अन्तिम अनुयोग माना गया है। पहले शुद्ध तत्त्वको जान लो, पढ़ लो, फिर कुछ भी पढ़ो, उसे आत्मतत्त्व ही सुहायगा, उसे यह एक ही सुहावेगा। एक रंगरेज था, लोगोंकी पगड़ी रंगा करता था, पर उसे केवल एक आसमानी रंग ही रंगना आता था। जो कोई भी पगड़ी रंगाने को आता, उसकी पगड़ी ले लेता। कोई कहता—मेरी पीली रंगना, कोई लाल और कोई किसी रंगको कहता। वह सबकी सुनकर एक ही उत्तर देता—पर रंग तो इसपर आसमानी ही खिलेगा। यही दशा ज्ञानकी है। वह सबकी सुनता है, पर जब कहता है, तो अपनी ही कहता है। शुद्धात्मवेदीकी दृष्टि शुद्धात्मापर ही रहती है।

तत्त्वकौतूहली—अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्ननुभव भवमूर्त्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्त्तम्। पृथगथ विलसन्तं स्वं समालोक्य येन त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

हे आत्मन्! किसी भी प्रकार मर करके भी तत्त्वका कौतूहली होता हुआ संसारकी मूर्ति जो शरीर उसका पड़ौसी बन। यहाँपर 'मर करके' शब्द कहा है, इसका अर्थ मर करके नहीं, किन्तु सारी शक्ति लगा करके है। लोकमें भी कहा करते हैं कि इस कार्यको तो मर करके भी पूरा करना है। सब कुछ न्यौछावर करके तत्त्वका कौतूहली बन, कुछ जानता हुआ उसमें कौतूहल भावसे तत्त्वको निकाल। इस शरीरका पड़ौसी बन। यहाँ पड़ौसी बननेका उपदेश इसलिए है कि जैसे पड़ौसीको पड़ौसीका सर्वज्ञान रहा करता है, परन्तु वह उसे अपना नहीं मानता, पड़ौसीके घरमें आग भी लग जाय, तो उसे बुझानेका प्रयत्न करता है किन्तु उसे अपना समझकर नहीं बुझाता। हां, यह विकल्प हो सकता है कि यदि यह आग बढ़

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

जायगी, तो मेरे घरमें भी लग सकती है। इसी तरह ज्ञानको भी शरीरका ज्ञान रहता है, पर वह उसे अपना नहीं मानता। हाँ यह विकल्प संभव है कि इस शरीरमें कोई रोगादि बढ़ जायगा, तो मेरा धर्मध्यान छूट सकता है। वहाँ भी उपचारादि करते हुए निज आत्मशुद्धिका ही भाव है। यहाँ शरीरको संसारकी मूर्ति कहा है, इसका भाव यह है कि कोई संसारको जाने, तो किस जरियेसे और कहाँ जाने, तो उसका संकेत है शरीर। मूर्तिसे मूर्तिगत भाव पहिचाना जाता है। सरस्वतीका भाव जाननेके लिए लोग जिनवाणीके अक्षर रूप मूर्तिको देखते। अक्षरके आकारके अनुसार भाव नहीं मापा जाता, किन्तु अक्षरके वाच्यको हृदयंगम किया जाता है। इसी तरह मूर्तिके दर्शनकर यदि मूर्तिमें ही अटके तो अटक गया। उचित यह है कि मूर्तिके आधारपर मूर्तिमानका ध्यान करो, यह शरीर भवकी मूर्ति है, इससे अंतरंग भाव जो रागद्वेष है, उसे निकालो, कहीं ऐसा न हो कि हम इसे खिलाते-पिलाते ही लक्ष्यसे च्युत हो जावें। यह शरीर विनश्वर है, जड़ है, ज्ञान सुखसे रहित है, इसके मोहमें कोई हित नहीं। और देखो भैया! इस भवमूर्तिसे अपना या दूसरेका कितना ही प्रेम हो, मृत्यु होते ही इन्हीं प्रेमियोंके द्वारा शीघ्र जलाकर भस्म कर दिया जायगा। इसी तरह जैसे कि हमने बीसोंको जला दिया है। अतः इसके पड़ौसी बनकर एक मुहूर्त भी तो इस शरीरसे पृथक् शोभायमान ज्ञानानन्दमूर्तिरूप निज आत्मतत्त्वका अनुभव करो। जिससे कि आत्मा और शरीरके एकत्वका मोह छूट जाय।

दृष्टिभेदसे प्रवृत्तिभेद—बच्चोंको जब तक नया खिलौना नहीं मिलेगा, तब तक वे पुराने खिलौनेको नहीं छोड़ेंगे। इसी प्रकार हमें भी बाह्य चीजोंसे ममत्व छुड़ानेके लिए अंतरंगमें विराजमान ज्ञायक भावको पकड़ना पड़ेगा, तभी बाहरी चीजोंसे ममत्व छूटेगा। तत्त्वदृष्टिसे जायमान वैराग्य दृढ़ होता है। कितने ही लोग कहते हैं कि हमने अमुक व्रत, तप धारण कर लिया, अब तो निभाना ही पड़ेगा, उनका ऐसा कहना ही उस व्रत, तपके विषय में अनादर का द्योतक है। यदि अन्तरंगसे प्रीति हो तो उस प्रकारके वचन निकले ही क्यों? जब मनमें विकार होता है, तो वह किसी न किसी रूपमें बाहर निकल पड़ता है। एक श्रावक श्राविका कहीं देवदर्शनको जा रहे थे। आगे-आगे श्रावक चल रहे थे और पीछे-पीछे श्राविका। मार्गमें एक जगह पड़ी हुई कुछ अशर्फियाँ दिखीं, श्रावक धूल उठाकर उनपर डालने लगा कि कहीं मेरी स्त्रीका मन इन्हें देखकर चल-विचल न हो जाय। पीछेसे स्त्री आ पहुंची और बोली—यह क्या कर रहे हो? वह बोला, यहाँ अशर्फियाँ पड़ी थीं, मैंने सोचा कहीं तुम्हारा मन इन्हें देखकर चल-विचल न हो जाय, इससे इनपर धूल डाल रहा हूं। स्त्री बोली—तुम भी अच्छे निकले, जो धूलपर धूल उड़ानेके लिए खड़े हो गये, चलो अपना रास्ता पकड़ें। यहाँ दोनोंके भावोंका अन्तर उनके शब्दोंसे ही स्पष्ट है। पुरुषने उन्हें देखा और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

सोना समझा, पर स्त्रीकी दृष्टि इतनी उज्ज्वल थी वह उसे भी धूल ही समझती थी और देखना भी नहीं चाहती थी, देखकर सोना समझनेकी बात तो बहुत दूर की है। कहनेका भाव यह कि जब मनमें कुछ विकार आता है, तो वह वचनोंके द्वारा निकल ही पड़ता है।

आत्मकामना—भैया ! चैतन्य ज्ञानघन आत्माके कौनसे सुखके लिए कौनसा बाह्य पदार्थ काम आ सकता है ? बाह्य पदार्थके निमित्तसे जो भी कल्पना होगी, वह आकुलता ही बढ़ायगी। मूर्तिके आश्रयसे हम भक्ति करते हैं। भक्तिका परिणाम भी विभावरूप है, पर विभाव विभावमें अन्तर है। भक्तिका परिणाम मन्दकषायका विकार है। पर सांसारिक पदार्थों का आश्रय हमारा नुक्सान ही करता है। परकी ओर उपयोग झुकना ही पतन है। जो बात हमने कही और आपको सुहाई, तो यह भी शुभोपयोग ही है। जो हो रहा है, उसमें उपादेय बुद्धि मत करो, चलते हुए भी हमारी दृष्टि सामने शुद्धोपयोगपर ही रहना चाहिए। जिसकी शुद्धोपयोगपर दृष्टि है, उसके शुभोपयोग हो ही रहा है। भगवानमें दो गुण प्रधान हैं—सर्वज्ञता और वीतरागता। भक्तकी दृष्टि भगवानके अन्य गुणोंपर न जा करके वीतरागतापर ही रहती है और अपने लिये भी वीतरागता ही चाहता है, इसी विषयमें एक यह पद है—

मुक्ति मिले न मिले हमको प्रभु, चाहूं जो कुछ अर्ज सुनायें।
द्वेषकी ज्वालसे पिंड छुड़ायें, रागमें अन्धे न हो पायें ॥टेक॥
ज्ञान अनन्त मिले न मिले प्रभु, केवल निजको जानत जायें।
दर्श अनन्त मिले न मिले प्रभु, केवल आतमको लखि जायें ॥१॥
सौख्य अनन्त मिले न मिले प्रभु, आकुलताका ताप मिटायें।
शक्ति अनन्त मिले न मिले प्रभु, खुद ही में खुद पैठत जायें ॥२॥
सुर नर पूज मिले न मिले प्रभु, हम ही निजको पूजत जायें।
आदर मान मिले न मिले प्रभु, हम अपना आदर कर जायें ॥३॥
और विभूति मिले न मिले प्रभु, उनमें 'मनोहर' का हित पायें।
परकी प्रीति तज समता सार सुधारस पीवत जायें ॥४॥

भक्तकी सदा यही इच्छा रहती है कि मुझे अनन्त ज्ञानादि गुण मिलें या न मिलें, पर हे प्रभो, मेरा रागद्वेष अवश्य छूट जाये। जो यह सोच रहा है कि मेरे तृष्णा न रहे, वह लोभरहित मार्गसे गुजर ही रहा है। प्रश्न—'मेरे तृष्णा न रहे, इच्छा तो यह भी है ? उत्तर—नहीं, क्योंकि यह तृष्णा छोड़नेकी बात इच्छा नहीं, भावना है। वीतरागताकी भावना तो भवनाशिनी ही होती है।

विवेकीका सर्वत्र विवेक—विवेकी पुरुष घरमें क्या और मन्दिरमें क्या, सर्वत्र वीतरागताके ही साधन जुटाते हैं। पूजन करते हुये भी वीतरागता बढ़ाने वाली सामग्री रखेंगे,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

वीतरागतापोषक वेशभूषा रखेंगे और वचन भी वीतरागतापूर्ण ही निकलेंगे। इसी प्रकार सामायिक, स्वाध्याय आदि जो भी उनकी क्रिया होगी, सब जगह उनके कार्यमें वीतरागता टपकेगी। तत्त्वद्रष्टाके संवर निर्जरा होनेमें अंतर नहीं पड़ता। 'तत्त्वकौतूहली बनो' इसका भाव यही है कि हम जिस किसी भी कार्यको करें, पर दृष्टि हमारी हमारे लक्ष्यपर ही रहना चाहिए। भैया! एक जैनीका बच्चा जो जिनदेवके सिवाय और किसीको नमस्कार नहीं करता था, एक बार अपने अजैन गुरुके साथ लक्ष्मीनारायणके मन्दिर गया। गुरुने लक्ष्मीनारायणको नमस्कार किया तो इसने भी कर लिया। गुरु आश्चर्यचकित होकर बोले—भाई तुम तो जैन हो, यहाँ क्या देखकर तुमने नमस्कार किया? बच्चा बोला—देखो, हम अपने वीतराग भगवानको तो इसलिए नमस्कार करते हैं कि उनकी मूर्ति हमें यह संदेश देती है कि यदि संसारसे पार होना चाहते हो, तो हम सरीखे एकाकी बैठकर आत्मध्यान करो, और लक्ष्मीनारायणकी मूर्तिने हमें यह संदेश दिया कि यदि तुम संसारमें भटकना चाहते हो, तो स्त्रीको हमारे समान सदा साथमें रखा करो और उससे प्रेम करो। उनके इस मूक संदेशको मैंने सुन लिया और इसलिए गुरु मानकर मैंने भी नमस्कार कर लिया। स्त्रीको देखकर अज्ञानीके भाव रागमय होते हैं, पर ज्ञानी सर्वत्र तत्त्वकी बात सोचेगा।

मोहमें मोहफलकी यथार्थता—एक मुल्ला जी कहीं व्याख्यान देते हुये बलिका समर्थन कर रहे थे और हिंसामें धर्म बतला रहे थे। एक जैन श्रोता भी वहां खड़े थे, सुनकर बोले—वाह क्या अच्छा व्याख्यान दिया। तब लोगोंने पूछा—भाई उसने तो हिंसाका पोषण किया है और तुम उसके व्याख्यानको अच्छा बता रहे हो। वह बोला—भाई मिथ्यात्वके तीव्र उदयमें ऐसा ही तो उपदेश होता है कि हिंसामें धर्म है। मिथ्यात्वका पर्दा हटाओ, आंखोंसे नीला चश्मा उतारो, सब वस्तुओंका यथार्थस्वरूप दृष्टिगोचर होने लगेगा।

निजकी ओर देखो—धर्म आत्मस्वरूपमें है, आत्मस्वरूपमें स्थिर होनेपर ही धर्म प्राप्त होगा। मन्दिर, मूर्ति, तीर्थ आदिक तो उस धर्मको प्राप्त करनेके लिए आश्रयमात्र हैं, इनसे धर्म प्रगट नहीं होगा। जब भी धर्म प्रगट होगा भीतरसे ही होगा। किसीने कैसा अच्छा कहा है—

लाल बिना कोई नहीं, सबके पल्ले लाल।
गांठ खोल देखो नहीं, यातें भयो कंगाल॥

आत्माराम रूपी लाल माणिक हर एकके पल्लेमें बँधा हुआ है, पर इसने कभी गांठ खोलकर नहीं देखा, इसलिए कंगाल बना डोल रहा है। भैया, हियेकी गांठ खोलो, लाल चमक रहा है।

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कासंभवादत्यन्तहेयस्याशुभपरिणामस्य फलमालोचयति—जहाँ

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

चारित्रपरिणामका संपर्क संभव ही नहीं, ऐसा अशुभ परिणाम तो अत्यन्त हेय है, आचार्य अब इस बातकी आलोचना करते हैं। यहाँ अन्य क्रिया पदका प्रयोग न करके 'आलोचयति' पद का प्रयोग किया है। 'आ समन्तात् लोचयति = आलोचयति' अर्थात् सर्व ओरसे परीक्षा कर, निर्णय करते हैं कि अशुभ परिणामका फल किस गतिमें कैसा है ?

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमइ अच्चंतं ॥१२॥

अशुभोपयोगका फल कुमानुषता—अशुभोपयोगके निमित्तसे जो यह पाप कर्म उपार्जन करता है, उसके उदयसे यह जीव यदि मनुष्योंमें उत्पन्न हो तो उच्च कुलीनोंमें नहीं, नीच कुलोंमें ही उत्पन्न होगा। नीच कुलोंमें भी परिपूर्ण वैभव वालोंमें नहीं, किन्तु महा दरिद्रियोंमें पैदा होगा। दरिद्रियोंमें भी परिपूर्ण अंग वालोंमें नहीं, किन्तु विकलांगियोंमें पैदा होगा। विकलांगियोंमें भी कुटुम्बवालोंमें नहीं कुटुम्बहीनोंमें पैदा होगा, जहाँ कि कोई उसे पानी पिलाने वाला भी न मिले। वहाँ जन्म लेकर भी सदा रोगी, शोकी और कोढ़ी बना हुआ जीवन भर दुःख उठाता रहेगा, रातदिन रोगकी वेदना और भूख-प्यासकी ज्वालासे ही जलता रहेगा। 'जैसी करणी वैसी भरणी' का नियम अकाट्य है, वह भोगना पड़ेगा। प्रश्न—वह अशुभोपयोग क्या है जिसका कि फल दुर्गति है ? उत्तर—मिथ्यात्वरूप परिणाम होना, हिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवना और परिग्रहके उपार्जन, संरक्षण करनेमें ही लगे रहना, दयाका अभाव होना आदि कार्य करनेमें उपयोग लगाना सो अशुभोपयोग है।

अशुभोपयोगका फल तिर्यग्गति व नारकभव—इस अशुभोपयोगके फलसे ही यह कदाचित् मनुष्योंमें उत्पन्न हो जाय, तो ऊपर जैसा बताया गया है, वैसा कुमनुष्य होता है। और इसीके फलसे यह तिर्यंचोंमें पैदा होता है। तिर्यंचगतिके दुःख सबके प्रत्यक्ष ही हैं। लोग जिन पशुओंको पालते हैं, उन्हें भी रात-दिन बोझा लादकर, गाड़ीमें जोतकर उन्हें जर्जरित कर देते हैं, वक्त पर खाने-पीनेका कोई ठिकाना नहीं। जिन पशुओंका दूध पीते हैं, उनको ही दूध देना बन्द करनेपर कसाइयोंके यहाँ बेंच आते हैं। आज अन्नकी कमीका बहाना लेकर लोग अगणित पशु-पक्षियों, अंडे-मुर्गों और मच्छियोंको मार-मार कर खा रहे हैं, उन्हें जीवित ही अग्निमें भून डालते हैं। कितने ही शिकारी बेचारे निरपराध शाकाहारी हरिणों आदिको अपनी गोलीका निशाना बनाते हैं, कितने ही कोमल चमड़ा प्राप्त करनेके लिए गर्भिणी भेड़ों आदिको दौड़ा-दौड़ा कर उनके गर्भ गिरा देते हैं, कसाईखानोंमें प्रतिदिन असंख्य पशु काटे जाते हैं। पशुगतिके दुःखोंको कहाँ तक कहा जाय, जहाँ स्वयं माता ही अपने बच्चोंको खा जाती है। कहते हैं कि सर्पिणी अनेक बच्चोंको एक साथ जन्म देती है

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

और उन्हें एक घेरेमें घेरकर रखती है और क्रम क्रमसे उन्हें खा जाती है। जो एकाध भाग निकला, वही बच पाता है। भूखी कुतिया अपने नवजात बच्चोंको खाती हुई देखी जाती है, इससे बढ़कर और क्या दुःख हो सकता है? अशुभ कर्मके उदयसे ही ये सब तिर्यंचगतिके दुःख प्राप्त होते हैं। विकलत्रयकी असंख्य पर्यायोंमें एकेन्द्रियोंकी असंख्य जातियोंमें यह जीव अशुभोपयोगका ही फल भोगा करता है, और देखो, नरकगतिके जो महादुःख हैं, जिनके वर्णनोंसे अनेक शास्त्र भरे पड़े हैं, और जिनका वर्णन सुनकर हृदय दहल उठता है उन सहस्रों जाति के मार काटके महादुःखोंके यह जीव नरकमें असंख्य वर्षों तक जो भोगता है, वह भी इस अशुभोपयोगका ही फल है। कहनेका सारांश यह है कि संसारमें जितने भी दुःख हैं, वे सब अशुभोपयोगके ही फल हैं, ऐसा जानकर हमें अशुभोपयोगको दूरसे ही छोड़ना चाहिये।

व्यवहारचारित्रका प्रयोजन—अशुभ कार्योंसे निवृत्त होने और शुभ कार्यमें प्रवृत्त होने को आचार्योंने व्यवहारचारित्र कहा है। हम शुभ कार्योंकी बातें तो बहुत करते हैं, पर करते-धरते कुछ नहीं, तो इससे कुछ नहीं होगा। कितने ही लोग दान देनेकी बात करते हैं और कोई बहाना लेकर छल प्रगट करते हैं कि हमें यह अड़चन नहीं होती, तो हम भी दान देते। पर भैया, जिसके दान देनेके भाव हों, वह कोई न कोई मार्ग दान देनेका निकाल ही लेता है। कुछ लोग कहते हैं कि हमारे तो दान देनेकी अनुमोदना है। पर उन्हें यह पता नहीं कि केवल अनुमोदनके अधिकारी कौन हैं? जो बेचारे पशु पक्षी दान देनेके भाव रखते हुए भी दान देने में असमर्थ हैं, जिनमें अंगोपांगोंकी रचना ही ऐसी है कि उनके दान देना संभव ही नहीं, वे यदि किसीको दान देते हुए देखें और अपनी विवशताका अनुभव करते हुए दानकी करें अनुमोदना तो उन्हें दानका अनुमोदक कहा गया है। पुराणोंमें ऐसे ही नकुल, सिंह आदिको दान की अनुमोदना करने वाला माना हैं और उन्होंने ही उस अनुमोदनाका फल पाया है। पर जो मनुष्य शक्ति होते हुए भी दान न करें और अनुमोदनाकी बातें बनावें तो उन्हें क्या कहा जाय?

अपना नक्शा—शुभ, अशुभ और शुद्ध ये तीनों ही भाव आत्मासे हैं। इनमें शुद्धोपयोग ही उपादेय है और उसके मुकाबलेमें शुभोपयोग हेय है। पर उसके प्राप्त होने तक शुभोपयोग करनेमें आता माना गया है। शुभोपयोगके मुकाबलेमें अशुभोपयोगको हेय ही नहीं, अत्यन्त हेय माना है। वस्तुतः दोनों ही अशुद्धोपयोग हैं, हेय हैं। मकान बनानेके पूर्व उसका नक्शा तैयार कराके म्युनिसिपिल कमेटीसे मंजूर कराना पड़ता है। दिमागमें मकानका नक्शा पहले होना चाहिए। बिना नक्शेके मकान नहीं बनता। हमें भी आत्माका मकान बनानेके लिए उसका नक्शा तैयार करना चाहिये। उसका नक्शा यही है कि मैं कौन हूं, कहांसे आया हूं, कहा जाना है, और क्या प्राप्त करना है, इन बातोंको भली-भांति पहले समझ लिया

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जाय। इस तत्त्वको समझे बिना ही कितने तो निश्चयनयकी कथनीमात्रसे निश्चयाभासी बन जाते हैं और कितने ही व्यवहाराभासी बन जाते हैं। हमें यथार्थ दृष्टि पकड़ना चाहिए। यदि वह हमें प्राप्त हो गई, तो फिर हम उन्मार्गपर नहीं जा सकते। हमसे अशुभोपयोग स्वयं ही छूट जायेगा। पर जब तक भीतर विवेक जागृत नहीं होगा, तब तक वर्षों शास्त्र सुनते रहने पर भी हम इष्ट सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाते।

आत्मप्रभावनाका एक दृष्टान्त—एक लकड़हारा था। उसने किसी दिन साधुके मुखसे धर्मोपदेश सुना और अपनी शक्तिके अनुसार पाँच अणुव्रत ले लिए कि मैं गीली लकड़ी नहीं काटूंगा, भाव एक ही बोलूँगा, घट-बढ़कर नहीं बोलूँगा, चुंगीकी चोरी करता था, वह अब नहीं करूंगा, परस्त्री तो सेवन करता ही नहीं था, अब आगेसे अपनी स्त्रीके सेवनका भी त्याग करता हूं। परिग्रह परिणाम भी कर लिया कि जो प्रतिदिनकी कमाई होगी, उसका एक चौथाई अपने भरण-पोषणमें, एक चौथाई कुटुम्बके भरण-पोषणमें, एक चौथाई धर्ममें और एक चौथाई आपत्तिके लिए बचानेमें लगाऊंगा। वह रोज अपने नियमके अनुसार लकड़ीका एक गट्ठा लाता और बेच जाता। एक दिन एक सेठ जीके रसोइयेने उसे पुकारा और लकड़ी के दाम पूछे। उसने कहा आठ आने लूँगा। वह बोला छः आने लोगे। लकड़हारेने इन्कार किया और आगे चल दिया। वह फिर बोला—अच्छा साढ़े छः आने ले लो। जब वह इन्कार कर और आगे बढ़ा तो वह बोला—अच्छा, सात आने ले लो, साढ़े सात आने ले लो। उसकी ऐसी बात सुनकर लकड़हारेको भी गुस्सा आ गया और बोला—अरे, किस बेईमानका नौकर है, जो इस प्रकार मोल-तोल करता है? मैं एक बात कहता हूं, आठ आनेसे कम नहीं लूंगा। सेठ जी उसकी बातें सुनकर चौंके और बोले—भाई लकड़हारे, मेरी तेरी तो बात ही नहीं है, तेरी और रसोइयाकी बातें हो रही हैं, वही भाव कर रहा है, फिर तू मुझे बेईमान कैसे बना रहा है? वह बोला—सेठ जी, मैंने तो आपके साधुकी एक दिनकी ही संगति की, सो एक बात कहना सीख गया, इतना कहकर पाँच अणुव्रतोंका पालन जैसा करता था बताया और उपदेश का उपकार मानकर बोला—सेठ जी, यह जैसेकी संगति करता है, सो इसने वैसा ही सीखा है, यदि आपमें ऐसा भाव-ताव करनेकी आदत न होती, तो यह भी इतना भाव-ताव न करता। सेठजी सुनकर चुप हो गये। यह एक कथा है, हमें अपने व्यवहार द्वारा अपने आचरणकी सफाईको प्रमाणित करना चाहिए।

आत्मोपकारकी दृष्टि—लोग धर्मके उद्धारकी बढ़-बढ़ करके बातें करते हैं, पर-उपकारकी भी डींगें हाँका करते हैं। पर यह सब बेकार हैं, जब तक तुम अपना उद्धार नहीं कर लेते, तब तक धर्मके उद्धार या परोपकारकी बात कोरी गप ही है। धर्मसे अपना उपकार ही संभव है, और हमें पहले अपना ही उपकार करना चाहिए। कहें सभी और करे कोई

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं, तो उपकार कैसे संभव है ? यदि कहना छोड़ एक जैनीने भी अपना उद्धार कर लिया तो समझिये—एक अंशका तो उद्धार हो गया। ३४३ राजूप्रमाण इस घनाकर लोकमें कोई भी जीव दु:खी न रहे, सब सुखी हो जायें, ऐसी भावनासे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। मैं तीन लोकका उपकार करूं, ऐसी कर्तृत्वबुद्धिसे तीर्थंकर प्रकृतिका बंध नही होता है।

हम लोग पुण्यसे मिली धन संपदापर गर्व करते हैं, पर भैया ! मांग करके पहने गहने पर गर्व कैसा ? ये सब वैभव पुण्यरूप साहूकारसे उधार मांगकर लाये हैं, जिस दिन वह माँग बैठगा देना पड़ेगा, फिर उसपर इतना गर्व क्यों ? एक चक्रवर्तीके वैभवको उसके हजारों पुत्र भी नहीं सम्हाल पाते। यह लक्ष्मी सदा किसीके पास नहीं रही, न रहेगी। फिर उसपर क्यों रीझ रहे हो ? पुण्यके मैलको दूर हटाकर अपने शुद्ध तत्त्वपर दृष्टि रखो। लक्ष्मी आत्माकी करामात नहीं वह तो पुण्य पापके अनुकूल आती जाती है।

वैभवकी अविश्वास्यतापर एक दृष्टान्त—एक सेठजी थे, भाग्यवश वे दरिद्र हो गये। जब घरमें कुछ नहीं रहा तो किसी राजाके न्यायालयमें बैठकर अर्जीनवीसी करने लगे, जो कुछ मिल जाता, उससे अपनी गुजर करने लगे। कुछ दिन बाद जब घर आते तो जीनेसे चढ़ते समय आवाज आती—मैं आऊं। वे प्रतिदिन उसे सुनते और कहते कुछ नहीं थे। रोज उस आवाजको सुनते-सुनते एक दिन उसकी स्त्रीने कहा कि आनेके लिए हाँ तो भर दो। उसके दूसरे दिन जब आवाज आई तो कहा, यदि आओ तो इस शर्तपर आओ कि मैं लौटकर नहीं जाऊंगी। उसने कहा– मैं इस वायदेको नहीं कर सकती हूं, पर इतना अवश्य कहती हूं कि जब जाऊंगी तब कहकर जाऊंगी। इस बीच राजा कहीं बाहर गया हुआ था। रानीने इस अर्जीनवीसको बुलाकर राजाको बुलानेके लिए इस ढंगसे पत्र लिखनेको कहा कि राजाको बुरा भी न मालूम पड़े और बांचकर तुरन्त घर चले आवें। इसने बड़ी कुशलताके साथ कलापूर्ण पत्र लिखा, राजा उसे पढ़कर चला आया। घर आकर रानीसे बोला, अभी काम तो बहुत बाकी पड़ा था, मैं नहीं आ सकता था, पर प्रिये, तुम्हारे पत्रने आनेको विवश कर दिया। किस कुशल व्यक्तिसे यह पत्र लिखाया था ? रानीने अर्जीनवीसका नाम बता दिया और राजा ने खुश होकर उसे दीवान बना दिया। अब क्या था, अर्जीनवीसके दिन फिर गये। दिनपर दिन लक्ष्मी आने लगी और वह मालामाल हो गया। एक दिन उसने सोचा कि कहीं लक्ष्मी चली न जाय, इसलिए ऐसा प्रबन्ध करना चाहिए कि कभी वह जा न सके। ऐसा सोचकर उसने एक बड़ा पक्का मकान बनवाया, तहखाने बड़े-बड़े धन रखनेके लिए चाबचे (भंडार) बनवाये। पीतल तांबेके हंडोंमें धन भर-भरकर और मुखोंको अच्छी तरह बन्द करा करके तहखानेमें बन्द करा दिये और सोचने लगा कि देखें, अब लक्ष्मी कैसे जाती है ? एक दिनकी बात है, राजाने उसे अपने साथ शिकार खेलनेके साथमें चलनेके लिए कहा। वह साथ गया।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

शिकारके लिये भागते-भागते खेलते-खेलते राजा थक गया, और वहीं जंगलमें विश्राम करनेके लिए लेट गया। दीवानने भक्तिवश राजाका सिर अपनी जांघपर रख लिया। लेटते ही राजा को नींद आ गई। इतनेमें लक्ष्मी आई और दीवानसे बोली—लो सावधान, मैं अब जाती हूं। दीवान चौंका और बोला—मैं भी देखता हूं कि तू कैसे जाती है? उसे तो यह विश्वास था कि मैंने लक्ष्मीको जमीनके भीतर गाड़ करके रक्खा है, यह कैसे जा सकती है? इस प्रकार लक्ष्मी और दीवानकी बातचीत बढ़ चली। तब दीवान कमरमें बंधी तलवार निकाल करके बोला—लो मैं देखता हूं, तू किस प्रकार जाती है? इतनेमें राजाकी आँख खुली तो वह अपने ऊपर तलवार देखकर विचारने लगा कि यह मेरा ही दीवान यहाँ मेरी हत्या करना चाहता था, अब इसको यहाँ कुछ कहना उचित नहीं, क्योंकि रार बढ़नेपर यह मुझे यहीं मार डालेगा। दीवान यह सोचकर कि मैं यदि सत्य बात कहूं तो राजाको क्या किसीको भी विश्वास नहीं हो सकता, तो दोनों चुपचाप चले। जब राजा दरबारमें आ गया, आते ही हुक्म दे दिया कि दीवानको देशसे निकाल दो और उसका घर लूट लो ऐसा ही किया गया।

स्वात्मदयाकी भावना—भाइयो! परपदार्थका क्या विश्वास? अपने स्वातन्त्र्यको देखो और प्रसन्न रहो। यदि बाह्य अर्थका आश्चय (बहाना) करके अशुभोपयोग परिणति ही रही तो उसका फल कुमानुष व तिर्यञ्च नरकोंमें भ्रमण करना ही है। तिर्यञ्चोंके क्लेश तो आपके सामने प्रकट ही हैं। सर्पिणी अपने बच्चोंको कुण्डलीमें रखकर स्वयं खाती जाती है। जहाँ माता ही स्वयं अपने बच्चेको खा जाय उस गतिमें और दुःखोंका तो कहना ही क्या? यह अशुभोपयोग निर्दयताकी नींवपर खड़े रहते हैं। इसीलिये तो दयाका बड़ा महत्त्व कहा गया है। अनगारधर्मामृतमें लिखा है—"दयालोरव्रतस्यापि स्वर्गतिः स्याददुर्गतिः। व्रतिनोऽपि दयोनस्य दुर्गतिः स्याददुर्गतिः। दयालु अव्रती भी हो तो भी उसे स्वर्गप्राप्ति सरल है। दयारहित व्रती भी हो तो भी उसे दुर्गतिप्राप्ति सरल है। लौकिक सुखका मूल जो व्यवहार धर्म है वह "दयामूलो धम्मो" है और आत्मीय अविनाशी सुखका मूल जो धर्म है वह "दंसण-मूलो धम्मो" है।

भैया! यह संसार है यहाँ किसीको कोई कितना भी चाहो, सहाय हो ही नहीं सकता, वस्तुका स्वरूप ही ऐसा स्वतंत्र है। हमारी सुख दुःखकी जिम्मेदारी हम ही पर है। हम मनुष्य हैं संसारके प्रत्येक प्राणियोंसे हमारा स्थान ऊंचा है, हितकर है। यदि हमने ऐसे अमूल्य अवसरको ही खो दिया तो बताओ इससे बढ़कर और कोई मूर्खता है? नहीं। मनुष्यकी कीमत नैतिकतासे है। संसारमें कौनसा पदार्थ मेरा है जिसके आश्रय हिंसा झूठ चोरी विश्वास घात कुशील तृष्णा आदि अशुभोपयोगमें व्यासक्ति आवश्यक समझी जावे। अपने जीवनकी चर्या देखो, दुर्गुणसे माफी माँगलो—हे दोषराजो अब तक अज्ञानके प्रसादसे आपकी जीहजूरी

Version 1

में यह अनाथ रहा। अब अपने नाथको पहिचाना। आप कृपा करके बिदा हूजिये। मेरा जगत में कुछ भी नहीं, मैं तो अकेला हूं, शुद्ध हूं, दर्शन ज्ञानमय हूं, अरूपी हूं, मेरा परमाणुमात्र भी कुछ नहीं है। ज्ञान प्रकट होनेके बाद दोषोंकी दाल नहीं गलेगी। ज्ञान प्रकट होनेका एक चिन्ह है—ज्ञानीके व्यवहारमें सर्व सुखद नीति आ ही जाती है।

पारमार्थिक ईमानदारीकी आवश्यकता—हमारा व्यवहार सरल, सुखद, विश्वासपूर्ण होना ही चाहिये तब ही हम (पर्यायमें) मानव कहलानेके अधिकारी हैं, अन्यथा पशुवोंसे भी गये बीते हैं क्योंकि पशुवोंमें भी विश्वासमय जीवन देखा जाता है। एक मनुष्य जंगलमें जा रहा था। इतनेमें सिंह दिखा, मनुष्य एक ऊंचे पेड़पर चढ़ गया सिंह नीचे आ गया। उस पेड़पर एक रीछ बैठा था। अब तो मनुष्य बड़ा घबड़ाया कि नीचे शेर और पेड़पर रीछ। तब रीछने संकेत किया कि हे मनुष्य! मत घबड़ावो, तुम शरणमें आये हो मैं तुम्हारी रक्षा ही करूंगा। मनुष्यको संतोष हुआ। बहुत देर बाद मनुष्यको नींद आने लगी। रीछने कहा भाई इसी चौड़ी शाखापर निश्चिन्त होकर सोओ। मनुष्यके सो जाने पर सिंह रीछसे बोला—रे बेवकूफ तू जानता नहीं है कि यह मनुष्य वह जानवर है जो सभी जानवरोंको मौतके घाट उतार देता अभी मैं नीचे बैठा हूं इसी लिये तेरी कुशल है। जब मैं चला जाऊंगा तब तेरी भी हत्या कर डालेगा। अभी मौका है तू इसे ढकेल दे मैं इसका काम तमाम कर दूंगा। रीछ बोला—हे वनराज! मैंने इसे शरणका विश्वास दिया है इससे मैं इसे हानि नहीं पहुंचा सकता। कुछ देर बाद मनुष्य जगा और रीछ सोने लगा तब सिंह मनुष्यसे बोला—रे मूर्ख क्या देखता है यह रीछ है तेरा खून चाटकर तुझे मार डालेगा, इसे तू पटकदे मैं इसे मार डालूंगा, फिर तू निर्विघ्न अपने घर चले जाना। सिंहके बहुत समझानेपर उसके मनमें दुर्भाव आ गया और वह रीछको ढकेलने लगा परन्तु रीछ जगा और संभल गया। तब सिंह बोला—देख रीछ इस मनुष्यकी करतूतको। अब भी तू इसे पटकदे। तब रीछ बोला हे—मृगराज यदि मनुष्य अपना विश्वास खो दे तो खो दे परन्तु मैं तो पशु हूं जो एक बार अभय दे दिया सो मैं विश्वासघात नहीं कर सकता। सारांश यह है कि हम पशुवोंसे बहुत ऊंचे चढ़े हुए स्थानपर हैं हमें अपना हृदय साफ निर्मल बनाना है, अशुभोपयोगसे अत्यन्त दूर रहना है। नहीं तो अशुभोपयोगका फल इन्हीं कुमानुष तिर्यञ्च नारकियोंमें पैदा होकर भ्रमण करना ही है। यह भ्रमण स्वयं ही महान् दुःख है, जन्मना मरना ही सबसे बड़ा दुःख है। पूजनमें भी सबसे पहले इसी जन्ममरणके विनाश करनेके लिए जल चढ़या जाता है। जन्म सभी बुरे हैं व धर्मके अयोग्य जन्म अत्यन्त बुरे हैं। कुमानुष कहां कहां उत्पन्न होते हैं? लब्ध्यपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छिम मनुष्योंमें, म्लेच्छखण्डके मनुष्योंमें, कुभोगभूमिके मनुष्योंमें उत्पन्न होते हैं। जहां न कोई धर्म है, न आचार-विचार है, यह सब अशुभोपयोगका फल जानना चाहिए।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

नरकचर्चा—ऊपर बताया जा चुका है कि अशुभोपयोगके फलसे नरकोंमें उत्पन्न होता है। नरकोंकी कुछ विशेष जानकारीके लिए यहां उसकी विशेष चर्चा आवश्यक है। लोग कहने लगते हैं—क्या पता कि नरक हैं? इसका उत्तर यह है कि जैनशास्त्रोंमें सर्वत्र कथन एकसा पूर्वापर संबद्ध मिलता है। कहीं भी ऐसा देखनेमें नहीं आया कि एक स्थलपर कथन किसी अन्य प्रकारका है और दूसरे स्थलपर दूसरे प्रकारका। इससे अविरुद्ध वर्णन द्वारा नरक होनेकी प्रमाणिकता प्रगट होती है। दूसरे भगवान्की कही हुई १०० बातोंमेंसे जब हमें ९९ बातोंमें वैज्ञानिक सत्यता दिख रही है, तब एक उस बातमें जो कि परोक्ष है अनुमानसे प्रमाणता स्वीकार करनी पड़ती है। जो वीतरागका उपदेश लौकिक बातोंमें खरा है, इन्द्रिय-गोचर बातोंमें सत्य है, सूक्ष्म आत्मपरिणामोंके कथन करनेमें सत्य है, वह केवल पुण्य पापका फल बतलानेके लिए ही क्यों असत्य होगा? इस तरह आगमकी प्रमाणतासे हमें नरकोंके कथनको भी प्रमाण मानना ही चाहिए।

नरकोंकी रचना—जैनशास्त्रोंके अनुसार तीनलोकका चित्र कमरपर हाथ रखकर और पैर फैलाकर खड़े हुए पुरुषके आकार माना गया है। कमरके मध्यभागमें एक लाख योजनका सुमेरु पर्वत है। सुमेरुसे ऊपरके लोकको ऊर्ध्वलोक कहते हैं, जहां कि स्वर्गादिककी रचना है। सुमेरुकी जड़के नीचे वाले भागको अधोलोक कहते हैं। सुमेरुकी ऊंचाई जितने मध्यवर्ती एक राजूप्रमाण लम्बे चौड़े भागको मध्यलोक कहते हैं। अधोलोककी ऊंचाई सात राजू है। इनमें छः राजूके भीतर सात पृथिवियां हैं और सबसे नीचेके एक राजूप्रमाण लोकमें केवल निगोद ही भरी पड़ी है। उन सात पृथिवियोंके नाम ये हैं—१. रत्नप्रभा, २. शर्कराप्रभा, ३. बालुकाप्रभा, ४. पंकप्रभा, ५. धूमप्रभा, ६. तमःप्रभा और ७. महातमःप्रभा। रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग और अब्बहुल भाग। खर भाग १६ हजार योजन मोटा है, पंकभाग ८४ हजार योजन मोटा है और अब्बहुल भाग ८० हजार योजन मोटा है। इनमेंसे खरभागमें और पंक भागमें तो भवनवासी देवोंके भवन हैं और तीसरे अब्बहुल भागमें धर्मा नामक नरक हैं। दूसरी शर्करा पृथिवीमें दूसरा वंशा नामक नरक है। तीसरी पृथिवीमें मेघा नामक नरक है। चौथी पृथिवीमें अंजना नामक, पांचवींमें अरिष्टा नामक, छठीमें मघवी नामक और सातवींमें माधवी नामक नरक हैं। पहली पृथिवीकी मोटाई एक लाख अस्सी हजार योजन है। दूसरी आदि पृथिवियोंकी मोटाई क्रमसे बत्तीस हजार, अट्ठाइस हजार, चौबीस हजार, बीस हजार, सोलह हजार और आठ हजार योजन है। इनकी लम्बाई लोकके अन्त तक फैली हुई है। नरकमें नारकियोंके रहनेके स्थानोंको बिल कहते हैं, क्योंकि इनके मुख मकान या कमरेके समान व्यवस्थित और किसी एक दिशाकी ओर नियत नहीं होते। चूहे आदिके बिलोंके समान अव्यवस्थित, टेढ़े-मेढ़े और अनेक आकार-प्रकार वाले होते हैं। फिर भी मूषक-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

बिलके मुख ऊपर निःसृत है परन्तु नरकबिलका किसी ओर भी मुख नहीं है। सातों नरकोंमें बिलोंकी संख्या क्रमशः ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, ३ लाख, पाँच कम १ लाख और ५ है। इन सबका जोड़ ८४ लाख होता है। इनमें प्रथम नरकसे लेकर पाँचवें नरकके तीन चौथाई भाग तक अत्यन्त उष्णवेदनाका दुःख है और पाँचवें नरकके एक चौथाई में, तथा छठे और सातवें नरकमें केवल शीतवेदनाका महादुःख है। सातों नरकोंके ४९ पटल हैं। इनमें से पहलेमें १३, दूसरेमें ११, तीसरेमें ९, चौथेमें ७, पाँचवेंमें ५, छठेमें ३ और सातवें नरकमें १ पटल है। इन पटलोंको मकानकी मंजिलके समान जानना चाहिए।

नरकमें पटल और बिलोंका विवरण—प्रत्येक नरकके पटल एकके नीचे एकके रूपसे अवस्थित हैं। प्रत्येक पटलमें तीन प्रकारके नरक बिले हैं। बीचमें जो नरक बिल है, उसे इन्द्रक बिल कहते हैं। उसके चारों दिशाओंमें और चारों विदिशाओंमें जो पंक्तिबद्ध बिले हैं, उन्हें श्रेणीबद्ध बिल कहते हैं। इन श्रेणीबद्ध बिलोंके मध्यवर्ती अन्तरालमें जो फुटकर बिल होते हैं उन्हें प्रकीर्णक बिल कहते हैं। पहले नरकके इन्द्रक बिलका नाम सीमन्तक है। इसके चारों दिशाओंमें ४९-४९ श्रेणीबद्ध बिल होते हैं और विदिशाओंमें ४८-४८ श्रेणीबद्ध बिल होते हैं। दूसरे पटलमें भी ठीक इसी प्रकारकी रचना होती है। भेद केवल इतना हो जाता है कि दिशा और विदिशाके श्रेणीबद्धोंमें एक एक संख्या कम हो जाती है। इस प्रकार नीचे-नीचेके पटलोंमें श्रेणीबद्ध नरकबिलोंकी एक-एक संख्या कम होती जाती है। इस प्रकार घटते-घटते सातवें नरकका जो उनंचासवां पटल है उसमें बीचमें एक इन्द्रकबिल और चारों दिशाओंमें एक-एक श्रेणीबद्ध बिल रह जाता है। विदिशामें श्रेणीबद्ध बिल नहीं रहता। पहले नरकके जो १३ पटल हैं उनके नाम इस प्रकार हैं—१ सीमन्तक, २ निरय, ३ रौरव, ४ भ्रान्त, ५ उद्भ्रान्त, ६ संभ्रान्त, ७ असंभ्रान्त, ८ विभ्रान्त, ९ त्रस्त, १० त्रसित, ११ वक्रान्त, १२ अवक्रान्त और १३ विक्रान्त। दूसरे नरकके ११ पटलोंके नाम इस प्रकार हैं—१ ततक, २ स्तनक, ३ वनक, ४ मनक, ५ खड, ६ खडिक, ७ जिह्व, ८ जिह्विक, ९ लोलिक, १० लोलवत्स और ११ स्तन लोल। तीसरे नरकके ९ पटलोंके नाम इस प्रकार हैं—१ तप्त, २ तपित, ३ तपन, ४ तापन, ५ निदाघ, ६ उज्ज्वलित, ७ प्रज्वलित, ८ संज्वलित और ९ संप्रज्वलित। चौथे नरकके ७ पटलोंके नाम—१ आर, २ मार, ३ तार, ४ चर्च, ५ तमक, ६ घाट और ७ घट। पाँचवें नरकके ५ पटलोंके नाम—१ तमक, २ भ्रमक, ३ झषक, ४ अन्धेन्द्र और तिमिश्र। छठे नरकके ३ पटलोंके नाम—१ हिमवत्, २ वार्दलि और ३ लल्लक। सातवें नरकमें एक अवधिस्थान नामक ही पटल है। ४९ पटलोंमें पहले पटलमें जो सीमन्तक नामक इन्द्रक

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

बिल है उसका विस्तार ४५ लाख योजन है और अन्तिम ४९वां जो अवधिस्थान नामका इन्द्रकबिल है उसका विस्तार १ लाख योजन है। मध्यवर्ती इन्द्रकोंका विस्तार क्रम-क्रमसे कम होता गया है। इस प्रकार इन्द्रकबिलोंका विस्तार संख्यात योजन प्रमाण ही कहा गया है। दिशा और विदिशामें जो श्रेणीबद्ध बिल हैं, उनका विस्तार असंख्यात योजन प्रमाण है। इन श्रेणीबद्धोंके बीचमें जो फुटकर प्रकीर्णक बिल हैं उनमें कितने ही संख्यात योजन विस्तार वाले हैं और कितने ही असंख्यात योजन विस्तारवाले हैं। इन बिलोंकी चारों ओरकी दीवालें वज्रमयी होती हैं। उन बिलोंके आकार अनेक प्रकारके हैं। कितने ही गोल, कितने ही त्रिकोण, कितने ही चतुष्कोण, पंचकोण आदि विविध आकार वाले हैं।

नरकोंमें उत्पत्ति—जो जीव बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहमें आसक्तचित्त होते हैं, निरन्तर अशुभोपयोगी संक्लिष्ट चित्त रहते हैं, रौद्रध्यानी होते हैं, जिन्हें मारने-काटनेमें ही आनन्द आता है, वे जीव नरकायुका बन्धकर नरकोंमें उत्पन्न होते हैं। नारकियोंका उपपाद जन्म होता है अर्थात् वे माता-पिता आदिसे उत्पन्न नहीं होते। किन्तु ऊंट, व्याघ्र, मगर आदि वीभत्स आकारवाली उपपाद शय्याएं होती हैं, उनमें उत्पन्न होकर और अन्तर्मुहूर्तके भीतर ही शरीरको प्राप्त कर पूरा जवान नारकी बन जाता है। शरीरके पूर्ण तैयार होते ही वह उपपाद शय्याओंसे, जो कि बिलोंके ऊपरी भागमें होती हैं और जिनके मुख नीचे होते हैं, नीचे औंधा मुख होकर जमीनपर गिरता है। वहाँकी भूमि इतनी जहरीली होती है कि उसका स्पर्श करते ही नारकीको हजारों लाखों बिच्छुओंके एक साथ काटनेसे भी अधिक उग्र वेदना होती है और वह चिल्लाकर ऊपरको उछलता है। सातवें नरकका नारकी जमीनका स्पर्श कर उसके दुःखसे अति संतप्त होकर ५०० योजन ऊपरको उछलता है। छठे नरकमें २५० योजन ऊपर उछलता है। पाँचवें नरकमें १२५ योजन ऊपर उछलता है। चौथे नरकमें ६२॥ योजन ऊपर, तीसरेमें ३१। योजन, दूसरेमें १५ सही १० बटा १६ योजन और पहलेमें ७ सही १३ बटा १६ योजन ऊपर उछलता है। ये नारकी उपर उछल करके तुरन्त ही फुटबालके समान नीचे गिरते हैं और फिर ऊपर उछलते हैं। इस क्रमसे सैंकड़ों बार ऊपर और नीचे उछलनेके बाद बेहोशसा या अधमरा होकर जब नारकी जमीनपर पड़ जाता है, तो पुराने नारकी उसे देखते ही शिकारी कुत्ते जैसे शिकारके ऊपर टूटते हैं, उसी प्रकार उसपर टूट पड़ते हैं।

नरकोंमें वेदना—नारकी जीव अत्यन्त निष्ठुर कठोर वचन बोलते हुए उसे मारते हैं, और उसके घावोंपर खारा गर्म पानी सींचते हैं। उस पानीके सींचनेसे जो महावेदना उसे होती है, उससे वह चिल्लाकर भागता है और नारकी शिकारीके समान उसका पीछा करते हैं। यदि वह पहाड़में शरण पानेके लिए जाता है, तो ऊपरसे बड़ी-बड़ी शिलाएं उसके सिर

Version 1

पर गिरती हैं, जिससे उसका मस्तक चूर्ण-चूर्ण हो जाता है। वहांसे भागकर यदि वनमें प्रवेश करता है, तो वहाँके वृक्षोंके पत्ते जो कि तलवारकी धारके समान तेज होते हैं, उसके ऊपर तड़ातड़ करके गिरते हैं, जिससे उसका सारा शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है। उसी समय नारकी लोग भेड़िया, व्याघ्र, गिद्ध, काक आदि पशु पक्षियोंका रूप धारण कर उसे खानेके लिए दौड़ते हैं, तब वह अपनी जान बचानेके लिए चारों ओर मारा-मारा फिरता है। जब कहीं कुछ शरण नहीं दिखता, तो वह वैतरणी नदीमें जा गिरता है कि चलो यहीं कुछ शान्ति मिलेगी। पर उसमें प्रवेश करते ही वह और भी अधिक दुःखका अनुभव करता है, उसके खारे और गर्म जलसे उसका शरीर जलने लगता है, मगर-मच्छादि वेषी चारों ओरसे खानेके लिए दौड़ते हैं। वह वहाँ भी महादुःखका अनुभव कर उससे बाहर निकलता है, तो दूसरे नारकी पकड़कर उसे तेलकी तपती हुई कढ़ाइयोंमें डाल देते हैं और उसे त्रिशूलोंसे छेदते और पूड़ी-कचौड़ीके समान उसमें उलट-पुलटते हैं। ये नारकी परस्पर बुरी तरह लड़ते रहते हैं। इस प्रकार कहाँ तक कहा जाय ? वह जीव जहाँ भी जाता है, वहाँपर उसे नाना प्रकार के महाकष्ट भोगने पड़ते हैं। उन नरकोंकी पृथ्वी इतनी दुर्गन्धित होती है कि यदि पहले नरक की मिट्टीका कुछ हिस्सा लाकर यहाँ मध्यलोकमें डाल दिया जाय, तो आधे कोश तकके जीव उसकी गंधसे मर जावें। आगे-आगेके नरकोंकी पृथ्वीकी गन्धसे १ कोश, १॥ कोश, २ कोश, २॥ कोश, ३ कोश और ३॥ साढ़े तीन कोश तकके जीव मर जाते हैं। इस प्रकार वे नारकी नरकोंमें क्षेत्रजनित, शारीरिक, मानसिक दुःखोंको असंख्य काल तक सहन करते हैं। तीसरे नरक तक असुरकुमार देव भी जाकर उन्हें आपसमें पूर्वभवका बैर याद दिलाकर लड़ाते हैं। वहाँ भूख इतनी है कि तीनों लोकोंका सर्व अन्न खा जावें तो भी भूख न मिटे, पर खानेको एक दाना भी नहीं मिलता, प्यास इतनी अधिक लगती है कि सर्व समुद्रोंका पानी पी जायें तो भी प्यास न बुझे किन्तु एक बूंद भी पानी पीनेको नहीं मिलता। इस प्रकारके ये दुःख पहले नरकमें १ सागर तक, दूसरेमें ३ सागर तक, तीसरेमें ७ सागर तक, चौथेमें ४० सागर तक, पाँचवेंमें १७ सागर तक, छठेमें २२ सागर तक और सातवें नरकमें ३३ सागर तक निरन्तर सहता रहता है। उनका अकालमें मरण नहीं होता है। शरीरके टुकड़े-टुकड़े कर दिये जानेपर भी पारेके समान उनके शरीरके परमाणु तुरन्त परस्परमें मिल जाते हैं। नारकियोंको मारनेके लिए उन्हें हथियारोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती, उनके हाथ ही तलवार, भाला, बरछी आदि विविध रूपोंमें परिणत हो जाते हैं, सो यह बात नारकियोंको और भी अधिक कष्टदायक होती है। क्योंकि यदि हथियारोंको उठानेका काम पड़े, तो कुछ क्षणके लिए तो दूसरा नारकी उसके प्रहारसे बच जायगा। पर नारकियोंके वैक्रियक शरीर होता है, जिस क्षण जैसा सोचते हैं, तत्काल उनके शरीरका उसी रूपसे परिणमन हो जाता है, अतः इससे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

नारकियोंके दुःख और भी अधिक बढ़ जाते हैं। मगरमच्छादि भी वे ही बनते हैं।

नरकस्वरूपका चिन्तवन भी धर्मध्यानका एक अङ्ग—यह नरकका वर्णन भी धर्मध्यानके लिये सहायक है। तत्त्वार्थसूत्रके तीसरे अध्यायमें नरकका वर्णन है। जबलपुर चतुर्मास की बात है, जब मैं श्री १०५ प्रातःस्मरणीय गुरु गणेशप्रसादजी के साथ था और मेरे सप्तम प्रतिमा थी—पर्यूषण पर्वमें १० दिनके तत्त्वार्थ सूत्रके अध्यायोंका अर्थ करनेके लिये भिन्न-भिन्न विद्वान् नियुक्त कर दिये गये। सबने अपनी मनपसंदगीके अनुसार अध्याय ले लिये। एक पंडित ब्रह्मचारी जी के हिस्सेमें तीसरा अध्याय आया। कुछ लोकोंके मजाकसे उन्हें यह कुछ अच्छा न लगा। शायद नरकोंके वर्णनसे उन्हें कुछ ग्लानि या उद्वेगसा हुआ और उन्होंने उस अध्याय को मेरे सुपुर्द कर दिया। तीसरे दिन जब मैं शास्त्रकी गद्दीपर बैठा, तो मैंने कहा—लोग तत्त्वार्थसूत्रको समुच्चय अर्घ चढ़ाते हैं और प्रत्येक अध्यायको भी पृथक्-पृथक् अर्घ चढ़ाते हैं। जब प्रत्येक अध्यायको अर्घ चढ़ाया गया, तो उसके प्रत्येक सूत्रको अर्घका चढ़ना स्वतःसिद्ध हो गया अथवा जैसे सहस्र नामके एक-एक नामको अर्घ चढ़ाया जाता है उसी प्रकार यदि कोई विस्तारके साथ तत्त्वार्थसूत्रका पूजन, विधान करे तो एक-एक सूत्रको भी अर्घ चढ़ाया जायगा। उस समय इस प्रकारका पाठ होगा—'परस्परोदीरित दुःखा' अर्घं, 'संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः' अर्घं, तो क्या इस प्रकार अर्घ चढ़ानेसे क्या उन नारकियोंको अर्घ चढ़ाया गया? नहीं। इसका अर्थ यह होगा कि जो आगम सूत्र इस बातको बतला रहा है, उस सूत्रको अर्घ चढ़ा रहा हूं। इसमें डरनेकी क्या बात है? और फिर शायद हम आप सभी इन नरकोंमें अनेक बार उत्पन्न होकर वहाँके दुःखोंका अनुभव कर चुके हैं। यह दूसरी बात है कि आज हमें वे दुःख याद न हों। पर आगमके सहारेसे उन नरकोंका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और सोचना चाहिए कि तीन लोकमें कहाँ कैसी रचना है, यह संस्थानविचय धर्मध्यान है, यद्यपि संस्थानविचय ध्यान ५ गुणस्थान तक नहीं होता तथापि उसका स्थूल रूप तो आता जाता और जब हम नरकोंके दुःखोंका चिन्तवन कर उनसे बचनेका उपाय सोचते हैं, तो वह उपायविचय धर्मध्यान हो जाता है। इस सर्व कथनका सारांश यही है कि हमें उस अशुभोपयोगका दूरसे ही परित्याग कर देना चाहिए, जिसके फलसे कि हमें नरकोंमें उत्पन्न होना पड़ता है।

नरकोंमें उत्पन्न होनेके कारणोंसे दूर रहनेके यत्नका पालन—नरकोंमें उत्पन्न होनेका कारण बहुत आरंभ और बहुत परिग्रह है तथा नरकोंमें उत्पन्न होनेको जहाँ बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रहका होना कारण बतलाया गया है, वहाँ रात्रिभोजनको भी एक कारण बताया गया है। रात्रिभोजन महाहिंसाका कारण है। जिस प्रकार अन्न खाने वालेकी अपेक्षा माँस खाने वालेके अधिक गृद्धि देखी जाती है, उसी प्रकार दिनमें भोजन करने वालोंकी अपेक्षा रात्रिमें

Version 1

भोजन करने वालोंके भी अधिक गृद्धि और लोलुपता स्वयं सिद्ध है। दूसरे रात्रिमें प्रकाशकी कमीसे भोजनमें गिर पड़ने वाले जीव दृष्टिगोचर नहीं होते। यदि बिजली आदिका तेज प्रकाश किया जाता है तो उसके निमित्तसे और भी अधिक जीव आकर एकत्रित होते हैं और मरते हैं, उनकी इस महाहिंसाके कारण भी हम ही बनते हैं। फिर रात्रिमें आने-जाने भोजन पकाने या पके हुएको परोसने आदिमें अगणित जीवोंकी हिंसा होती है। रात्रिमें जूठन यदि कहीं फेंकते हैं, तो भी जीवहिंसा होती है और यदि उसे यों ही पड़ी रहने देते हैं, तो भी उसमें अगणित त्रस जीव आकर मरते हैं। आप लोगोंने अवसर देखा होगा कि जो दूधके गिलास वगैरह रातको यों ही बिना मंजे रखे रह जाते हैं, सवेरे उसमें अगणित चींटी आदि मरी चिपकी हुई पाई जाती हैं। इस प्रकार महाहिंसाका कारण जान करके हमें रात्रिभोजनका परित्याग करना चाहिए। जो लोग सरकारी आफिसोंमें काम करते हैं, उन्हें चाहिए कि वे अपनी ड्यूटीके कार्य यथासम्भव शीघ्र करें, अपने अधिकारीको उस योग्यता और कुशलतासे परिचित करा दें और शामके ५ बजते ही घर आनेका अवकाश प्राप्त कर लेवें। यदि कदाचित् यह संभव न हो, तो वहीं शामका भोजन मंगा लें या साथमें लेते जावें। यदि ये दोनों बातें भी संभव न हों तो फिर एक बार ही खानेकी आदत डालें। अनेक मनुष्य एक बार खा करके भी नीरोग, स्वस्थ एवं कमँठ बने रहते हैं। यदि विचार हो, रात्रिभोजनके पापसे घृणा हो, तो कोई न कोई उपाय निकाल ही सकते हैं। कितने ही लोग रातको अन्न तो नहीं खाते हैं पर मेवा मिठाई आदि अनेक दूसरी चीजोंको खाते हैं सो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि उनके खानेपर भी जीवघातमें कोई फर्क नहीं पड़ता, जीवहिंसा उतनी ही होती है। पाक्षिक गृहस्थको सबसे छोटा त्याग यह बताया कि वह जल औषधिके सिवाय कुछ भी न ले अर्थात् रात्रिमें सिर्फ जल और औषधि लेनेकी ही छूट पाक्षिकको है, और चाहिये भी क्या ? यदि प्यास सतावे, तो पानी पी ले और रोगपीड़ा हो तो औषधि ले लेवे। बाकी सर्व प्रकारके खाद्य, स्वाद्य, लेह्य आदि पदार्थोंके रात्रिमें खाने का त्याग करना ही चाहिए। वस्तुतः रात्रिमें जल औषधि ले तो कहीं वह दोषसे नहीं बच जाता, किन्तु उसका अभी त्याग नहीं। इसके अतिरिक्त रात्रिभोजनत्यागियोंको कितनी ही बीमारियाँ नहीं होतीं, उसका स्वास्थ्य उत्तम रहता है, पठन-पाठन धर्मसाधन कार्योंके लिए अवकाश मिलता है। रात्रिभोजियोंको अनेक बीमारियाँ होती हैं। प्रायः संक्रामक बीमारियोंके कीटाणु रात्रिमें अधिक संचार करते हैं और वे भोजनके साथ मिलकर रात्रिभोजीके पेटमें चले जाते हैं। प्रायः देखा गया है कि प्लेग, हैजा आदि उन लोगोंमें अधिक फैलता है, जो रात्रिभोजी हैं। ऐसा समझकर सबको रात्रिभोजनका त्याग करना ही चाहिये।

जिसके रात्रिभोजनत्याग करनेका जितना भी विवेक नहीं जगा उसके भेदविज्ञान क्या प्रगट हो सकेगा ? रात्रिमें भोजनको मांसके सदृश कहा गया है क्योंकि त्रस जीवोंके गिरने-मर

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

जानेसे वह मांस ही हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि जो मद्य, मांस, मधु रात्रि-भोजन और त्रसजीव वाले फलोंके खानेका त्याग कर देता है समझना चाहिए कि उसने रसनाविषयक अत्यन्त हेय अशुभोपयोगका परित्याग कर दिया और अधम भूमिकासे वह ऊपर उठा है। खान पानकी शुद्धिके बिना परिणामोंमें शुद्धि आ नहीं सकती। अथवा परिणामोंमें शुद्धि हो तो खान-पानकी शुद्धि होती ही है। मनुष्य यदि मांसभक्षी है तो क्रोधादि कषाय शीघ्र जागृत होंगी। यदि वह मद्यपायी भी है, तो कामादि विकार अवश्य जगेंगे और काम-क्रोधादि विकारों का जागृत होना ही अशुभोपयोग है। अशुभोपयोगोंका परित्याग ही व्यवहारधर्म है। प्रत्येक गृहस्थको व्यवहारधर्मका पालन करना आवश्यक है। एक बार आप लोग कमसे कम ६ मास तक इस व्यवहारधर्मका पालन कीजिए, प्रतिदिन स्वाध्याय और सामायिक कीजिए, फिर देखिए कि आपके परिणामोंमें कितनी निर्मलता आती है और चित्त की चंचलता तो स्वयं ही नष्ट हो जायगी। ६ महीने दीवालको साफ करो, चित्र स्वयं प्रतिबिम्बित हो जायगा। धर्मके लिये पहिले चित्तको निर्मल करो। जो इस प्रकार अत्यन्त हेय अशुभोपयोगको छोड़कर सदा शुद्धोपयोगपर दृष्टि रखता है, उसका जो शुभोपयोग बीचमें आता है वह भी धीरे-धीरे स्वयं ही छूट जाता है।

समझके लिये तैयारी—अब आगे शुद्धोपयोगाधिकार प्रारम्भ होगा। इस शुद्धोपयोगाधिकारको कहनेके लिए आचार्यको कितनी भारी तैयारी करनी पड़ी है, अतः यदि समझमें आया है, तो फिर बताओ हमें भी उसके समझनेके लिए कितनी तैयारीकी आवश्यकता है? कोई किसीको परिणमाता नहीं है, सब द्रव्योंकी सत्ता स्वतंत्र है, फिर पात्रता पानेके लिए तैयारी तो करनी ही पड़ती है। लोग कहने लगते हैं देशके बड़े नेता लोग भी रात्रिको खाते हैं, मद्य पीते हैं; फिर भी वे राज्यशासन संभालते और ऊंचे पदोंपर कार्य कर रहे हैं, पर भैया हम तो देशके नेता होनेकी बात नहीं कह रहे हैं, हम तो यह कह रहे हैं कि यदि धर्मका नेता होना चाहते हो तो हेयको त्यागकर आत्मतत्त्वकी संभाल करलो और अनन्त काल तक उसका सुख भोगो। भैया! शुभोपयोगका फल विपदा है और अशुभोपयोग फल तो विपदा है ही, जिसने इस आत्मतत्त्वको पहिचाना, उसे हीं तीर्थंकर, चक्रवर्ती, नारायण आदिके तथा इन्द्र–अहमिन्द्र आदिके सुखोंमें अन्तरंगसे विरक्ति होती है। जीव किसी न किसी वस्तुमें लीन रहना चाहता है, चारित्रगुणका यही काम है। यदि इसे स्वबोध नहीं है, आत्मज्ञान प्रगट नहीं हुआ, तो जो चीज सामने आयगी, वह उसीमें लीन हो जायगा। चारित्रका काम लीन होनेका है। वह चारित्र मिथ्यात्वदशामें विषय-कषायोंमें लीन रहता है और सम्यक्त्व हो जाने पर वह निजात्मरूपमें लीन रहने लगता है।

शुद्धोपयोगके अधिकारका प्रारम्भ—पूज्य श्रीमत्कुन्दकुन्दाचार्यने शुद्धोपयोगका फल

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कहनेके पूर्व स्वयं आत्मशुद्धि की। उन्होंने पहले अशुभोपयोगको हटाया, फिर वे शुभोपयोग को हटाकर शुद्धोपयोगको स्वीकार करते हुए इस शुद्धोपयोग अधिकारका आरंभ करते हैं। प्रारंभ कब करते हैं? अधिकारको प्राप्त करके। जब तक कोई किसी तत्त्वके कहनेका अधिकार नहीं प्राप्त कर लेता, तब तक वह उस तत्त्वको कहनेका अधिकारी नहीं। फिर आचार्य प्रारंभ कहां करते हैं? अन्तरंगमें प्रारंभ करते हैं। इसका अभिप्राय यह कि वस्तुतत्त्व जैसा मनमें है, वैसा ही ग्रन्थमें आये, अर्थात् शब्दरूपसे रचा जाये। और जैसा ग्रन्थमें आवे, वैसा ही मनमें हो।

इन कागजोंपर जो ये अक्षर लिखे हैं, क्या यही ज्ञान है? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए श्री अमृतचन्द्राचार्य सूरि जी समयसारमें कहते हैं:—"न श्रुतं ज्ञानमचेतनत्वात्, ततो ज्ञानश्रुतयोर्व्यतिरेक" अर्थात् शास्त्र कागजोंपर लिखे गये अक्षर श्रुतज्ञान नहीं है, क्योंकि वे अचेतन हैं, इसलिए शास्त्र और वस्तु है व ज्ञान और वस्तु है। जब आत्मामें ज्ञान जगा, तो ये शब्द पकड़े गये, या ये शब्द पत्र निबद्ध शब्द पढ़े, तो यह ज्ञान भीतर आया। यहाँ कोई यह न समझ ले कि शब्दोंमें से अर्थ निकलकर भीतर आत्मामें पैदा करते हैं। नहीं, शब्दोंमें से अर्थ निकलकर ज्ञान नहीं पैदा होता, पर वह स्वयं भीतरसे निकला करता है। यदि शब्दोंको पढ़नेसे ही ज्ञान पैदा होता, तो फिर किसी कठिन पंक्तिको पढ़नेके साथ ही उसका भी अर्थ तत्काल ज्ञात हो जाना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता, तो क्या उस पंक्तिका अर्थ समझनेके लिए उस पंक्तिके अक्षरोंको कागजपर घिसता है, अक्षरोंको साफ करता है कि इनमेंसे अर्थ निकल आवे? नहीं तो फिर क्या करता है? यह करता है कि उस पंक्तिको बांचकर और आँख बन्द कर अपनी बुद्धिपर जोर देता है और उसके भावको समझनेका प्रयत्न करता है। उसका यह प्रयत्न ही उसके भीतर पंक्तिके अर्थका ज्ञान प्रगट करता है। साधु सदा छठे प्रमत्त गुणस्थानसे सातवें अप्रमत्तगुणस्थानमें और सातवेंसे छठेमें आता जाता रहता है। जब आचार्य कुन्दकुन्द यह ग्रन्थ बना रहे होंगे, तब भी उनके उपयोगकी प्रमत्तदशा और अप्रमत्तदशा बराबर परिवर्तित होती रही होगी। अप्रमत्तदशामें शुद्धोपयोगके विचार मनमें उठते और प्रमत्तदशामें वे शब्दरूपसे निर्मित होकर कागजपर अंकित होते। इस क्रमके साथ ही प्रकृतग्रन्थकी रचना हुई है।

तत्र शुद्धोपयोगफलमात्मनः प्रोत्साहनार्थमभिष्टौति।

अब ग्रन्थकार अपनी आत्माके और अपने समान सभी आत्माओंके प्रोत्साहनके लिए शुद्धोपयोगका फल प्रकाशित करते हैं। यहाँ 'उच्यते प्रकाशयति' आदि क्रियापदोंका प्रयोग न करके आचार्यने 'अभिष्टौति' पदका प्रयोग किया है। यह पद 'अभि उपसर्गपूर्वक ष्टुञ् प्रशंसायां' धातुसे बना है, जिसका अर्थ होता है कि भले प्रकार सर्व ओरसे गद्गद् होकर प्रशंसा

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

करते हैं। प्रश्न—पहले शुद्धोपयोगके कारण आदि क्यों नहीं कहे, फल ही क्यों कहा ? उत्तर—पहले फल कहनेका कारण यह है कि श्रोता जन फल सुनकर उसके पानेके लिए उत्साहित हो जावें।

शुद्धोपयोगका फल भेदविवक्षासे अनाकुल सुख है। परन्तु अभेदविवक्षासे अनाकुल सुखस्वरूप शुद्धोपयोग ही है। आचार्य कुन्दकुन्द महाराज इसी बातको गाथा द्वारा प्रगट करते हैं—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धु वओगप्पसिद्धाणं ॥१३॥

शुद्धोपयोगियोंका आनन्द—शुद्धोपयोगियोका सुख अतिशयवान् है। संसारके जितने बड़ेसे बड़े देवेन्द्र अहमिन्द्रादिके सुख हैं, उनसे भी अपूर्व है, अद्भुत है, परम आल्हादरूप है। जिसकी कि संसारी जीव कल्पना ही नहीं कर सकता। एक तीन दिनके भूखे भिखारीको कहींसे माँगनेपर सूखे, रूखे रोटीके दो चार टुकड़े मिल जायें, फिर उससे कोई कहे कि हे बाबा! इन बासे, गंदे टुकड़ोंको फेंक दे और मेरे साथ चल, मैं तुझे बढ़िया ताजा भोजन कराऊंगा, तो उसे विश्वास ही नहीं आता, कि कहीं इन टुकड़ोंसे भी बढ़िया भोजन हो सकता है अथवा प्राप्त हो सकता है ? जन्मसे लेकर आज तक जिसने उन रूखे-सूखे टुकड़ोंके सिवाय बढ़िया भोजन देखा ही नहीं, वह उसकी कल्पना ही नहीं कर सकता है। इसी प्रकार जिस संसारी जीवने अनादिकालसे आत्मीय सुख देखा ही नहीं है और जो इन पंचेन्द्रियोंके क्षणिक सुखाभासोंको ही सुख मानता आ रहा है, उसे यदि श्रीगुरु कहते हैं कि वत्स, इन इन्द्रियसुख रूप टुकड़ोंको फेंको, हमारे साथ चलो, हम तुम्हें उत्तम सुख प्राप्त करावेंगे। तो उसे गुरुवचनों पर विश्वास ही नहीं होता कि इन इन्द्रियोंके सुखोंसे भी बढ़कर कोई और भी सुख हो सकता है ? उसके मनमें यह बात जम ही नहीं सकती, क्योंकि दिमागमें तो वह अनादिकालीन कुसंस्कार घर किये हुए हैं। पर जिसने आत्मस्वरूपको पहिचान लिया है, वही विषय-कषायोंको छोड़ सकता है। इसी बातको समन्तभद्राचार्यने कहा है कि—मोहतिमिरापहरणे दर्शन लाभादवाप्तसंज्ञानः। रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ॥ अर्थात्—जब आत्माके ऊपरसे अनादिकालका लगा हुआ मोहरूप अन्धकार दूर हो जाता है और सम्यग्दर्शन के लाभके साथ-साथ सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब वह साधु रागद्वेष की निवृत्तिके लिए चारित्रको प्राप्त होता है, निजस्वभावकी स्थिरताको प्राप्त होता है।

सम्यक्त्व और वैराग्य—इसका अर्थ यही निकलता है कि यह जीव पहले सम्यक्त्वी बन जाय, तभी रागद्वेषकी निवृत्तिके लिए चारित्रका उदय होता है। हमें एक बार सबसे मोह छोड़ना होगा, अपनेको सबसे भिन्न और असहाय समझना होगा, तभी आत्मस्वरूपके दर्शन

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

होंगे और तभी उस अतिशयवान सुखके दर्शन होंगे जो कि सुख परम अद्भुत है, आल्हादस्वरूप है। जिसे एक बार उसकी झांकी हो जाती है, वह राजपाट सभी पुत्र और धन वैभवको जीर्ण तृणके समान छोड़कर साधु बन जाता है। सुकौशलके पिता राजा कीर्तिधरको जब आत्मबोध हुआ और वैराग्य प्रगट हुआ, तो वह छोटेसे राजकुमार और रानीको छोड़कर साधु बन गया। उसे साधुओंसे बड़ी घृणा हो गई और उनका मुंह देखना पाप समझने लगी। एक बारकी बात है कि रानी अपने पुत्रके साथ राजमहलके ऊपर वाली बारहदरीमें बैठी थी कि उसने राजमार्गसे राजमहलकी ओर आते उन्हीं कीर्तिधर साधुको जो कि उसके पति थे देखा तो फौरन दासियोंको हुक्म दिया कि जाओ इस नंगेको भीतर मत घुसने दो, धक्का मारकर बाहर निकाल आओ, ये नंगे यहां आकर राजभवनको भी गन्दा कर देंगे। रानीकी ऐसी आज्ञा सुनकर समीपमें खड़ी हुई धायके आँसू आ गये और सोचने लगी—देखो, जिसका यह राजसुख भोग रही है, उसी अपने पतिके साथ इसका ऐसा व्यवहार। उसकी आँखोंमें आँसू देखकर बालक सुकौशल पूछने लगा—मां, तू क्यों रो रही है ? उसने कहा, कुमार ! आज तेरे पिता, जो साधु बन गये थे, आहारके लिए राजमहलमें पधार रहे थे, उन्हें देखकर क्रोधित हो तुम्हारी माताने उन्हें धक्के देकर निकलवा दिये और अपशब्द कहे। मुझे यह देखकर भारी दुःख होता है, और इसी कारण मेरी आँखोंसे आँसू निकल रहे हैं। सुकौशल धायके इन वचनोंको सुनकर बड़ा दुःखी हुआ, उसे संसारसे वैराग्य हो गया कि जहाँ स्त्री ही अपने पतिके साथ ऐसा व्यवहार कर सकती है, वहाँ औरोंकी क्या कथा है ? ऐसा सोचकर और विरक्त होकर उसने भी जंगलका रास्ता पकड़ लिया। माँ ने बहुतेरा रोका, मंत्रियोंने समझाया, राज्यके उत्तराधिकारकी बात कही। स्त्रीने रोका कि जो बालक मेरे गर्भमें है, उसके उत्पन्न होने तक तो घरमें रहो, पर वह नहीं माने, और यह कहकर वनको चल दिये कि जो बालक मेरी स्त्रीके गर्भमें है, वही राज्यका अधिकारी माना जाय, मैं उसे ही राजतिलक करता हूं।

जिसे सच्चा वैराग्य प्रगट हो जाता है, भीतर भेदविज्ञान जग जाता है, जिसके दिलपर संसारके दुःखोंकी अमिट चोट अंकित हो जाती है, वह फिर संसारमें रह नहीं सकता। फिर उसे न स्त्री, पुत्र रोक सकते हैं और न संसारके अन्य वैभव ही। मोहियोंको निर्मोहियों पर आश्चर्य होता है और निर्मोहियोंको मोहियोंपर आश्चर्य होता है। मिथ्यात्वीको सम्यक्त्वी जीव पागलसे दिखते हैं। श्रद्धाका माहात्म्य बड़ा अपूर्व है।

शुद्धोपयोगियोंके आनन्दके वर्णनका प्रयत्न—कैसा है शुद्धोपयोगियोंका सुख ? आत्माको ही आश्रय करके उत्पन्न होता है। जो सुख पराधीन हैं, वे सुख नहीं, दुःख ही हैं। पराधीनं सुखं कष्टं राज्ञामपि महौजसाम्। तस्मादेतत्समालोच्य स्वात्माधीनं सुखं कुरु॥ महातेजस्वी राजाओंके भी पराधीन सुख कष्टरूप ही है, इसलिए हमें स्वाधीन सुखके लिए प्रयत्न

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

करना चाहिए। स्वाधीन सुख निजस्वभावके अनुभव बिना नहीं होता।

बढ़िया भोजन करने वाला लोगोंको सुखी दिखता है। पर स्वयं उस खाने वालेके कितनी आकुलता उस समय है, यह वही अनुभव करता है। हम भी उसकी कमसे कम ऊपरी आकुलताको तो निरीक्षण कर ही सकते हैं कि जिस समय वह लड्डू खा रहा है, उसी समय उसके सेव या कचौड़ी खानेकी आकुलता उत्पन्न हो रही है, जो उसे मुखमें रखे हुए लड्डूका भी स्वाद सुख नहीं अनुभव करने देती, खाने वाला एक वस्तुको खाते हुए उसका आनन्द नहीं ले पाता कि नई वस्तुके खानेकी आकुलता व्याकुलता उसे पीड़ित कर देती है और खाते हुए भी जो क्षणिक जिह्वाइन्द्रियका सुख है, वह भी सुख निजसुख गुणके विकाररूप ही है। यही बात पाँचों इन्द्रियोंके सुखोंमें समझना चाहिए। सुख किसी भी अन्य बाह्य पदार्थसे नहीं निकलता वह तो आत्माका स्वभाव है और वहींसे प्रगट होता है। यदि गन्नेके रससे ही मिठास का सुख मिलता होता, तो मलेरिया ज्वर आने वाले व्यक्तिको भी वह मीठा लगना चाहिए था, पर उसे गन्नेका रस कडुवा लगता है। यह क्यों ? बात यह है कि जिसके भीतर विकार है, उसे वही कडुवा लगता है और जिसके भीतर विकार नहीं, उसे वही मीठा लगता है। यह विकार ही दुःखका जनक है। हमारे भीतर जो सुखका विकार भरा है, वह सब मोहका प्रसार ही तो है। यदि यह मोहका प्रसार दूर हो जाय और हमारी आँखें किसी प्रकार खुल जायें तो हमारा स्नेह, ममत्व सब क्षणभरमें दूर हो जाय।

पर्यायबुद्धि और स्वार्थ—एक देहाती आदमी की बात है, उसका लड़का एक शहरमें किसी कालेजमें अंग्रेजी पढ़ने गया। लड़केका पत्र आया कि मैं खर्चेसे तंग हूं, रुपया भेजो। बापने सोचा, मनीआर्डर करेंगे, कितने दिनोंमें पहुंचेगा, बहुत दिनसे मैंने भी लड़केको देखा नहीं है और यह सामने अमुक त्यौहार है, चलो—जाकर हम ही रुपया दे आवें और कुछ मिठाई वगैरह भी दे आयेंगे। ऐसा सोचकर वह रुपया और मिठाई लेकर शहरको चला। बेचारा देहाती तो था ही, उसकी वेशभूषा भी देहातियों जैसी थी, ऊंची मैली धोती, फटासा अंगरखा, मटमैला साफा और टूटी जूतियां पहने वह कालेजमें पहुंचा, लड़केसे भेंट हुई, उस समय वह अपने साथियोंके साथ सज-धजकर बाबू बन कालेजमें पढ़नेके लिए जा रहा था। बापको आता देखकर स्तम्भित होकर खड़ा रह गया, उसकी कोई भी विनय नहीं की। बापने रुपया और मिठाई उसके हाथमें दे दी। साथी पूछने लगे, यह तुम्हारा कौन है ? उसने धीरेसे कहा—यह हमारा सर्वेन्ट (नौकर) है। बापने जो यह सुना, तो उसके पैरोंके नीचेसे जमीन खिसक गई और बिना कुछ कहे सुने वापिस लौट आया। इस चोटसे उसका पुत्रगत मोह सदाको धुल गया और फिर उसने जीवनभर पुत्रका मुंह नहीं देखा, पुत्रके संसार से उदासीन हो गया। आजकी अंग्रेजी पढ़ाईका यह प्रभाव है कि पढ़ने वाले अपने बापको

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

भी दूसरोंके सामने बाप कहनेसे झिझकते हैं। सब स्वार्थके सगे हैं।

भोगोंकी असारता—दुनियांको छान डालो, कहीं भी किसी बाहरी पदार्थमें कोई सार नहीं मिलेगा। सार पदार्थ तो अपने आत्माके भीतर है, वह सुमतिसे प्राप्त होता है। सुमतिसे बढ़कर कोई सम्पत्ति नहीं है और कुमतिसे बढ़कर कोई दुःख नहीं है। कहा भी है—जहाँ सुमति तहं सम्पति नाना। जहाँ कुमति तहं विपति निधाना॥ जहाँ सुमति है वहाँ संपत्ति है, जहाँ कुमति है वहाँ विपत्ति है। अब भी यह सुमति जग जाती है, तभी भीतर प्रकाश हो जाता है। सुमति जगनेके लिए उम्रकी कोई कैद नहीं। वह किसीको बूढ़ा होने तक भी न जगे और किसीको बचपनमें ही जग जाती है। एक जगह तीन व्यक्ति एक साथ शास्त्र स्वाध्याय किया करते थे। उनमें एक वृद्ध थे, एक जवान और एक बालक। वे आपसमें कहा करें कि हममेंसे जो भी पहले विरक्त हो जाय, वह शेष दोनों जनोंको संबोधित करके संसार छुड़ावे। कुछ दिनोंके बाद वृद्धने सोचा कि जीवनका कोई भरोसा नहीं है, चलो घर-गृहस्थी लड़केको संभलाकर साधु बनें। ऐसा सोचकर उसने लड़केको बुलाया और सब घर-बार संभलवाकर बोला—देखो इन-इन लोगोंसे रुपया लेना है, इतने काम अधूरे पड़े हैं, उन्हें पूरा करना है, तुम पहले यह करना, फिर यह करना इत्यादि जाने कितने दिनों तक लड़केको पट्टी पढ़ाता रहा और फिर कहीं जाकर संसारसे विरक्त होकर घरसे चला। चलते चलते भी बहुत-सी शिक्षाएं पुत्रको देते गया। रास्तेमें जाते-जाते उसे यह साथमें शास्त्रस्वाध्याय करने वाला जवान आदमी मिला। उससे वह वृद्ध बोला लो भाई, हम तो संसारसे विरक्त होकर चले, तुम्हारी क्या राय है? वह बोला तो लो हम भी साथ ही चलते हैं, ऐसा कहकर और तिजोरीकी चाबियां लड़केके सामने फेंककर बोला—हम संसार छोड़कर जा रहे हैं, ऐसा कहकर वृद्धके साथ हो लिया। वृद्ध बोला—भाई इतनी जल्दी क्या है, लड़केको सब काम-काज संभलवा कर कुछ दिन पीछे आ जाना। वह बोला—क्या जरूरत है, वह खुद संभाल लेगा। जब हमने छोड़ ही दिया तब उसका विकल्प क्या करना? ऐसा कह उसके साथ हो लिया। दोनों चलते-चलते उस बालकके घर पहुंचे। वह मकानके बाहर ही खड़ा मिल गया। वृद्ध बोला—लो भाई हम दोनों तो संसारसे विरक्त हो गये है, अतः जा रहे हैं। वह बालक बोला—तो हम भी साथ चलते हैं, ऐसा कहकर उनके साथ हो लिया। वृद्ध बोला—भाई, इतनी जल्दी क्या पड़ी है, अभी तुम्हारी सगाई हुए थोड़े ही दिन हुए हैं, कुछ दिनों घर-गृहस्थीका सुख भोगो, पीछे उदासीन हो जाना। वह बोला—पहले कीचड़ लगाना और फिर धोना यह कहाँकी बुद्धिमानी है, इससे यही अच्छा है कि कीचड़में पैर न रखा जाय, ऐसा कहकर किसीसे बिना कुछ कहे सुने ही वह उनके साथ हो लिया। इस व्याख्यान से स्पष्ट है कि सुमति जगनेके लिए किसी अवस्थाविशेषकी दरकार नहीं हुआ करती। हमें

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भी किसी अवस्थाविशेषकी प्रतीक्षा न करके समयसारका स्वरूप पहिचानकर, श्रद्धान कर उसमें लीन होनेका प्रयत्न होना चाहिए, यही अनुपम कार्य है।

समयसारकी ख्याति—समयसारकी प्राप्तिके लिए स्वसमय परसमयका ज्ञान आवश्यक है। स्वसमय क्या है ? उसका उत्तर समयसारमें इस प्रकार है:—यो हि नाम नित्यमेव परिणामात्मनि स्वभावे अवतिष्ठमानत्वात् उत्पादव्ययध्रौव्यैक्यानुभूतिलक्षणया सत्तयानुस्यूतश्चैतन्यस्वरूपत्वान्नित्योदितविशददृशिज्ञप्तिज्योतिरनन्तधर्माधिरूढैकधर्मित्वादुद्योतमानद्रव्यत्वः क्रमाक्रमप्रवृत्तिविचित्रभावस्वभावत्वादुत्संगितगुणपर्यायः स्वपराकारावभासनसमर्थत्वादुपात्तवैश्वरूप्यैकरूपः प्रतिविशिष्टावगाहगतिस्थितिवर्तनानिमित्तत्वरूपत्वाभावादसाधारणचिद्रूपतास्वभावसद्भावाच्चाकाशधर्माधर्मकालपुद्गलेभ्यो भिन्नोऽत्यन्तमनन्तद्रव्यसंकरेऽपि स्वरूपादप्रच्यवनात् टंकोत्कीर्णचित्स्वभावो जीवो नाम पदार्थः स समयः। अयं खलु यदा सकलस्वभावभासनसमर्थविद्यासमुत्पादक विवेकज्योतिरुद्गमनात्समस्तपरद्रव्यात्प्रच्युत्य दृशिज्ञप्ति स्वभावनियतवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकत्वगतत्त्वेन वर्तते तदा दर्शनज्ञानचारित्रस्थितत्त्वात्स्वमेकत्त्वेन युगपज्जानन् गच्छंश्चस्वसमय इति।

सम् उपसर्गपूर्वक अय् गतौ धातुसे 'समय' शब्द बना है। जो एक कालमें ही जाने और परिणमन करे उसे समय कहते हैं। यह जीव नामक पदार्थ एक कालमें जानता भी है और परिणमन भी करता है। इसलिए यही समय है, यह समय—संज्ञा वाला जीव नित्य ही परिणमनस्वभावमें रहनेसे उत्पादव्ययध्रौव्यकी एकतारूप अनुभूति लक्षण वाली सत्ताकर सहित है, चैतन्यस्वरूपपनेसे नित्य उद्योतरूप निर्मल स्पष्ट दर्शनज्ञानरूप ज्योतिस्वरूप है, अनन्त धर्मोंमें रहने वाले एकधर्मित्वसे जिसका द्रव्यत्व प्रकट है, क्रमसे प्रवृत्ति करने वाले पदार्थ और अक्रमसे प्रवृत्ति करने वाले गुणरूप विविध स्वभावपनेसे जो गुणपर्यायस्वरूप है, स्व और पर आकारके प्रकाशन करनेमें समर्थ होनेसे जिसने समस्त विश्वरूपको झलकाने वाला होकर भी एकरूप प्राप्त किया है, जो अवगाहनस्वभावी आकाश द्रव्यसे, गतिमें निमित्तरूप धर्मद्रव्यसे, स्थितिमें निमित्तरूप अधर्मद्रव्यसे, वर्तनामें निमित्तभूत कालद्रव्यसे और रूपीस्वभावी पुद्गल द्रव्यसे अत्यन्त भिन्न स्वभावी है, जिसका असाधारण चिद्रूपस्वभाव है, अनन्त अन्य द्रव्योंके साथ संकर होनेपर भी अर्थात् एकक्षेत्रावगाही होनेपर भी जो अपने स्वरूपको नहीं छोड़नेके कारण टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है। जब यह समय नामक जीव सकल पदार्थोंके स्वभाव प्रकाशनमें समर्थ केवलज्ञानरूप विद्याको उत्पन्न करने वाली विवेकज्योतिके उदय होनेसे समस्त परद्रव्योंसे छूटकर दर्शन ज्ञानमें निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्वसे एकत्वगत होकर अर्थात् तन्मय होकर प्रवर्तता है, तब वह दर्शन ज्ञान चारित्रमें ठहरनेसे अपने स्वरूपको एकतारूप कर एक कालमें जानता और परिणमता हुआ स्वसमय कहलाता है। इस प्रकार यह जीव नामक पदार्थ स्वसमय है और निज आत्मस्वरूपको छोड़कर परपदार्थमें लगना सो परसमय है। ये

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

शुद्ध अशुद्ध अवस्थायें जिस आत्मवस्तुकी हैं वह समय है।

आत्माका अस्तित्व—देखो भैया! यहाँ पहिले तो यह बताया है कि आत्मा जैसा कोई पदार्थ है भी या नहीं? वह है, क्योंकि उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है, वह है अनेकान्तात्मक, गुणपर्यायवान, एकानेकरूप अन्य सर्व द्रव्योंसे भिन्न चैतन्यमय। यदि कोई कहे भ्रम ही भ्रम है तो जिसमें भ्रम है वही आत्मा है। रस्सीमें साँपका भ्रम भले ही हो, परन्तु किसी अर्थके बिना तो भ्रम नहीं। कोई कहे आत्मा नहीं तो जिसमें नकार हो रहा वही आत्मा है। अनुभवसे भी देखो जो जानता देखता वही आत्मा है। आत्माका ज्ञान दर्शनस्वभाव है। निगोदमें भी जो है उसका भी ज्ञान दर्शन नष्ट नहीं होता। यह आत्मा स्वयं ज्ञान और आनन्द स्वभाव को लिए हुए है। जिनके सम्यक्त्व हो जाता है वे झट अपने आँख कान आदिका संयमन करके अन्तरको देखकर ज्ञानानन्दस्वभावको अनुभव कर सुखी हो जाते हैं।

शुद्धोपयोगीका विषयातीत आनन्द—शुद्धोपयोगियोंका सुख आत्माधीन ही है। सुख निज चैतन्य देवके प्रसादमें ही है। "आपकी तस्वीर है दिलके आयनेमें जिन! जब जरा गर्दन झुकाई देख लें।" शुद्धोपयोगियोंका सुख स्वाधीन है तभी सर्वथा उपादेय है। पराधीन सुख तो साक्षात् कष्ट ही है। लोकमें भी पराधीन सुखको कोई नहीं चाहता। कहते हैं ना, हमारा सो हमारा, पराया सो पराया, परायेका विश्वास ही क्या? जो स्वभाव है वह विश्वास के योग्य है, विभावका विश्वास नहीं विभाव सहित है, क्षणिक है, क्लेशकारक है। पराश्रयज सुखमें क्या रुचि करना? वास्तवमें तो परसे कोई सुख होता ही नहीं है। दूसरोंके सुखसे कोई सुख नहीं है। परकी पर्याय, दूसरोंका सुख उन्हींमें व्यापक रहता है। गन्नेके रसको चूसकर कोई कहे कि इसमें बड़ी मिठासका आनंद है तो वह समझ गलत है। उस निमित्तको पाकर जो कल्पना बनाई उसके अनुरूप निज सुखके विकारका वह भाव है। नहीं तो मलेरिया ज्वर वालेको गन्नेका रस कड़ुवा क्यों लगता? गन्ना तो मिठासका आनन्द देता है, सो सबको समानतया देवे। बात यह है कि सुखरूप कार्य अपने उपादानसे अनुकूल निमित्त पाकर व्यक्त होता है। सभी सुख आत्मीय परिणति हैं। विषय, धन वैभव, भोजन परिवार आदि सर्व वस्तुयें मेरे किसी गुणपर्यायरूप नहीं परिणम सकते। इन्द्रिय भोगके कालमें भी अपनी कल्पनासे ही सुख है। संध्याकालमें कोई द्वारपर शान्तचित्त बैठा हुआ हो और कोई मित्र आकर पूछे कि भाई! आनन्द तो है तब वह बोलता है कि खूब आनन्द है। यहाँ बतावो कि वह न स्पर्शनका विषय कर रहा न खा रहा, न सूंघ रहा, न देख रहा, न राग ही कोई सुन रहा और न हवाई पुल ही बाँध रहा, फिर आनन्द काहेका बता रहा? भैया! जो वह विश्रामसे रागद्वेषकी मंदतापूर्वक बैठा है उसका वह सुख पा रहा। अपने आपको देखो अपना वह सुखभण्डार समग्र अपने आप पा लोगे। यह सुख विषयातीत है। विषयी लोग अपने

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

भुक्त विषयसुखसे तुलना करने जायें और सत्य शुद्ध आनन्दकी भाँप भी कर सकें, यह हो ही नहीं सकता। भील चक्रीके सुखको भाँपना चाहे तो क्या भाँप भी सकता है ? अधिकसे अधिक उसका दिमाग बढ़ेगा तो यह सोच लेगा कि वे तो गुड़ ही गुड़ खाते होंगे। भैया ! चक्रीका तो दृष्टान्त मात्र दिया है। कहीं चक्रीके सुखको सुख नहीं समझ लेना। चक्री भी जब भेदविज्ञानकी अतिशयितभावनासे सर्व परिग्रह त्यागि सर्वविकल्पोंसे मुक्त होकर केवल आत्मस्वरूपमें रत रहते हैं तब उन आत्मावोंको भी सत्य आनंद प्राप्त होता है। यह सब शुद्धोपयोगका प्रसाद है। शुद्धोपयोगका फल वह सुख है जो अतिशयवान है, आत्म-समुत्पन्न है, विषयातीत है, अनंत है, अव्युच्छिन्न है। शुभोपयोगका फल दुःख है और अशुभोपयोगका फल महादुःख है। शुद्धोपयोगका फल निर्मल ज्ञान, दर्शन आदिका प्राप्त करना भी है। फिर भी यहाँ सुखको ही एकमात्र उसका फल क्यों बतलाया ? इसका उत्तर यह है कि यह जीव अनादिकालसे ही सुख पानेके लिए छटपटाता चला आ रहा है, पर इसे वह आज तक मिला नहीं है। इसलिए आचार्य ने इसी दुखी जीवको शांति पहुंचानेके लिए आत्मीय सुखको ही शुद्धोपयोगके फल रूपसे वर्णन किया तथा सभीका उद्देश्य सुख ही रहता है। सारे यत्न सुख के लिए ही हैं। देखो वह आत्मीय सुख विषयातीत है, अर्थात् संसारी जीवोंने पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें जो सुखकी कल्पना कर रखी है, उससे अतीत है, रहित है।

विषयप्रिय जीवोंके आत्मीय आनन्दके परिचयकी अशक्यता—जो जीव अनादिकालसे इन्द्रियविषयोंके सेवनको ही सुख समझते आ रहे हैं, वे आत्मीय सुखकी कल्पना ही नहीं कर सकते हैं कि वह कैसा होगा ? जिनके दिमागोंमें विषयोंकी दुर्गन्धि भरी हुई है उन्हें आत्मा की सुगन्धि कैसे रुचिकर हो सकती है ? दो सहेलियों की कथा है। एक धीमरकी लड़कीमें और एक मालिनकी में बड़ी मित्रता थी। समय पाकर दोनों विवाहित होकर अपनी-अपनी ससुराल चली गईं। एक बार धीमरकी वह लड़की बाजार करके अपने गाँवको लौट रही थी, रास्तेमें मालिनकी लड़कीसे भेंट हो गई, वे आपसमें बहुत दिनोंमें मिलीं थीं, इसलिए मालिनकी लड़की ने उसे रोक लिया और कहा कि रात यहीं बिताओ, प्रातःकाल अपने घर चले जाना। वह धीमरकन्या रुक गई। मालिनकी लड़कीने उसका खूब आतिथ्य किया, बढ़िया भोजन कराये, फिर अच्छी चारपाई पर अच्छे बिछौने बिछाकर उसपर बेला, चमेली, जूहू, गुलाब आदिके फूलोंकी पंखुड़ियां फैलाकर उस पर उस धीमरकन्याको सोनेके लिए कहा। वह उस शय्यापर सोई, परन्तु उसे नींद नहीं आई, करवट ही बदलती रही। अन्तमें मालिन की लड़कीसे बोली—बहिन तुमने यह गीला-गीलासा क्या बिछा दिया है, इसकी बदबूसे ही मेरा मस्तक फटा जा रहा है, इसे हटाओ। फूल अलग कर दिये गये, फिर भी उसे नींद नहीं आई और बोली इन कपड़ोंमें जो फूलोंकी गन्ध भर गई है, उससे मुझे शिर दर्द हो रहा है,

Version 1

इन्हें भी हटाओ। उन्हें भी हटा दिया गया। फिर भी उसे नींद न आई, तो सहेलीसे बोली—बहिन, मेरी जो टोकनी रखी हुई है, उसपर जरा पानी छिड़ककर लाओ। जब वैसा किया गया, उस टोकनीमें पानी छिड़कनेसे मछलियोंकी गन्ध आई, तब उसे नींद आई। यह मत्स्य-गन्धाकी कथा हमें यह शिक्षा देती है कि जिनके दिमागोंमें विषयकषायरूप मत्स्योंकी दुर्गन्ध भरी हुई है, उन्हें आत्मारूप पुष्पोंकी सुगन्ध नहीं सुहाती है। जब उनके दिमागोंमें से वह विषयोंकी बदबू निकल जायेगी, तभी वे आत्मिक सुखकी सुगन्धका अनुभव कर सकेंगे।

आत्मीय आनन्दकी अनुपमता—यह आत्मसुख विषयातीत है, विषय विकल्प शून्य आत्माके सहज है और वह आत्मीय सुख अनुपम है। लौकिक सुखके लिए उपमा मिल सकती है, पर अलौकिक सुखके लिए कोई उपमा नहीं मिल सकती है, इसी कारण आत्मीय सुखको अनुपम अर्थात् उपमारहित बताया है। गरीब लोग या जंगली भील लोग जिन्होंने कि कभी राजा रईसोंके भोजनको देखा-सुना ही नहीं, वे राजाके भोजनकी क्या कल्पना कर सकते हैं? कुछ भी नहीं। एक बार कुछ जंगली लोगोंमें चर्चा चल पड़ी कि राजा क्या खाता होगा? किसीने कुछ बताया, किसीने कुछ। तब एक बोला—अरे, राजाके क्या कभी है। वह चाहे तो गुड़ ही गुड़ खा सकता है। जिन लोगोंने गुड़से बड़ी कोई मीठी या बढ़िया वस्तु देखी-सुनी ही नहीं और जिसे गुड़का एक टुकड़ा ही बड़े भाग्यसे जब कभी नसीब होता है, वह गुड़से उत्तम वस्तुकी कल्पना ही क्या कर सकता है। इसी प्रकार विषयलोलुपी जीव भी सिद्धोंके सुखकी कल्पना ही क्या कर सकते हैं। सिद्धोंका या शुद्धोपयोगियोंका सुख अत्यन्त विलक्षण है, जगत्के पदार्थोंसे बिल्कुल निराला है। निर्मल ज्ञान होनेपर परपदार्थोंसे जो लक्ष्य हटता है, और स्वमें श्रद्धा होनेसे जो अनाकुलता आती है, उसके लिए संसारमें कोई उपमा नहीं है।

सम्यक्त्वमें ही शुद्ध आनन्दकी सम्भव—जिनके कमसे कम चौथा गुणस्थान है, जिन्हें आत्मतत्त्वकी श्रद्धा प्रकट हुई है और अनाकुलताका आभास पाया है, उन्हें तो श्रद्धा आ सकती है, वे तो शुद्धोपयोगियोंके सुखकी कल्पना कर सकते हैं, पर अन्यके न श्रद्धा ही आ सकती है कि है और न वे उसकी कल्पना ही कर सकते हैं। उस आत्मीय सुखके यहाँ दिखने वालोंके समान कोई लक्षण नहीं मिलते इसलिए तथा वह विशिष्ट अलौकिक लक्षण वाला है, इसलिए विलक्षण कहलाता है। शुद्धोपयोगियोंका सुख अथवा शुद्धोपयोगसे निष्पन्न परमेष्ठी अरहन्त व सिद्ध देवका सुख कैसा है, उस सुख जैसी बात यहाँ अन्यत्र कहीं पाई नहीं जाती तब क्या कहा जावे? उनका सुख तो उनके सुख ही की तरह है। शुद्धोपयोगका आंशिक विकास और अनुभव पाने वाले भी अनुभवके कालमें तो चर्चा नहीं करते और चर्चाके कालमें अनुभवदशा नहीं, सो कैसे बताया जावे? जिनके निरन्तर अनुभव है उन महाराजोंने हमसे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

बोलचाल बन्द कर दी । अब क्या उपाय है ? अब तो स्वयं उनके प्रदर्शित मार्गसे चलो और उस सुखका माहात्म्य अनुभव करके समझो । शुद्धोपयोगके आंशिक विकासमें सम्यग्दर्शनके अनुरूप अनुभवकालमें शुद्धोपयोग निष्पन्न परमेष्ठियोंके सुखकी जाति जैसा ही सुख समझ लिया जाता है । हाँ अल्प-बहुत्वका, स्थिरता अस्थिरताका अन्तर अवश्य है । जैसे किसीने एक पैसे का कलाकंद लेकर खाया और किसीने वही आधा सेर लेकर खाया, स्वादसे दोनोंको एक ही जातिका सुख हुआ । इसी तरह जिसने क्षणभर शुद्ध लक्ष्यसे आत्मसुख देखा उसने स्थायी शुद्धिपरिणत देवके सुखकी जातिकी प्रतीति कर ही ली । शुद्धात्मावोंके सुखकी जातिका अनुभव तो किया जा सकता है, परन्तु उपमा नहीं मिलती । ऐसा वह स्वाधीन सुख अनुपम है, जगतके सब उपमानोंसे उच्च है । उस सुखका माप बतानेके लिए अधिकसे अधिक यहाँ कहा जा सकता है कि तीनों लोकोंके अपार वैभवके स्वामी समस्त देवेन्द्र, नागेन्द्र, भवनेन्द्र, नरेन्द्र आदि सभीका जो सुख है सबको भी मिला लिया जाय, उससे भी अनन्त गुण सुख शुद्धोपयोगियोंका है । परन्तु जहाँ सुखकी जाति ही विलक्षण है, वहाँ यह त्रैराशिक या हिसाब वस्तुके स्वरूपको परमार्थसुखको छू भी नहीं सकता । उनका सुख तो उनकी ही तरह है अन्य कोई उपमा नहीं । लोकमें जब किसी विशिष्ट महापुरुषकी बड़ी तारीफ करना हो तब यही कहते बनता है कि यह तो यह ही हैं । राम रावणका युद्ध उन्हींके समान था । उसकी कोई मिसाल नहीं है । आत्मसुख तो आत्मसुखकी ही तरह है ।

आत्मीय सुखकी निरन्तरता—वह सुख समस्तायतिनिरपायित्वादनंतम्—वह सुख समस्त कालकलासे रहित है, निरन्तर प्रवाहित रहता है, अतः अनन्त है अर्थात् उसका कभी अन्त नहीं आता । यदि शुद्धोपयोगीका सुख अपूर्व है, अतिशयवान है, अति विलक्षण है, और अनन्त है, तो ऐन्द्रियक सुख इससे विपरीत है, वह पराधीन है, शान्त है । हम स्त्री पुत्रादि अनेक पारिवारिक जनोंके परतंत्र होकर भी सुखका अनुभव करते हैं और यदि कभी हमें उन सबसे अलग होकर अकेले रहनेका अवसर आता है, तो बहुत दुःखका अनुभव करते हैं । पर यह भूल है । उन्हें अकेले रहनेसे घबड़ाना नहीं चाहिए, बल्कि अकेले रहनेके लाभोंपर दृष्टि देनी चाहिए और सोचना चाहिए कि यह उन्हें आत्मकल्याण करनेका अवसर मिला है । विषयसुखसे ऊपर उठनेका अवसर बड़े सौभाग्यसे मिलता है । एक अपनी ही सम्हालमें जब हमें इतने अधिक दुःखोंका सामना करना पड़ता है, तो जिनके आधीन अनेक कुटुम्बी हैं, और जिनपर उनकी सारसम्हाल और देखभालका भार है, वे कितने दुःखी नहीं होंगे, उन्हें कितने अधिक दुःखोंका सामना नहीं करना पड़ेगा । ऐसा समझकर एकाकी रहनेका दुःख न मानकर उसके लाभोंको देखकर आत्मकल्याणमें लगना चाहिए ।

लोकेषणामें आत्मसुखका हनन—हमारा सुख हमारे ही पास है, परन्तु बहुकुटुम्बीको

Version 1

कुटुम्ब परिवारादिके प्रसन्न करनेके लिए जो नाना उपाय करने पड़ते हैं, उससे वह दुःखी बना रहता है। वह सदा यह प्रयत्न करनेमें लगा रहता है कि सब लोग मुझे अच्छा समझें पर कोई सबको न खुश रख सकता है, न कोई सबकी दृष्टिमें अच्छा बन सकता है। एक कथा है कि कोई बाप बेटे एक घोड़ा लेकर कहीं जा रहे थे। बाप घोड़ेपर सवार था और लड़का पैदल चल रहा था। किसी गाँवमें होकर निकले, तो लोगोंने कहा—देखो यह कैसा बुरा आदमी है जो स्वयं तो घोड़ेपर सवार है और बेचारे लड़केको पैदल चला रहा है। यह सुनकर बाप घोड़ेसे उतर पड़ा और लड़केको घोड़ेपर बैठा दिया। जब वे दूसरे गाँवमें होकर निकले तो लोग कहने लगे—देखो यह लड़का कितना बुरा है कि स्वयं तो घोड़ेपर चढ़ा है और बेचारा बूढ़ा बाप पैदल चल रहा है। लोगोंकी बात सुनकर उन्होंने सोचा कि एक-एक बैठनेपर लोग भला बुरा कहते हैं, अतः दोनों ही जने क्यों न घोड़ेपर बैठ जावें। ऐसा सोच-कर वे दोनों उसपर सवार हो गये। जब वे तीसरे गाँवके भीतरसे निकले तो लोग बोले—देखो ये लोग कितने निर्दय हैं कि दोनों बेचारे घोड़ेपर सवार हैं। मालूम होता है कि यह घोड़ा माँगेका है। बाप बेटे लोगोंको यह बात सुनकर घोड़ेपरसे उतर पड़े, और घोड़ेकी लगाम हाथमें पकड़कर पैदल चलने लगे। जब वे आगे चौथे गाँवमें से होकर निकले तो लोग उन्हें देखकर बोले—देखो ये लोग कितने मूर्ख हैं कि घोड़ा साथमें है और आप दोनों पैदल चल रहे हैं। वे लोगोंकी बातें सुनकर बड़े दुःखी हुए और कहने लगे—देखो एक गाँव वालों के कहनेको किया, तो उसे दूसरे गाँव वालोंने बुरा बताया, दूसरे गाँव वालोंके अनुसार किया, तो उसे तीसरे गाँव वालोंने बुरा बतलाया, और जब उनके कहे अनुसार किया, तो उसे चौथे गाँव वालोंने बुरा बतलाया। दुनियामें सबको राजी रखनेका कोई उपाय नहीं है। जिन्हें जितना बड़ा परिवार मिलता है, जितनी अधिक देवांगनायें मिलती हैं, उन्हें सबको प्रसन्न रखने की उतनी ही अधिक आकुलता रहती है।

वैषयिक सुखोंकी सान्तता—यह वैषयिक सुख सान्त है और हमारा क्षायोपशमिक ज्ञान भी सान्त है। यही कारण है कि मन्दिरमें इतनी वीतराग चर्चा सुननेके बाद भी जहाँ लोग मन्दिरसे घर जाते हैं और घरमें प्रवेश करते हैं कि यहाँकी सभी चर्चा दिलसे उड़ जाती हैं और घरकी बातें दिमागमें भर जाती हैं। परिवारकी गन्दगी और बुराईको दूर करनेके लिए दो बातोंकी आवश्यकता है, सत्संगतिकी और शिक्षाकी। यदि आपका कुटुम्ब कुसंगसे दूर है और शिक्षित है, तो घरका वातावरण भी पवित्र बना रहता है और वहाँ धार्मिक संस्कार फलते-फूलते हैं। इसलिए कुटुम्बको धार्मिक बनानेके लिए उक्त दोनों बातोंपर पूरा ध्यान देना चाहिए। अन्यथा धर्म चर्चाके बिना वैषयिक चर्चासे आत्माकी हानि ही हानि है। वैषयिक सुख, सुख नहीं, दुःख ही है, क्योंकि वह उत्तरोत्तर तृष्णा और आकुलताका ही कारण

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

है। जरा एक स्त्रीसुखका ही विचार कर लें—जब मनुष्यके पुरुषवेदका तीव्र उदय या उदीरणा होती है, तब वह स्त्रीसेवनके लिए विवश होता है, तो पहला दुःख तो यही हुआ। फिर स्त्रीके साथ सम्भोग कर अपनी शारीरिक शक्तिको नष्ट कर जिन्दा ही मुर्दा जैसा शिथिल हो जाता है, यह दूसरा दुःख है और यदि इससे कोई रोगादि लग गया तो दुःखोंका फिर कोई पारावार ही नहीं है। फिर यदि गर्भ रह गया तो स्त्रीका रूप बिगड़ जाता, जब गर्भ बढ़ा तो अनेक शोच चिन्तायें घेर लेती हैं, उसके तो यही जाप बन जाता है कि सुखसे प्रसव हो जावे। क्योंकि इस समय तो कितनी ही मातायें व शिशु प्राणान्त हो जाते हैं। बालक हुआ तो मल मूत्र ढोनेका दुःख सहते हैं, बड़ा हुआ तो हठपूर्तिका दुःख सहते हैं, पुत्रविवाह होनेपर उसकी माता-पितासे दृष्टि कम हो जाती है और उसने धन कब्जेमें किया तो निर्धनताजन्य दुःख सहने पड़ते हैं। देखो भैया! एक स्त्रीपरिग्रहके स्वीकार करनेमें ही कितनी दुःखमय अवस्था आती है और ये तो स्थूलरूपसे कुछ दुःख कहे। दुःख तो निरन्तर बना रहता है जिसके मूलमें दुःख, मध्यमें दुःख और अन्तमें दुःख हैं वह भला सुख कैसे माना जा सकता है? आकुलता उत्पन्न हुए बिना विषयोंमें प्रवृत्ति नहीं होती। इसलिए विषयसुख केवल दुःखके प्रतीकाररूप ही हैं, उन्हें सुख नहीं माना जा सकता।

शुद्धोपयोगजनित सुखकी अनन्तता—शुद्धोपयोगजनित सुख स्वतन्त्र है, स्वाधीन है, अनैमित्तिक है अतएव अविनाशी है। जो वस्तु किसी निमित्तसे प्राप्त होती है, उसका संयोग सदा नहीं रहता। आत्माकी जो पर्यायें कर्मके क्षयोपशमादिसे उत्पन्न होती हैं, वे भी विनाशीक होती हैं। पर कर्मक्षयजनित दशाएं स्थायी होती हैं। कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होने वाले ज्ञान और सुख अनैमित्तिक ही हैं, इसलिए वे स्थायी रहते हैं, अनन्तकाल तक बने रहते हैं। प्रश्न—केवलज्ञानादिके उत्पन्न होनेमें ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय तो निमित्त है, फिर उन्हें अनैमित्तिक कैसे कहा? उत्तर—हाँ केवलज्ञानादिके उत्पन्न होनेके क्षणमें तो ज्ञानावरणादि कर्मोंके क्षयका निमित्त है, पर आगे उनसे स्थायी अनन्तकाल तक रहनेमें कोई निमित्त कारण नहीं है, इसलिए उन्हें अनैमित्तिक कहा है। कालद्रव्य तो साधारण निमित्त है, सर्वत्र है, उसकी विवक्षा नहीं, शुद्धोपयोगियोंका सुख अनैमित्तिक होनेसे ही अनन्तकाल तक रहता है। शुद्धोपयोग होनेपर अनन्त दुःखोंका अभाव होकर सहज सुख प्रकट होता है अतः वह भी अनंत है।

शुद्धोपयोगियोंके सुखकी अव्युच्छिन्नता—शुद्धोपयोगियोंका वह सुख अव्युच्छिन्न है, उसका कभी विच्छेद नहीं होता। नैरन्तर्यरूपसे प्रवर्तमान रहता है। क्योंकि उसका कारणभूत शुद्धभावका उपयोग है। प्रश्न—अनन्त और अव्युच्छिन्नमें क्या अन्तर है? उत्तर—जो आगामी कालमें सदा बना रहे, जिसका कभी अन्त न आवे, उसे अनन्त कहते हैं और जिसका प्रवाह निरन्तर एकसा प्रवाहित रहे, बीच-बीचमें हीनाधिक न हो, असाताका उदय न आवे,

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रवाहमें विच्छेद न पड़े, उसे अव्युच्छिन्न कहते हैं, यह दोनोंमें अन्तर है। दोनोंका सम्मिलित अर्थ है कि वह आत्मसुख निरंतर सदा बना रहता है। शुद्धोपयोगियोंका सुख अव्युच्छिन्न भी है और अनन्त भी है। सम्यक्त्वका द्रव्यदृष्टिरूप पाथेय मार्गमें सदा सहायक बना रहता है। यदि हम बाहर कहीं जावें और मार्गमें खानेके लिए कलेवा (मार्गका भोजन) साथ है, तो कहीं कोई आकुलता पैदा नहीं होती। इसी प्रकार यदि सम्यक्त्व साथमें है, तो उसके कभी कहीं कोई आकुलता उत्पन्न नहीं होती। पर निजमें लीन हुए बिना 'स्व' का ज्ञान कैसे होगा? जलके छुए बिना तैरना नहीं आ सकता। कोई चाहे कि मुझे पानीमें तो घुसना ही न पड़े और कोई बाहर खड़े-खड़े ही तैरना सिखा दे तो क्या यह सम्भव है? नहीं। तैरनेकी शिक्षा देने वाला बाहर रहकर कितना ही पढ़ा दे कि देखो पानीमें घुसकर ऐसे हाथ चलाना चाहिए ऐसे पैर चलाना चाहिए फिर भी उसे तैरना नहीं आ सकता। मास्टरसे तैरनेकी कोरी विद्या कितनी ही सीख ले, पर यदि जब कहीं नदी तालाबसे गहरे पानीमें कूदेगा तो नियमसे डूब जायगा। तैरना सीखनेके लिए पानीमें घुसना पड़ेगा, बिना जलमें प्रवेश किये तैरना नहीं आ सकता। इसी प्रकार कोरे आत्मज्ञानसे उपकार नहीं हो सकता। कोई भी संसारसे तब तक पार नहीं हो सकता जब तक कि ज्ञानको अमलमें न लाये, अर्थात् चारित्रको धारण न करे। निराकुल सुखकी प्राप्ति केवल सुखका मार्ग जान लेनेसे ही नहीं हो सकती, उसका अभ्यास करना ही पड़ेगा, तभी बेड़ा पार होगा।

इस प्रकार उपर्युक्त विशेषण-विशिष्ट सुख शुद्धोपयोगियोंके ही होता है। उस शुद्धोपयोगके प्राप्त होनेके पूर्व जितने भी सुख हैं, वे सब पराधीन हैं, वैषयिक हैं, सान्त हैं, विच्छेद और बाधासहित हैं, ऐसा जानकर हमें अपने परिणाम सदा स्वगुण-परिणमनमें ही लगाना चाहिए। हमारे कोई इच्छा न रहे, केवल इसी बातकी ही इच्छा हो और किसी बातकी इच्छा न हो, तभी वीतराग परिणति जागृत होती है और तभी आत्मामें शुद्धोपयोग प्रकट होता है। शुद्धोपयोगियोंका वह सुख इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके सुखसे भी बहुत ऊपर है, तीनों लोकोंके त्रिकालवर्ती सुखसे अत्युच्च है, अपूर्व है, अद्भुत है और परम आल्हाद स्वरूप होनेसे अतिशयवान है।

आत्मसमुत्थ सुख—वह सुख आत्मसमुत्थ है, अर्थात् रागादि विकल्पोंसे रहित जो निज शुद्धात्मा है, उसके अनुभवसे उत्पन्न होता है। हमें उसे प्राप्त करनेके लिए वैसी चेष्टा आवश्यकता है। खौलते हुए गर्म पानीके भीतर तो ठंडेपनका विश्वास है और इसलिए उसे ठंडा करनेको पंखा हिलाते हैं पर अशुद्ध पर्यायके भीतर शुद्धात्माका क्यों विश्वास नहीं है? जिन्होंने उन शुद्धोपयोगियोंके जैसा शुद्धोपयोगका विश्वास किया, अपनी पर्यायको निर्मल बनाया, वे ही उस सुखको प्राप्त हुए। किसी बाहरी वस्तुके भीतर खोज करनेसे सम्यक्त्व नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

मिलेगा, उसके लिए भीतर ही खोज करनी पड़ेगी। अपने मुखके सौन्दर्यको देखनेके लिए दर्पण देखते हैं, दर्पण देखनेके लिए दर्पण नहीं उठाया जाता। इसी प्रकार हम अपने रूपको देखनेके लिए अरहन्तोंका आधार खोजते हैं और वहाँ उसके आधारसे ही हम आत्मस्वरूपको प्राप्त कर पाते हैं। यह व्यवहारसे है, वस्तुतः स्वभावदृष्टिसे हम अपने आपको प्राप्त कर लेते हैं। हम जो पूजन करते हैं, वह या तो पिता आदि गुरु जनोंकी प्रेरणासे करते हैं या मेंढकके समान हमें भी स्वर्ग मिल जाय, इस भावनासे करते हैं। परन्तु ज्ञानी जीव आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए पूजन करता है। जिस मूलसे, जिसकी प्रेरणासे देव मिला उस ज्ञायकभावकी प्रेरणासे जो अन्तरङ्गमें विशुद्धिके प्रकर्षसे पूजा होती है, वह भावपूजा कहलाती है।

शुद्धोपयोगियोंके सुखकी अव्युच्छिन्नताका कारण—शुद्धोपयोगियोंका वह सुख विषयातीत है, अर्थात् निर्विषयक परमात्मतत्त्वके प्रत्यक्षीभूत जो पाँच इन्द्रियाँ हैं उनके जो स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शब्द स्वरूप विषय हैं, उनसे रहित हैं। पंचेन्द्रियज विषयसुख परद्रव्यमें रति मानने वालोंको ही प्रिय लगता है, पर जो आत्मतत्त्वमें निरत हैं, उन्हें वह दिव्य सुख प्रगट होता है, जिसके सामने संसारके सब सुख फीके पड़ जाते हैं और तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं तथा वह शुद्धोपयोगियोंका सुख अनुपम है, क्योंकि उस निरुपम परमानन्दैकलक्षण सुखको जिसकी उपमा दी जाय, ऐसा एक भी पदार्थ संसारमें नहीं है, वह संसारसे ऊँचेसे ऊँचे सुखसे भी अनन्त गुणित विशुद्ध परम आल्हाद स्वरूप है, अतएव उसे अनुपम कहा गया है। तथा वह शुद्धोपयोगियोंका सुख अनन्त है, क्योंकि वह प्रतिपक्षी चारित्र मोहकर्मके अभावसे सर्वथा क्षयसे उत्पन्न हुआ है, अतएव अब आगे कभी भी उसका विनाश नहीं होगा, अतः वह अनन्त है अथवा किसी भी ज्ञानसे उसको पाया नहीं जा सकता, अपरिमेय है, इसलिए भी उसे अनन्त कहते हैं तथा वह सुख अव्युच्छिन्न है। बीच-बीचमें विच्छेद या अन्तराल पड़नेको विच्छिन्न या व्युच्छिन्न कहते हैं। जब तक संसारावस्था रहती है, तब तक उनका सुख बीच-बीचमें असाता कर्मका उदय आ जानेसे व्युच्छिन्न होता रहता है। परन्तु जिनके शुद्धोपयोग प्रगट हो जाता है, उनके वेदनीय कर्मके निमित्तसे साता असाता कर्मके उदयसे होने वाला सान्तर या सविच्छेद सुख दूर हो जाता है और धाराप्रवाह प्रवाहित अनन्त सुख प्राप्त हो जाता है, अतः उसे अव्युच्छिन्न कहा है। इस प्रकार वीतराग परम सामायिक शब्द वाच्य शुद्धोपयोगका फल बताया गया।

शुद्धोपयोगी आत्माकी विशेषता—अथ शुद्धोपयोगपरिणतात्मस्वरूपं निरूपयति—अब शुद्धोपयोगमें परिणत आत्माके स्वरूपको भले प्रकारसे देखते हैं, अर्थात् कहते हैं। संस्कृत भाषा में जितनी भी धातुएं हैं और उनका साधारणतः जो अर्थ होता है, वह उपसर्गोंके योगसे विभिन्न एवं विशिष्ट हो जाता है। रूप धातुका अर्थ देखना है, निःशेषेण रूपयति निरूपयति

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

इस निरुक्तिके अनुसार अर्थ होता है कि निःशेषरूपसे देखते हैं, अर्थात् चारों ओरके उसे ठोक बजाकर, उसकी परीक्षा कर उसके स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं। साधारणतः 'निरूपयति, प्ररूपयति, कथयति, अभिष्टौति' आदि क्रियापदोंका अर्थ 'कहते हैं' इतना ही होता है, तथापि विभिन्न उपसर्गोंके योगसे उस कहनेमें कुछ विशिष्टता होती है, या क्या कहना अभीष्ट है, ऐसा ग्रन्थकारका भाव भी उसमें सन्निहित रहता है। जिस शुद्धोपयोगका फल अत्यन्त सुखमय है, उस शुद्धोपयोगमें परिणत आत्माको देखूँ तो कैसे है इस उत्सुकतासे उसे देखते हैं ऐसा जो आचार्यने कहा, सो यह स्वभावोक्ति है। लोकव्यवहारमें भी ऐसा ही कहा जाता है कि कौन मधुर गायन कर रहा है उसे हम देखते हैं। लोग जिन राष्ट्रीय नेताओंके बड़े-बड़े काम देखते सुनते हैं, उनके भी देखनेकी इच्छा होती है, चलो देखें तो सही कि अमुक कैसे हैं? इसी प्रकार ग्रन्थकार भी कहते हैं कि ऊपर जिन अनेक विशेषण विशिष्ट शुद्धोपयोगियोंके सुखका वर्णन किया गया, उन शुद्धोपयोगियोंको तो देखें कि वे कैसे हैं? इस प्रकार कितना ही रहस्य हृदयमें रख करके आचार्य आगेके गाथासूत्रको कहते हैं:—

सुविदिदपत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥१४॥

शुद्धोपयोगी श्रमण—जिसने जीवादि पदार्थोंको और उनके प्रतिपादक आगम सूत्रको 'सु' कहिए अच्छी तरह संशय, विपर्यासादिसे रहित भले प्रकार जान लिया है, जो संयम और तप संयुक्त है, विगतराग है और सुख दुःखमें समान है, ऐसा श्रमण शुद्धोपयोग कहा गया है। यहाँ शुद्धोपयोगी श्रमणके जितने विशेषण दिये गये हैं उनमें परस्पर कार्य कारण भाव है अर्थात् पूर्व-पूर्व विशेषण कारणरूप है और उत्तर-उत्तर विशेषण उसका कार्यरूप है। जो जीवादि पदार्थोंकी और आगम सूत्रको भले प्रकार जान लेगा वही संयम और तपसे संयुक्त हो सकता है, अन्य नहीं। जो वास्तविक संयम और तपसे संयुक्त होगा, वही विगतराग हो सकता है, अर्थात् रागद्वेषसे रहित वीतरागी बन सकता है। जो विगतराग हो जायगा, वही श्रमण सुख दुःखमें समान रह सकता है और जो सुख दुःखमें समान रहे वही समण-श्रमण या समस्वभावी साधु शुद्धोपयोगको प्राप्त करता है, अथवा इसे इस प्रकारसे भी कह सकते हैं कि जो उक्त विशेषणयुक्त श्रमण है, उसकी जो आत्मपरिणति है, वही शुद्धोपयोग कहलाता है।

शुद्धोपयोगीकी सुविदितपदार्थसूत्रता—शुद्धोपयोगी श्रमणका प्रथम विशेषण 'सुविदित-पदार्थसूत्रः' है। आगम सूत्रके अर्थके ज्ञानके बलसे स्वपरद्रव्यका भेदज्ञानी बनता है। जब तक वह सूत्रार्थका ज्ञाता नहीं बनेगा, तब तक साधु बनना बेकार है। सुकौशलके पिता कीर्तिधर राजाको देखो, यदि उन्होंने तत्त्वार्थको नहीं जाना होता, तो क्या संसारसे विरक्त हो सकते थे

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

और नवजात शिशु और जवान पत्नीको छोड़कर साधु बन सकते थे ? कभी नहीं। यदि उन्हें स्वपरविवेक जागृत न होता तो क्या वे राजमहलसे धक्के देकर निकाले जानेपर भी संयम और तपमें स्थिर रह सकते थे ? कभी नहीं। यदि अंजनाको यह विवेक हृदयमें प्रगट न होता, तो घरसे निकाली जानेपर वनमें जब उसे मुनिराजके दर्शन हुए और उसके जैसी भक्ति उमड़ी वह क्या कभी संभव थी ? नहीं। अनेक साधु कोल्हूमें पेल दिये गये, अनेक जीवित जला दिये गये, उन्हें यदि स्व-परका विवेक न होता, तो क्या वे अपने संयम तपमें स्थिर रह सकते थे ? कभी नहीं। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि संयम और तपको धारण करनेके पूर्व स्व-परका विवेक प्रगट होना आवश्यक है और उसकी प्राप्ति जीवादि पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको और आगम सूत्रको भले प्रकार जाने बिना हो नहीं सकती, इसलिए सर्वप्रथम साधु बनने वालेके लिए पदार्थोंका और आगमका अच्छी तरह अभ्यास करना चाहिए। साधु बननेकी यही पहली सीढ़ी है। ज्ञान वही ठीक माना गया है, जो स्व-पर द्रव्य का भेद ज्ञान कराये। डूबते पुरुषको पानीमें जो चीज दिखती है, वह उसीको पकड़ लेता है, उसीको सहारा मानता है। इसी प्रकार संसारसागरमें डूबने वाले मनुष्यको स्त्री, पुत्र, धन, प्रतिष्ठा आदि जो भी प्राप्त होता है, उसीको पकड़कर आर्त रौद्र ध्यान करके संसारमें डूब जाता है, परन्तु संसारसागरसे तिरनेकी कला जानने वाला व स्वभावरूपी निस्तरंग किनारा देख चुकने वाला जानता है कि भेदज्ञानका पाना ही सबसे बड़ा सहारा है, उस सहारेके बिना मोही संसारसागरमें गोता ही लगाता रहेगा।

ज्ञानीकी परिणति अपने बाह्य वेशपर नहीं रहती, उसकी दृष्टि सदा ज्ञायकभावपर ही रहती है, तथापि वह ब्रह्मचारी आदि है, तो उसके बाह्य आचरणमें कोई कमी नहीं होगी, फिर भी दृष्टि पर्यायपर नहीं होगी। यदि वह क्षुल्लक या साधु है, तो भी उसकी दृष्टि अपने क्षुल्लक या साधुपनपर नहीं होगी, फिर भी उसके क्षुल्लक या साधु सम्बन्धी किसी भी आचरणमें कोई कमी नहीं आयगी। बाह्य आचरण अन्तरङ्ग शुद्ध परिणतिके अनुसार स्वयं शुद्ध होता हुआ चला जाता है। इसका कारण यह है कि उसका लक्ष्य बहुत ऊंचा है। जिसका जितना ऊंचा लक्ष्य रहेगा, उसकी बाहरी परिणति उतनी ही अच्छी होगी। स्व-परद्रव्यके जाननेमें यही तो विशेषता है, खासियत है।

सम्यग्दृष्टि गृहस्थकी वृत्ति जाननेका एक दृष्टान्त—एक सेठजी बहुत धनी थे। जब मरने लगे तो उनके लड़केकी उम्र तीन वर्षकी थी और कोई आदमी घरको सम्हालने वाला था नहीं, अतएव वे पाँच पंचोंको ट्रस्टी बनाकर उन्हें बच्चेको सौंपकर स्वर्गवासी हो गये। ट्रस्टी लोग सेठजी के कारोबारको सम्हालने लगे और वह बच्चा अपनी माँके पास रहने लगा। एक दिन वह अपने मकानके आगे खेल रहा था कि एक नटनी उधरसे निकले, उनके कोई

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

सन्तान नहीं थी, इस सुन्दर बालकको देखकर मुग्ध हो गये, और उसे उठाकर अपने साथ ले गये। वे उसे बड़े प्यारसे पोषण करने लगे। बच्चा कुछ दिनोंमें अपने घर-बारको बिल्कुल भूल गया और नट-नटनीको ही अपने मां बाप समझने लगा। उनकी जायदादको ही अपनी जायदाद समझने लगा और नटोंके कार्योंको सीखने लगा। एक दिन वह अपनी नटकला दिखानेके लिए संयोगवश अपने ही नगरमें गया। एक ट्रस्टीने जो उसे देखा तो पहिचान लिया कि यह तो सेठका लड़का है, जो कि कुछ वर्ष पूर्व एकाएक गायब हो गया था। उसके पास जाकर कहा, भाई तुम तो इसी नगरके अमुक सेठके लड़के हो, तुम्हारी यहां बड़ी भारी जायदाद है, तुम कहां नटोंके खेल दिखाते फिर रहे हो? वह सुनकर कहता है, यह बिल्कुल झूठ है, मुझे बहकाना चाहते हो। ऐसा कहकर अपने खेल दिखाता हुआ आगे चलता है, तो वहां दूसरा ट्रस्टी मिलता है और पहले ट्रस्टीकी बातको दुहराता है। उसे विश्वास नहीं आता और पहले जैसा ही उत्तर देकर आगे चल देता है। वहां तीसरा ट्रस्टी मिलता है, और उसे देखकर दूसरे ट्रस्टी वाली बात दुहराता है। उसे भी वही उत्तर देकर आगे बढ़ता है, फिर चौथे ट्रस्टीसे वही बात होती है, वहांसे भी आगे बढ़नेपर पांचवें ट्रस्टीसे भेंट होती है और वह भी वही बात कहता है। लगातार पांच व्यक्तियोंसे विभिन्न स्थलोंपर सुनी बातपर वह विचार करता है कि ये लोग यदि बहका ही रहे होंगे तो भी देनेकी ही बात कहते हैं, लेनेकी नहीं, अतः एक बार तो इनकी बात मान ही लूँ, ये क्या कहते हैं? जाकर उस सरपंचसे कहा आपका कहना ठीक है, मैं अबकी बार आऊंगा और अपनी जायदाद सम्हाल लूंगा, अभी तो मुझे जाने दीजिए। लौटकर जब वह घर पहुंचा, तो मां के पैरोंसे चिपटकर और रोकर पूछने लगा कि मां बताओ मेरे असली मां बाप कौन हैं? नटनीको दया आ गई और यह सोचकर कि अब तो यह हमारे पाससे जा ही नहीं सकता है, सब घटना सच्ची-सच्ची कह दी। यथार्थ बातको जानकर, अपनेको करोड़पति मानकर और सेठका पुत्र भी समझकर वह यद्यपि अन्तरंगमें आनन्दविभोर हो रहा है, तथापि जब तक नट-नटनीके पास रह रहा है, तब तक उन्हें पूर्ववत् ही माता-पिता मानता है, खेत वगैरहकी उसी तरह रखवाली करता है और बाहरी व्यवहारमें कोई फर्क नहीं आने देता है, फिर भी अंतरङ्गमें वह उनसे उदासीन ही हो रहा है और वह उदासीनता दिनपर दिन बढ़ती जाती है। जिस दिन उसकी वह उदासीनता पूर्णरूपसे परिपक्व हो जायगी, उसी दिन वह उन्हें छोड़कर अपने करोड़ोंके वैभवको जाकर सम्हाल लेगा और अपने घरमें रहने लगेगा।

सम्यग्दृष्टि गृहस्थकी अन्तर्वृत्ति—ठीक यही बात सम्यग्दृष्टिकी है। उसे भी जब यह बोध हो जाता है कि ये स्त्री पुत्रादि मेरे सच्चे सम्बन्धी नहीं हैं, मार्ग चलते मुसाफिर हैं, तो वह अन्तरंगसे उदासीन तो अवश्य हो जाता है, परन्तु उसके बाह्य व्यवहारमें कोई फर्क नहीं

Report any errors at vikasnd@gmail.com

दिख पाता। वह आत्मज्ञानी गृहस्थ सम्यग्दर्शन होने के पूर्व जिस स्त्रीको वह बहुत प्यार करता था, उसे सम्यक्त्व होनेके पश्चात् वह विषकी बेल कहकर नहीं पुकारने लगता है, या स्वपूतको यमदूत नहीं कहने लगता है। घरबार को पर समझकर भी उनमें आग नहीं लगा देता है। सारीकी सारी व्यवस्था पूर्ववत् ही जारी रहती है, भेद केवल दृष्टिमें हो जाता है। जहाँ पहले उन सबमें ममत्वबुद्धि थी, रागभाव था, वह अब दूर हो जाता है और वह उन सबसे बाह्यमें पूर्ववत् व्यवहार करते हुए भी अन्तरंगमें विरक्त रहने लगता है। और उस दिनकी प्रतीक्षा करता है कि कब वह समुचित अवसर आवे और गृह-जंजाल छोड़कर अपने असली घरमें जाकर रहने लग जाऊँ। जब तक वह घरबार छोड़नेमें असमर्थ रहता है, तब तक घरके सब कुछ कार्य करते हुए भी उसकी दृष्टि निज वैभवपर ही रहती है। उसकी श्रद्धा शुद्ध रहती है, उसमें कोई कमी नहीं आने पाती। इसलिए पहले अपने आपको ठीक-ठीक समझ लो, पीछे घरबार छोड़नेका फैसला करो। मामलेको ठीक-ठीक समझे बिना फैसला करना ठीक नहीं। इस सर्व कथनीका सार यह है कि पहले अपने और परायेके भेदको अच्छी तरह जान लो, पीछे व्रत, तप, संयम धारण करो, यही निरापद, सनातन राजमार्ग है।

स्वपरविवेकपद्धति—प्रश्न—स्वपर द्रव्यके विभागका ज्ञान कैसे होता है ? उत्तर—मेरा आत्म स्वद्रव्य क्षेत्र, काल, भावसे है, पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावसे नहीं है। मेरा परिणमन मेरे आधीन है और परका परिणाम परके आधीन है। कोई द्रव्य मेरे आश्रित नहीं, और मैं किसीके आश्रित नहीं। मैं तो अखंड ज्ञानानन्द चैतन्यपिंड हूं, इस प्रकारके बोध प्रगट होनेसे स्व—पर द्रव्यका भेदविज्ञान प्रगट होता है। कौआके कोसनेसे गाय नहीं मरा करती। माँके चाहनेसे कोई बच्चा अमर नहीं रहता। किसीके भला बुरा सोचनेसे किसीका भला—बुरा नहीं होता। तुम्हारे संभले—बुरे परिणमनसे तुम्हारा भला—बुरा होगा और दूसरोंके भले—बुरे परिणमनसे दूसरोंका भला—बुरा, होगा, इस प्रकारकी बात तो लोकमें देखी ही जाती है। समस्त सत् अखंड व स्वतन्त्र है ऐसी जब श्रद्धा जग जावे, तब समझना चाहिए कि भेदविज्ञान प्रगट हो चुका है। स्वरूपास्तित्वकी दृष्टि शान्तिकी ओर ले जावेगी। दुर्लभ श्रेष्ठ मन पाकर निज हितका कार्य करो।

आत्मस्वभावका प्रकाश—प्रश्न—स्वद्रव्य क्या है ? और उसका निरपेक्ष स्वभाव भी क्या है ? इसे समयसारके एक कलशमें सुनिये—आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्त-विमुक्तमेकम् विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति। उपास्य साधु परमेष्ठी श्री अमृतचंद्रजी सूरिके इस कलशमें उक्त प्रश्नका उत्तम उत्तर है। स्वद्रव्यरूप आत्मस्वभाव परद्रव्योंसे भिन्न है, परद्रव्योंके भावोंसे भिन्न है और परद्रव्योंके निमित्तसे होने वाले विकारों

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

से भी भिन्न है। यहां तक कि कर्मोंके क्षयोपशमसे जनित मतिज्ञानादि भी मेरे स्वभाव नहीं हैं। ज्ञानावरणकर्मके क्षयसे उत्पन्न होने वाला केवलज्ञान भी मेरा स्वभाव नहीं है। स्वभाव सदा साथ रहता है, कभी उत्पन्न नहीं होता। केवलज्ञान तो किसी दिन उत्पन्न होता है और जो उत्पन्न होता है, वह पर्याय है, अतः केवलज्ञान भी पर्याय ही है, पर्याय मेरा स्वरूप कैसे हो सकती है? फिर मेरा क्या स्वभाव है? जो ज्ञायकभाव सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीवोंमें था और जो क्रमशः विकसित होने वाली विविध पर्यायोंमें भी था, अब भी है और आगे भी रहेगा, वही सर्वपर्यायोंमें अनुगत रूपसे रहने वाला ज्ञायक भाव मेरा स्वभाव है। उसपर दृष्टि दृढ़ होनेसे पर्यायमें भी समता, एकता, निर्मलता आती है। उस निर्मलताके साथ उत्पन्न होने वाला वह केवलज्ञान भी उसीमें घुल-मिल जाता है तब वह आदि-अन्तसे विमुक्त एक आ + समन्तात् परिपूर्ण रूपको धारण कर लेता है, वह दशा सर्व संकल्प-विकल्पोंके जालसे विमुक्त होती है, वह दशा जिसके अनुरूप हुई तथा अनादि अनन्त जो एक मत है वही स्वद्रव्य है, जो कि वचनोंके अगोचर है। यह मेरा मेरे लिये स्वद्रव्य है व परके लिये यह मैं परद्रव्य हूं, मेरे लिये पर परद्रव्य है। प्रश्न—संकल्प-विकल्प किसे कहते हैं जिससे मुक्त होनेपर आत्मस्वभावका अनुभव होता है? उत्तर—द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्गल द्रव्योंमें अपनी कल्पना करने को संकल्प कहते हैं और ज्ञेय पदार्थोंके भेदसे ज्ञानमें भेद मालूम करनेको विकल्प कहते हैं व हर्ष विषादादि परिणामोंको विकल्प कहते हैं। ऐसे उक्त संकल्प-विकल्पोंसे मुक्त दशाओंको प्राप्त करनेके लिए हमें पहले प्रत्यक्ष भिन्न दिखाई देने वाले महल-मकान, धन-धान्य, स्त्री पुत्रादिसे ममत्व छोड़ना पड़ेगा, फिर रागादि भावोंसे भी जो कि अंतरंग स्वभावगत जैसे हो रहे हैं—ममत्व बुद्धि हटाना पड़ेगी। जिनके वैराग्यभाव होता है, उनके भाव क्या ऐसे होते हैं कि स्त्री नरककी खान है, पुत्र पिता पातालमें ले जाने वाले हैं? नहीं, ऐसे भाव नहीं होते? किन्तु यही भाव होते हैं कि मेरा रागभाव ही मेरा घातक है, उसे छोड़ना चाहिये। संसारमें कौन अमर रहा है, सभी आकर और अपनी करामात दिखाकर चले गये हैं, फिर है आत्मन्, तू किससे राग करके अपनेको अमर समझ रहा है? और अपनेको बड़ी करामात वाला मान रहा है। दुनियामें देखो, सैंकड़ों आये चले गये सब अपनी करामात दिखाये चले गये।

निजबोधसे ही निष्कलङ्कताका आविर्भाव—यदि संसारकी ऐसी विषम स्थितिको देखकर भी तुम्हारा घर-बारमें राग बन रहा है, तो अपना दुर्भाग्य ही समझना चाहिये। भाग्यमात्र ही अहित है। लोग हंसने वालोंको भाग्यशाली पुण्यात्मा समझते हैं और रोने वालोंको पापी समझते हैं। पर यह भारी भूल है, जिनके उदयसे मनुष्य हंसते और रोते हैं, वे हास्य और शोक—ये दोनों प्रकृतियां मोहकर्मकी हैं, जो कि पाप प्रकृतियोंमें परिगणित हैं।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

फिर रोने वाला ही पापी क्यों और हंसने वाला पापी क्यों नहीं ? बल्कि अधिक संभव यह है कि रोने वाला कम पापी हो और हंसने वाला अधिक पापी हो। रोने वालेके आर्तध्यान होता है और हंसने वालेके रौद्रध्यान होता है, जो ऊंचे गुणस्थान तक होता है, वह कम पाप है और जो नीचे स्थान तक होता है, वह बड़ा पाप है। इसलिए रोने वालेको ही पापी मत समझो, हंसने वाले उससे बढ़कर पापी हो सकते हैं। निष्कलंकता तो केवल स्वभावमें है, जिसके यह विवेक हो जाता है, वही स्वमें लीन हो सकता है, वही उस विधान करनेमें समर्थ होता है। शुद्धोपयोग चाहने वालोंके लिए आवश्यक है कि वह सर्वप्रथम ज्ञानाभ्यास करे, ज्ञान कहिये निजस्वभाव उसका मनन करे। प्रश्न—शिवभूति मुनिको तो कुछ ज्ञान नहीं था, फिर वे मुनि कैसे बन गये ? इस गाथामें तो यह कहा जा रहा है कि पहिले सुविदित पदार्थ सूत्र होना चाहिये। उत्तर—उन्हें तुष माषके भिन्न देखनेसे भेदज्ञान हो ही गया था, और फिर उनकी चारों कषाय बिल्कुल शान्त थीं, जो कि भेदविज्ञानके हुए बिना सम्भव नहीं, इसलिए यह मानना चाहिए कि उन्हें साधु बनने योग्य ज्ञान तो था ही।

आत्मज्ञानसे सन्मार्गकी स्वयं समझ—कुछ लोग कहते देखे जाते हैं कि हमारा गुस्सा तो ऊपरी है, पर यह उनका कथन झूठ है। यदि मनमें कषाय न होती, तो ऊपर गुस्सा आता ही क्यों ? संस्कारके बिना कोई बात नहीं होती। जिसके भेदविज्ञान होता है उसके चारों कषायें एक साथ बन्द हो जाती हैं। जो यह समझते हैं कि इनके तो केवल एक क्रोध कषाय ही है, शेष तीन नहीं हैं, उनका कथन असत्य है। केवल नवें गुणस्थानको छोड़कर उसके पूर्व ऐसा कोई समय नहीं, जब कि चारों कषायोंका अस्तित्व न रहता हो और उस ही जातिका। हाँ, यह बात दूसरी है कि उदय एक समय एकका ही होता है और उसके भ्रमसे ही लोग उक्त बात कह देते हों। कुछ लोगोंकी क्रोधमुखी प्रवृत्ति होती है, तो कुछकी मनमुखी, कुछकी मायामुखी प्रवृत्ति होती है तो कुछकी लोभभरी। पर उनका यह समझना भूल है कि मेरे तो एक ही कषाय है, शेष नहीं। जब जिस जातिकी कषायें मन्द होती हैं तो चारों कषायें मन्द होती हैं। कषायोंकी वास्तविक ढंगकी मंदता भेदविज्ञानके कारणसे होगी। स्वपरका भेदज्ञान कल्याणमन्दिरका प्रथम सोपान है। कोई सोचे कि मैं तो व्रतादि कुछ नहीं जानता, सो इससे घबड़ानेकी कोई जरूरत नहीं है। मोहको जीत लेनेपर सारी समझ खुद आ जाती है कि मुझे क्या और कैसे करना है ? व्रत तप आदिके आचरणका ज्ञान स्वयं हो जाता है और उसपर वह स्वयं चलने भी लगता है। मोहको निकालो, भीतरके मिथ्यात्वको छोड़े बिना कोई काम नहीं होगा, कितने ही भाई कहते हैं कि क्या करें सामायिकमें बैठते हैं तो बीसों ध्यान सताने लगते हैं। भैया ! तुम्हारा घर-गृहस्थीके जिस पदार्थमें राग हो, उसे सामने रखकर सामायिक करो, उसके विषयमें जितने विचार हों, उनपर ऊहापोह करते जाओ। घबरानेकी कोई जरूरत

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

नहीं है जिस चाहेको सोचो, किन्तु सच्चे स्वरूपसे सोचो। अकेलेका मन बिना आलम्बनके लगता नहीं है, यदि यह शिकायत है तो सत्संगमें अधिक समय बितावो और देखो गृहस्थीको तो तत्त्वचिंतनके लिए घरमें ही स्त्री पुत्रादि अनेक आलम्बन मौजूद हैं, जिनके आधारसे सत्य-स्वरूप सोच सोच भेदज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। यदि एक बार भी भेद ज्ञान प्राप्त कर लिया तो २-३ भवमें ही बेड़ा पार हो जायेगा। मोटर रोकनेके यंत्रको न पकड़कर उसके पहियेको पकड़नेसे मोटर नहीं रुकेगी. इसी प्रकार मोह दूर करनेका उपाय भेदविज्ञान प्राप्त करना है तो उसे न पकड़कर व्रत, तपादिक रूप पहियेको पकड़नेसे मोहचक्रका परिभ्रमण न रुक सकेगा। अतः उसे प्राप्त करनेका प्रयत्न करो। उसकी दृष्टि ही प्राप्तिका उपाय है।

शुद्धोपयोगी श्रमणकी संयमतपोयुक्तता—शुद्धात्माओंका स्वरूप देखते हुए शुद्धोपयोग का निरूपण किया जा रहा है। यह निरूपण ही नहीं, बल्कि धार्मिक आदेश है। जो बड़े आदमी होते हैं, वे बड़े कोमल और प्रिय शब्दोंमें आदेश देते हैं कि किसीका जीव दुःख न पावे। पर हम इसे समझते नहीं हैं। शुद्धोपयोगी श्रमणको जो विशेषण दिये गये हैं उनमें प्रथम विशेषण 'सुविदितपदार्थसूत्र' का अर्थ कहा जा चुका है, अब दूसरे विशेषणका अर्थ किया जाता है। वह शुद्धोपयोगी श्रमण संयम और तपसे संयुक्त होता है। सम् अर्थात् सम्यक् प्रकारसे शुभ स्वरूपमें यम माने जमना, स्थिर होना सो संयम कहलाता है। संयमके दो भेद हैं—प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयम। पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक—इन छह कायिक जीवोंकी हिंसाके विकल्पसे दूर होकर शुद्ध रूपमें अवस्थित होनेको प्राणिसंयम कहते हैं। प्राणिसंयमका यह कितना सुन्दर अर्थ है कि छठे गुणस्थानसे लेकर ऊपरके सर्व गुणस्थानोंमें घटित होता है। यदि कोई ध्यानस्थ है, उप-शम श्रेणी या क्षपक श्रेणीपर उपस्थित है, तो उनमें भी उक्त लक्षण घटित हो जाता है, क्योंकि वे सभी जीव हिंसाके विकल्पोंसे रहित हैं। पंचेन्द्रियोंके विषयोंकी अभिलाषाके विकल्प से दूर होकर शुद्ध स्वरूपमें जम जानेको इन्द्रियसंयम कहते हैं। इन्द्रियसंयमका यह लक्षण भी सभी संयमियोंके भीतर घटित होता है। साधारणतः लोग छह कायके जीवोंकी रक्षा करनेको प्राणिसंयम कहते हैं। पर यह लक्षण केवल छठे गुणस्थानवर्ती साधुके ही घटित होगा, ध्यानस्थ साधुओंके लिये नहीं, क्योंकि उस समय तो वे किसी जीवकी रक्षा नहीं कर रहे हैं। व्यवहारमें किसीके द्वारा पीड़ित प्राणीकी जान बचानेको जीवरक्षा कहा जाता है। सो यह लक्षण ध्यानस्थ शुद्धोपयोगियोंके नहीं घटित होता है। अतएव अध्यात्मशास्त्रमें किया गया उक्त लक्षण निर्दोष एवं सम्पूर्ण समझना चाहिये। यही बात इन्द्रियसंयमके बारेमें है। लोग समझते हैं कि मैं अमुक चीज नहीं खाऊंगा, यह इन्द्रियसंयम है, पर उनका यह कथन भी भ्रममूलक है, क्योंकि वह सबमें घटित नहीं होता। ऊपर जो लक्षण किये गये हैं, वे ही

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

यथार्थ लक्षण हैं, क्योंकि वे सर्व संयमियोंमें घटित होते हैं। संयम वह चीज है कि जिसकी प्राप्ति होते ही, जिसमें संयम होते ही विकल्प स्वयं दूर हो जाते हैं और जो वस्तु हमें प्राप्त करना चाहिए, वह स्वयं प्राप्त हो जाती है। जब तक उपर्युक्त शुद्ध दशा प्रकट नहीं होती, जब तक आचार्योंने निम्नदशामें 'असुहादो विणिवित्ती सुहे पवित्ती य जाण चारित्तं' यह चारित्रका लक्षण कहा है अर्थात् अशुभ कार्योंसे विनिवृत्त होना और शुभ कार्योंमें प्रवृत्ति करना चारित्र कहलाता है। यहाँ अशुभ निवृत्तिका तथ्य मतलब हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप पाप कार्योंसे निवृत्त होनेका है।

षट्कायके परिचयमें पृथ्वी जल अग्नि वायुका वर्णन—छह कायके जीवोंके घात करनेके परिणाम उत्पन्न होनेको हिंसा कहते हैं। त्रैलोक्यके सर्व प्राणी छह कायमें आ जाते हैं। पृथ्वी ही जिनका शरीर हो, ऐसे जीवोंको पृथ्वीकायिक कहते हैं। जमीन, पाषाण, हीरा, पन्ना, माणिक आदि तथा खानिसे निकलने वाली गेरू हिरमजी मुलतानी मिट्टी आदि पदार्थ जब तक खानके भीतर रहते हैं, या अपने उत्पत्तिस्थानसे अलग नहीं होते हैं, तब तक उनमें जीव रहता है और वे पृथ्वीकायिक कहलाते हैं। पृथ्वीकायिक जीवोंके ३६ भेद बताये गये हैं, जो कि इस प्रकार हैं—मिट्टी, बालु, रेती, पत्थर, शिला, नमक, लोहा, तांबा, जस्त, सीसा, सोना, चाँदी, हीरा, हरताल, हिंगुल, मनसिल, अंजन, सुरमा, मूंगा, अभ्रक, किरोलक गोमेद, रुचकाङ्क, स्फटिक, लोहिताक्ष, वैडूर्य, चन्द्रकान्तमणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, गेरु आदि। ये सब यतः पृथ्वीसे ही उत्पन्न होते हैं, अतः उन्हें पृथ्वीकायिक माना है। ये जब तक खानमें या अपने उत्पत्ति स्थानमें रहते हैं, तब तक वे बढ़ते रहते हैं जीव हैं और जब ये बाहर निकाल लिये जाते हैं तब वे जीवरहित हो जाते हैं, जल ही जिनका शरीर हो ऐसे जीवोंको जलकायिक जीव कहते हैं। नदी, कुंआ वगैरहके पानीको जल कहते हैं। ओस बिन्दु, हिमबिन्दु, बर्फ, ओला, कांकड़ा आदि अनेक जातिके जलकायिक जीव होते हैं। आगही जिनका शरीर हो, उन्हें अग्निकायिक जीव कहते हैं। ज्वाला लकड़ीकी अग्नि, अंगार कंडेकी अग्नि, बिजलीकी अग्नि, कोयलेकी अग्नि, उल्का, गाज आदिके रूपसे अग्निकायिक जीवोंके भी अनेक भेद होते हैं। रात्रिमें जो हम तारे टूटते हुए देखते हैं, वह भी एक जातिकी अग्नि ही है, किसी तारा, नक्षत्र आदिका कोई टूटा हुआ अंश नहीं है। वर्षा ऋतुमें जो रातमें बिजली चमकती है, वह भी एक जातिकी अग्नि है। हवा, पवन ही जिसका शरीर है, ऐसे जीवोंको वायुकायिक जीव कहते हैं। उसके घनवात, घनोदधिवात, तनुवात, गुञ्जावात (गूंजने वाली या जोरसे चलने वाली हवा) मण्डलिवात (मंडलाकार घूमने वाली हवा) उत्कलिकावात (नीचेसे ऊपरको उड़ने वाली हवा) आदि अनेक भेद हैं।

वनस्पतिकायका वर्णन—बनस्पति ही जिनका शरीर हो, ऐसे जीवोंको वनस्पति-

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कायिक जीव कहते हैं। वनस्पतिके दो भेद हैं—साधारण और प्रत्येकवनस्पति। जिन एकेन्द्रिय अनंत जीवोंका एक साथ जन्म हो, एक साथ मरण हो, एक साथ श्वासोच्छ्वास लें और एक साथ आहार ग्रहण करें, ऐसे निगोदिया जीवोंको साधारणवनस्पति कहते हैं। साधारणवनस्पतिके दो भेद हैं—सूक्ष्मनिगोद और वादरनिगोद। वादरनिगोद तो किसीके आधारसे रहती है, पर सूक्ष्मनिगोद किसी भी आधारसे नहीं रहती है, वह त्रैलोक्यमें सर्वत्र ठसाठस भरी हुई है। जिस एक वनस्पति शरीरका स्वामी एक जीव हो, उसे प्रत्येकवनस्पति कहते हैं। उसके भी दो भेद हैं—सप्रतिष्ठित प्रत्येक और अप्रतिष्ठित प्रत्येक। जिस प्रत्येकवनस्पतिके आधार अनेक साधारणवादर वनस्पतिकायिक (वादरनिगोद) जीव रहें, उसे सप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति कहते हैं। जैसे जमींकन्द, आलू, रतालू, लहसन, प्याज, अरवी, अदरक हल्दी कच्ची समभंग टूटने वाली तोरई, ककड़ी पालग आदि। जिस वनस्पतिके आश्रय वादरनिगोदिया साधारण वनस्पतिकायिक जीव न रहें, उसे अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति कहते हैं, जैसे आम, इमली, नीम, बबूल आदिके वृक्ष। इन वृक्षोंके भी जड़, छाल, कोंपल आदि जिस अंगका सम भंग हो जाय, उसके भी आश्रित वादर निगोद रहती है। पर उसकी विवक्षा न करके बहुभागके वादरनिगोदविहीन रहनेसे नीम, बबूल आदिके वृक्षोंको अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पति कह दिया जाता है। वस्तुतः जो अंश निगोदसहित है वह सप्रतिष्ठित है। आम आदि फल भी अप्रतिष्ठित प्रत्येकवनस्पति हैं।

त्रसकायका वर्णन—त्रस जीव साधारणतः चलने-फिरने वाले द्वीन्द्रियादि जीवोंको कहते हैं। त्रसजीव चार प्रकारके होते हैं—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय जीव। जिनके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ पाई जायें उन्हें द्वीन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे लट, केंचुआ, जोंक, शङ्ख, कौड़ी आदि। जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियाँ पाई जायें, उन्हें त्रीन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे चीटी, चींटा, खटमल, बिच्छू, जूँ वगैरह। स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु— ये चार इन्द्रियाँ जिनके पाई जायें उन्हें चतुरिन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे भौंरा, बर्रं, मक्खी, मच्छर, टिड्डी वगैरह। जिनके स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँचों इन्द्रियां पाई जावें, उन्हें पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। जैसे देव, मनुष्य नारकी और गाय, बैल वगैरह। पंचेन्द्रियोंमें देव, मनुष्य और नरक गतिके जीव तो संज्ञी अर्थात् मनसहित ही होते हैं, किन्तु तिर्यंचगतिके जीव संज्ञी और असंज्ञी अर्थात् मनसहित व मन-रहित दोनों प्रकारके होते हैं। साँप सैनी होते हैं, पर जलमें रहने वालोंमें से कोई कोई असैनी होते हैं। मछलियों और मेंढकोंमें भी कोई-कोई असैनी होते हैं। तोतोंमें भी कोई कोई असैनी होता है। मनुष्य, देव, नारकी भी त्रसजीव हैं, ये सब सैनी ही होते हैं।

भोले अजानकार श्रोता—हम लोग वर्षोंसे शास्त्र सुनते आ रहे हैं और अनेक बार

Report any errors at vikasnd@gmail.com

उक्त पाँचों इन्द्रियोंके जीवोंकी चर्चा भी सुनी, मगर अनेकोंको अभी तक भी इन जीवोंका भेद ज्ञात नहीं है। एक किंवदन्ती की बात है कि एक साधु शास्त्र पढ़ रहे थे और पाँचों जातिके जीवोंका वर्णन कर रहे थे। जब वे शास्त्र पढ़ चुके, तब उन्होंने एक श्रोतासे पूछा कि पंचेन्द्रिय जीव कौन है ? तो उसने झट उत्तर दिया कि हाथी, क्योंकि उसके चार पांव और एक सूंड ये पाँच इन्द्रियाँ होती हैं। जब फिर उससे पूछा गया कि चौइन्द्री जीव कौन है, तो बोला कि बैल, घोड़ा आदि, क्योंकि उनके चार पैर होते हैं। जब तीन इन्द्री जीवको पूछा गया, तो तीन पाये वाली तिपाईको बताया। दोइन्द्री जीवके बाबत पूछने पर बोला कि हम दोइन्द्रिय जीव हैं, क्योंकि एक इन्द्रिय हमारी हम हैं और एक इन्द्रिय हमारी स्त्री है। हम घरमें दो ही आदमी हैं इसलिये हम दोइन्द्रिय हैं। जब एकेन्द्रीके बाबत पूछा गया तो बोला महाराज आप एकेन्द्री जीव हैं, क्योंकि आपके स्त्री नहीं है, अकेले ही हैं। उसके इन उत्तरों को सुनकर अनेक श्रोता हंस पड़े। यह किस्सा तो अन्यत्रका है, पर यदि हम यहाँ भी ऐसा ही कोई प्रश्न कर बैठें—तो संभव है कुछ अनेकोंको उत्तर देना कठिन हो जायगा।

हितार्थ दुर्लभ अवसरके सदुपयोगका अनुरोध—भाइयो ! यह पर्याय अन्य पर्यायोंकी अपेक्षा बहुत दुर्लभ है, इस बातका भी ज्ञान यदि हमें नहीं हुआ, तो इससे बढ़कर और दुःख की क्या बात हो सकती है ? हम लोग निगोदसे निकलकर पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय पंच स्थावरों में पैदा हुए, फिर विकास करते हुए द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रियोंमें उत्पन्न होकर पंचेन्द्रियोंमें उत्पन्न हुए, उत्तम मन भी पाया, मनुष्य भी हुए, उच्च कुल नीरोगता जैनधर्म आदि उत्तरोत्तर अति दुर्लभ भी चीजें पाईं, फिर भी हमें यदि स्वका बोध नहीं हुआ, अब भी नहीं चेते, तो फिर क्या होगा ? मनुष्यभव पानेका अवसर बार-बार नहीं आता। इसलिए हमें इसके एक-एक क्षणकी कीमत करना चाहिए और जितने जल्दी हो अपने हितमें लगना चाहिए। निज चैतन्य भगवानके आशीर्वादसे हम नीचेसे उठकर ऊपर चढ़े हैं। अब यदि हम इसपर जिसकी कृपासे इतने ऊंचे पदको प्राप्त किया है, हमला कर बैठें, तो फिर यह निगोद जानेका आशीर्वाद दे देगा। जहाँसे आये वहीं पहुंचा देगा।

आत्मप्रभुपर अन्यायके परिणामपर दृष्टान्त—एक साधुकी कथा है कि एक चूहा उनकी लंगोटीको काट जाया करे, उन्होंने तंग आकर उसे एक पिंजरेमें पाल लिया और रोटी खानेको देने लगे। धीरे-धीरे वह पालतू हो गया और कपड़ा काटना छोड़ दिया। वह साधुके आस-पास खेलने लगा। एक दिन एक बिल्ली उस चूहेको खानेके लिये झपटी, तो वह साधुकी ओर भागा, साधुने उसे बचानेके लिए आशीर्वाद दिया कि 'विडालो भव' अर्थात् बिल्ली हो जा। वह बिल्ली बन गया, उसे बिल्लीका भय नहीं रहा। एक दिन एक कुत्ता कहींसे आ निकला और उस बिल्लीपर झपटा, उसके बचानेके लिए साधुने आशीर्वाद दिया कि 'श्वा भव'

Version 1

 http://sahjanandvarnishastra.org/

अर्थात् कुत्ता हो जा, और वह कुत्ता हो गया, दूसरे कुत्तेका डर जाता रहा। एक दिन वह कहीं जंगलमें जा रहा था कि एक व्याघ्र उसपर झपटा और वह भागा हुआ साधुके पास आया। उसने उसको आशीर्वाद दिया कि 'व्याघ्रो भव' व्याघ्र हो जा, वह नाहर हो गया और नाहरका भय जाता रहा। एक दिन वह जंगलमें घूम रहा था कि एक सिंह उधर आ निकला और उसपर झपटा। वह साधुके पास भागा आया। साधुने उसे आशीर्वाद दिया कि 'सिंहो भव' वह सिंह बन गया और निर्भय विचरने लगा। एक दिन उसकी नीयत साधुको खानेकी हो गई क्योंकि भूख बड़े जोरसे लग रही थी। वह ज्यों ही साधुको खानेके लिए झपटा कि साधु उसका भाव ताड़ गये और फौरन आशीर्वाद दिया कि 'पूनर्मूषको भव' अर्थात् फिर चूहा हो जा। साधुका आशीर्वाद पाते ही वह फौरन चूहाका चूहा हो गया और सारी आशाओं पर पानी फिर गया। भैया! जिस चेतन भावकी कृपासे इस उच्च पर्यायको पाया है, उसे पाकर और रागादि विकारोंमें पड़कर चेतन भगवानके ही घातका विचार मत करो, अन्यथा फिर हमें निगोदमें जाना पड़ेगा। निज चैतन्य गुरुपर हमलाका भाव रखनेपर इसका यही आशीर्वाद हो पड़ेगा कि पुनर्निगोदो भव अर्थात् फिर निगोद बन जा।

मिथ्या अध्यवसाय—मैं प्राणीको मारूं, या मार सकता हूं यह विकल्प, जैसे मिथ्यात्व है, उसी प्रकार मैं इसकी रक्षा करूं, या रक्षा कर सकता हूं यह विकल्प भी मिथ्यात्व है। इसीलिए आचार्यने 'प्राणीकी रक्षा करना संयम है' ऐसा लक्षण न करके मारने या रक्षा करने आदिके सर्व विकल्पोंसे दूर होकर शुद्ध आत्मस्वरूपमें ठहरनेको संयम कहा है। शुद्धोपयोगीकी आत्मा कैसी है, इस प्रकरणमें उक्त बात कही है। बार-बार शुद्धोपयोगकी चर्चा करनेसे हमारे भीतर भी शुद्धोपयोगकी परिणति जागृत होनेको होती है। जैसे निरन्तर संगीत सुनने वाले श्रोताओंके भीतर संगीतका रहस्य अंकित हो जाता है और वे संगीतके समय अपने अंगोपांग मटकाने लगते हैं, उसी प्रकार गुणी जनोंकी निरन्तर कथा सुनते रहनेसे हममें गुण भी पैदा होने लगते हैं। इसी प्रकार शुद्धोपयोगीके स्वरूपके ध्यानसे अनुपम प्रमोद होता है, ऐसे ही शुद्ध लक्षी वितर्क शुभोपयोग हैं। आत्मा किसी भी परिस्थितिमें, बाह्य साधनोंमें रहे, वह योग-उपयोगका ही कर्ता रह सकता है। उनमें योगसे तो आत्माको सुख-दुःखादिका अनुभव होता नहीं, इसलिए उससे आत्माका कोई सुधार बिगाड़ नहीं है। सुधार-बिगाड़के अन्तरङ्ग कारणका योग सहकारीमात्र होता है, इसीलिए आचार्योंने विकल्पकी अपेक्षासे ही आत्माको कर्ता कहा है। समयसारमें कहा है:—विकल्पकः परं कर्ता, विकल्पः कर्म केवलम्। न जातु कर्तृ-कर्मत्वं सविकल्पस्य नश्यति॥ अर्थात् केवल विकल्प करने वालेको कर्ता कहा गया है और विकल्प केवल उसका कर्म है। जब तक यह विकल्प करता रहेगा, तब तक कर्तृत्व और कर्मत्वकी बुद्धि नष्ट नहीं हो सकती, और जब तक यह बुद्धि है, तभी तक संसार है और

Report any errors at vikasnd@gmail.com

महान् क्लेश हैं।

देखो भैया ! यहाँ द्रव्यहिंसा या बाह्य जीव घातादिको पाप नहीं कहा है, किन्तु उसका मूलभूत जो अन्तरंगका कलुषित विकल्प है, जिसकी प्रेरणासे द्रव्यहिंसा हुई, वह विकल्प पाप कहा गया है। इस कथनसे यह निष्कर्ष निकला कि यदि अन्तरंगमें हिंसा है, या हिंसा के भाव हैं, तो बाह्य हिंसा हिंसा है वह अन्तरंगघात अपने ही दोषसे हो रहा है और उसकी निवृत्ति भी अपने ही गुणसे होगी। समयसारमें कहा है--मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहि तंचेव झाहि तं चेव। तत्थेव विहर णिच्चं मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥४१२॥ आसंसारात्परद्रव्ये रागद्वेषादौ नित्यमेव स्वप्रज्ञादोषेणावतिष्ठमानमपि स्वप्रज्ञागुणेनैव ततो व्यावर्त्य दर्शनज्ञानचारित्रेषु नित्यमेवास्थापय निश्चलमात्मानम्। अर्थात् अनादि कालसे अपनी बुद्धिके दोषसे ही परद्रव्य राग-द्वेषादिमें ठहरे हुए अपने आपको जो कि स्वरूपसे निश्चल है अपनी बुद्धिके गुणसे ही दोषोसे निकालकर दर्शन, ज्ञान, चरित्रमें निश्चलरूपसे ठहराओ। प्रश्न—यदि हम लोग इसी ज्ञान-चारित्रमें ही ठहरे रहें तो दुकानदारी या दुनियादारीके काम कैसे चलेंगे ? उत्तर—आपमें स्वयं विकल्प होते हैं, उससे आप दुःखी हैं। मैं करने वाला हूं, यह बुद्धि ही घातक है, बाह्य कार्यको हम क्या कर सकते हैं ? उसके आश्रयसे केवल विकल्प ही उठते रहेंगे। ज्ञान–चारित्र में स्थिर रहने वालोंके यदि कदाचित् गृहस्थी है तो दुनियादारीके कार्य स्वयं ही चला करते हैं, सब निमित्त-नैमित्तिकभावका फल है।

भावकी संभालमें अहिंसकता—अभी शुद्धोपयोग परिणत आत्माओंमें हिंसामात्रसे दूर होनेकी बात कही थी। कोई चाहे कि बाह्य हिंसासे दूर रहकर अहिंसक बन जाऊं, सो सम्भव नहीं, क्योंकि हमारे सारे शरीरमें वादर-निगोद एवं अन्य अनेक प्रकारके जर्म्स भरे हुए हैं, वे हमारे उठते-बैठते, चलते फिरते या सोते आदिके समय अवश्य मरते हैं, फिर हिंसा कहाँ दूर हुई ? फिर बताओ मोक्षमार्ग कैसे चले ? सारा संसार जीवोंसे भरा पड़ा है, हमारे चलने फिरनेसे यहाँ तक कि सांस लेने तकसे भी जीवोंका घात निरन्तर होता रहता है, भैया ! फिर बताओ हम हिंसासे कैसे बचें ? इस प्रश्नको आगममें इस प्रकार पूछा गया है कि जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च। जन्तुमालाकुले लोके क्व चरन् कोप्यमोक्ष्यत ॥ अर्थात् जलमें जीव हैं, स्थलमें जीव हैं, आकाशमें जीव भरे हैं, सारा लोक ही जन्तुओंकी मालाओं-श्रेणियोंसे संकुलित है, फिर साधु कहाँ चले, कहाँ उठे बैठे और कैसे मोक्ष प्राप्त करे ? इस प्रश्नका उत्तर यही दिया गया है कि विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन्कोऽप्यमोक्ष्यत। भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम् ॥ अर्थात् बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था यदि एकमात्र भावोंपर अवलंबित नहीं होती, तो फिर जीवोंसे खचाखच भरे इस लोकमें रहता हुआ कोई भी मनुष्य कभी मुक्त नहीं हो सकता था।

http://sahjanandvarnishastra.org/

अहिंसामें संयम—इस उपर्युक्त कथनसे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि जो हिंसा बुद्धिपूर्वक होती है, जहां हमारे भाव जीवघातके होते हैं, वही हिंसा है और उसीके हम भागी हैं। जहाँ हमारे भाव किसी भी जीवको स्वयंको या अन्यको घातनेके नहीं हों हम पूर्ण रूपसे अप्रमत्त है, सावधान हैं, जीव रक्षामें तत्पर या संयमोंमें निरत हैं, वहां अबुद्धिपूर्वक होने वाली हिंसाके हम दोषी नहीं होते हैं। अबुद्धिपूर्वक और अज्ञानपूर्वक होने वाली हिंसामें जमीन आसमानका अन्तर है। जहाँ अबुद्धिपूर्वक होने वाली हिंसाका साधुको रंचमात्र भी पाप नहीं लगता, वहां अज्ञानपूर्वक होने वाली हिंसासे उसे महापापी बतलाया है। यही कारण है कि शास्त्रोंमें साधुको एक विशेषण विदितजीवस्थानादि दिया गया है। प्रश्न—क्या हमारे अबुद्धिपूर्वक हिंसा नहीं होती? उत्तर—प्रमत्तयोगियोंके जो अजानकारीमें हिंसा होती है, उसे अबुद्धिपूर्वक न कहकर अज्ञानपूर्वक कहा गया है। किन्तु अप्रमत्तयोगियोंके अर्थात् शुद्धोपयोगियोंके जो हिंसा होती है उसे ही अबुद्धिपूर्वक माना गया है और उसके पापसे उसे अलिप्त कहा गया है। प्रमत्तयोगियोंके अजानकारीमें होने वाली हिंसाको अज्ञानपूर्वक होने वाली हिंसा माना गया है और उसके महापापसे हम सदा लिप्त होते रहते हैं। हाँ, ज्ञानी प्रमत्तमें कुछ अन्तर है। वास्तवमें हिंसा तो रागादिभाव स्वयं है। ऊपर आचार्यने जो प्राणिसंयम और इन्द्रियसंयमका निरूपण किया है उसमें भावोंके संभालकी—विकल्पोंसे छुड़ानेकी ही बात कही गई है, वही सच्ची स्वदया है, वही सच्ची अहिंसा है और वह सत्यार्थ संयम है।

शुद्धोपयोगपरिणतकी तपः संयुक्तता—बाह्य और अन्तरंग बारह प्रकारके तपके बलसे स्वरूपमें विश्राम करना और सर्व प्रकारकी तरंगोंको दूर कर निस्तरंग चैतन्य प्रकाशसे तपना, दैदीप्यमान होना सो तप है। जैसे समुद्रकी तरंगें समुद्रमें लीन होती हैं तथैव आत्माकी तरंगें आत्मामें ही विलीन हो जाती हैं। असंयम अवस्थामें विषयरूप जो अन्यथा आचरणकी और नाना प्रकारके तज्जनित विकल्पोंकी तरंगें उठा करती थीं उन तरंगोंका स्वात्मभावनामें परिणत होकर एकदम विलय कर देना और ज्ञानज्योतिसे तपना, प्रकाशमान रहना ही अध्यात्मभावमें तप माना गया है। बाह्य क्लेशके सहनेको तप नहीं माना गया है, क्योंकि उसे तो संसारके सभी प्राणी सहन करते हैं, पर उससे इष्ट सिद्धि नहीं होती। बाह्य तप अंतरङ्गमें उठने वाले विकल्पोंके ज्ञानमें सहायक वातावरणमात्र होते हैं, अतः उपचारसे उन्हें तप कहा गया है। वस्तुतः चैतन्यवृत्ति ही तप है। प्रश्न—यदि अनशनादि परमार्थसे तप नहीं हैं, तो उन्हें क्यों किया जाय? इस प्रश्नका उत्तर पूज्यपाद आचार्य ने अपने समाधितंत्र में इस प्रकार दिया है—अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ। तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भाययेन्मुनिः॥ अर्थात् जो ज्ञान अदुःखभावित होता है, बिना कष्ट सहन किये उत्पन्न होता

Report any errors at vikasnd@gmail.com

है, वह दुःखके आने पर तुरन्त नष्ट हो जाता है। किन्तु जो ज्ञान दुःख-भावित होता है, वह महाकष्टोंके आने पर भी क्षीण नहीं होता, सदा प्रकाशमान रहता है। यदि साधु स्थायी, अविनाशी और अक्षय रहने वाले ज्ञानको प्राप्त करना चाहते हैं, तो उन्हें यथाबल अपनी शक्तिके अनुसार अपनेको दुःखोंसे भावित करना चाहिए अर्थात् अनशनादि तपोंको करके ज्ञानपूर्वक ज्ञानाभ्यास अन्तरंग तप करना चाहिए, तब जो ज्ञान प्राप्त होगा वह अनन्तकाल तक स्थायी रहेगा अर्थात् पूर्ण बनकर पूर्ण ही रहता रहेगा। शुद्धोपयोगमें परिणत वे आत्मा कैसे हैं ? तपस्वी हैं। तपका अर्थ है स्वरूपमें समाये हुए निस्तरंग रागद्वेषादिरहित चैतन्य-भावमें प्रतपन करना विजय पाना। इस प्रयोजनको लेकर जितने भी बाह्य साधन हैं उन्हें उपचारसे तप कहते हैं। तप बाह्य और आभ्यान्तर तपके बलसे काम क्रोध आदि शत्रुवोंसे जिसका प्रताप परिणाम खण्डित नहीं होता ऐसे उन आत्माका निज शुद्ध आत्मामें—चैतन्य भावमें तपना अलौकिक विजय पाना तप है, उस कर युक्त है तन्मय है।

शुद्धोपयोगीकी विगतरागता—वे शुद्धोपयोगपरिणत आत्मा विगतराग हैं—राग इनसे दूर हो रहा है। यह राग आत्माकी स्वकीय परिणति नहीं है, सहज परिणति नहीं है किन्तु वैभाविक परिणति औपधिक परिणति है। यह परिणति निमित्त बिना नहीं होती है और निमित्तसे भी नहीं होती है। निमित्तको पाकर अपने द्रव्य क्षेत्र भावके अशुद्ध परिणमनसे होती है। रागादिभावोंमें जो निमित्त पड़ता है उसकी संज्ञा है 'कर्म'। वे कर्म ८ होते हैं—ज्ञाना-वरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय। इनमें सबका प्रधान मोहनीय भाव है सब कर्मोंके बंधका कारण मोहनीय कर्मके उदयमें होने वाले भाव हैं। मोह-नीय कर्मके नष्ट होनेपर सभी कर्म यथासमय नष्ट हो जाते हैं, इसलिये मोहनीय कर्मके विपाक जो मोहराग द्वेष है उन औपाधिक अपवित्र क्षणिक भावोंसे निज ज्ञायक भावको—जो सहज शुचि और स्थायी है—भिन्न पहिचाने और निज ज्ञायकभावकी भावना स्थिरतापूर्वक करे तो इस अभिन्न प्रक्रियासे यथा निर्विकार आत्माका सहज स्वरूप है तथा प्रकट होता है और वह आत्मा विगतराग कहलाता है! यह विरागका विधिरूपसे वर्णन है, विधिरूप तत्त्व समझमें न आनेपर निषेधका कोई महत्त्व नहीं है। यह विगतराग अवस्था कैसे होती है ? इसका उत्तर इसके पूर्वविशेषणसे मिलता है अर्थात् अन्तरंग संयम तपके बलसे यह विराग अवस्था प्रकट होती है। सारांश यह है कि वीतराग शुद्धात्माकी भावनाके बलसे समस्त रागादिदोषरहित होने वाला आत्मा विगतराग है। रागरहित होने के लिये उपाय क्या है ? रागरहित पद्धतिसे रागरहितका लक्ष्य होना रागरहित होनेका उपाय है। रागरहित पद्धति अखंड निर्मल अनादि अनंत ज्ञायक भावको अभेदरूपसे लक्ष्यमें लेना है। इस निज चैतन्य भगवान्के दर्शन प्रथम ही प्रथम होते समय स्वभावविरोधक कर्मराजकी क्या परिस्थिति होती है ? इसका वर्णन अन्य

http://sahjanandvarnishastra.org/

प्रकरण पाकर करूंगा। पहिले मोह नष्ट होता है पश्चात् राग-द्वेष भी मूलसे नष्ट हो जाते हैं।

शुद्धोपयोगीकी समसुखदुःखता—विगतराग शुद्धोपयोगसे परिणत आत्मा कैसा है समसुख दुःखः – सुखदुःखमें समान है। वास्तवमें तो वह सुख दुःखकी कल्पनासे ही दूर है अर्थात् जैसे वह सुख होते हुए भी सुख कल्पनासे रहित है, वैसे असाताके तीव्र उदयमें भी दुःखकी कल्पनासे रहित है। सुख और दुःख पर्याय है, ज्ञानी किसी भी पर्यायमें आत्मबुद्धि नहीं करता, फिर लौकिक सुख, दुःख जैसे गंदे विभावोंसे वैसे रुचि प्रतीति लीनता करेगा? ये श्रमण समसुख दुःख कैसे होते हैं? इस पर विचार करना है। समतापरिणाम विषमताके दूर हुए बिना प्रकट नहीं होता। समता विषमता भी पर्याय है और हैं विरोधी पर्याय, विषमताके होने पर समता नहीं और समताके होने पर विषमता नहीं। जिसके सुख दुःखसे उत्पन्न हुई परिणामोंकी विषमता है वह श्रमण नहीं शुद्धोपयोग में परिणत नहीं। ये सुख दुःख आत्माके सहज भाव नहीं। ये साता असाता वेदनीयके उदय में मोहनीयकी वासनासे होते हैं। यह सुखदुःखोंकी विषमता जब परमकला जो शुद्धज्ञान भावतत्त्व उसके अवलोकनसे अनुभवमें नहीं आती उस समय वह समसुखदुःख कहलाता है। उन शुद्धोपयोगपरिणत आत्मावोंके साता असाता वेदनीयजन्य सुख दुःखके विभाव भले ही हों परन्तु उनकी विषमताका अनुभव ही नहीं होता, क्योंकि विषमताका अनुभव मोहनीयके विपाकसे होता है सो मोहनीय क्षीण हो रहा है। विषमताके अनुभव बिना सुख दुःख सुख दुःख ही नहीं हैं, नाम मात्रके हैं। इस प्रकार निर्विकल्प निर्विकार शुद्धात्मासे उपयोगरूप परमसमाधिसे उत्पन्न हुई परमसुखमें लीन परमकलाके बलसे इष्ट अनिष्ट इंद्रिय मनके विषयोंमें हर्ष विषाद न रहनेसे स्वयं समसुखदुःख होता हुआ श्रमण शुद्धोपयोग है।

परमार्थ श्रामण्यका निरूपण—यहां श्रमण शुद्धोपयोग है, यह गुण-गुणीके अभेद विवक्षाके वर्णन है। यद्यपि यहाँ श्रमण भी पर्याय है और शुद्धोपयोग भी पर्याय है तथापि शुद्धोपयोग तो गुणपर्याय ही है और श्रमण यहाँ आधार रूपसे विवक्षित है, अतः श्रमणको गुणीरूपसे कल्पित किया है। यहाँ भगवान् कुन्द-कुन्द महाराजने कारण-कार्यभावरूपसे पहिली परिस्थितिसे उठाते हुए उत्कृष्ट परिस्थिति तकका वर्णन करते हुए आचार्यने शुद्धोपयोगमें परिणत आत्माके स्वरूपका वर्णन किया। वर्णन ही नहीं किया किन्तु निरूपण ही कर दिया। वर्णन तो विस्तार और स्पष्टरूपसे कहनेका नाम है और निरूपण कहते हैं नि—समस्तरूपसे रूपण कहिये देखना व दिखाना। जहाँ ऐसा वर्णन हो कि वक्ता और श्रोतावोंको वाच्य अर्थ का प्रतिभास होता जावे उस वर्णनको निरूपण कहते हैं। यहाँ तक १४ गाथावोंका प्रकाश हुआ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com

http://www.jainkosh.org

प्रवचनसारकी समस्त भूमिका—इस प्रवचनसार ग्रन्थमें जो कुछ वर्णनीय है वह उसका दिग्दर्शन इन १४ गाथावोंमें हो चुका, अतएव ये १४ गाथायें प्रवचनसारकी पीठिका स्वरूप हैं। प्रवचनसार तीन महाधिकारोंमें है—१–ज्ञानाधिकार, २–दर्शनाधिकार अथवा ज्ञेयाधिकार, ३ चारित्राधिकार, किन्तु प्रवचनसार समस्त एक अधिकारकी दृष्टिसे देखा जावे तो यह चारित्रका ग्रन्थ है। यद्यपि यह चारित्रका ग्रन्थ है तथापि अन्तरंगदृष्टिसे चारित्रके वर्णनमें ज्ञान और ज्ञेयका यथार्थस्वरूप वर्णित होना आवश्यक ही है, जिसके बिना अन्तश्चरणका वर्णन हो ही नहीं सकता। इस कारण ज्ञान ज्ञेय चारित्र अथवा ज्ञान दर्शन चारित्रके अधिकार आना प्राकृतिक बात है। पीठिकास्वरूप इन १४ गाथावोंमें भी ज्ञान ज्ञेय चारित्र का दिग्दर्शन हो चुका है। सर्व प्रथम तो पाँच गाथावोंमें मंगलाचरण किया गया। इस मंगलाचरणमें भी ज्ञान दर्शन चारित्रका प्रतिभास-अवलोकन है और अन्तमें तो स्पष्ट कह ही दिया है कि पंचपरमेष्ठिदेवोंके दर्शनज्ञान प्रधान भावाश्रमको प्राप्त करके समताको प्राप्त होता हूं। मंगलाचरणरूप पाँच गाथावोंके अनन्तर तीन गाथावोंमें (६-७-८) चारित्रविषयक मुख्य प्रतिपादन किया। तदनन्तर एक गाथामें दर्शन अथवा ज्ञेयविषयके प्रकृतप्रयोजनको लेकर शुभोपयोग अशुभोपयोग शुद्धोपयोगरूपसे सात तत्त्वोंका मर्म बताया। पुनः द्रव्य गुण पर्याय अथवा उत्पादव्ययध्रौव्यके आशयको लेकर जिनका कि ज्ञेय पदार्थके साथ अयुत सम्बन्ध है, दशवीं गाथामें विवेचन किया गया। तदनन्तर शुद्ध और शुभ परिणाम इन दोनोंमें उपादेय शुद्ध है और शुभ हेय है, इसका वर्णन फलप्रदर्शन की मुख्यतासे किया है और १२ वीं गाथा में अशुभोपयोग तो प्रथमतः ही अत्यन्त हेय है, उसका फल दिखाते हुए कहा है। तदनन्तर तेरहवीं गाथामें शुद्धोपयोगके फलस्वरूप सहज ही विकसित होने वाले शाश्वत पूर्ण आह्लादमय निराबाध अनुपम परम सुखको दिखाया है, फिर १४ वीं गाथामें तो सर्व प्रक्रियाकी विवेचना है—आत्मा कैसे शुद्धोपयोगका पात्र होता है, कैसे शुद्धोपयोगमें प्रवेश करता है और शुद्धोपयोगका अधिकारी होता है? शुद्धोपयोगका पूर्ण अधिकार होनेपर अथवा शुद्धोपयोगमें परिणत होनेपर उस आदर्श आत्माका क्या स्वरूप बनता है, इसका साक्षात्कार कराया गया।

मुमुक्षु जनोंका सौभाग्य—आज हम लोग बड़े ही पुण्यस्वरूप हो रहे हैं कि भगवान कुन्दकुन्द द्वारा लिखित सारभूत तत्त्वोंका मनन और अनुपालन करनेकी हमें पात्रता प्राप्त हुई है। यह हमारा मनुष्यकाल अनादि-अनंतकालके समक्ष क्या है, कितना है? अनन्तकाल परिभ्रमण करते हुए आज मनुष्यभवमें तत्त्वचिन्तना व यथाशक्ति संयम पालनेका अवसर मिला है तो विचारो यह कितना अमूल्य अवसर है? ३४३ घनराजू प्रमाण लोकक्षेत्रमें प्रति प्रदेशमें अनन्त बार जन्म ले लेकर दुःख भोगे और आज इस बुद्धिसहित भगवान महावीर स्वामीके तीर्थकालमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यके पवित्र वाक्योंका मनन कर रहे हैं तो आप सोचिये

Version 1

http://sahjanandvarnishastra.org/

कितना अपूर्व अमूल्य अवसर है ? हमें अपने आपकी आत्माका कल्याण कर लेने का अवसर नहीं चूकना चाहिये। हमपर निरपेक्ष इन साधुसंतोंका कितना उपकार है जिसका कुछ वर्णन ही नहीं हो सकता। हे कुन्ददेव ! हे अमृतचन्द प्रभो ! हे जयसेन महाराज ! हे समन्तभद्र योगिराज ! मैं तुम्हारे समयमें तुम्हारे परिचयमें रहा होता तो चरणोंमें लोटकर भक्तिके आंसुवोंसे चरण पखाल देता। धन्य हो देव, भक्तिभाव सहित आपको मेरा नमस्कार हो।

हे आत्मन् ! पंथ तो जाना, तव कर्तव्य है कि—व्यवहारनयसे निश्चयनयके विषयभूत अखंड स्वभावके समीप पहुंचकर निश्चयनयके अवलम्बनसे ऐसी उपासना करो कि सर्वनय पक्ष छूटकर केवल-समस्त संकल्पविकल्प-जालसे रहित शुद्ध चैतन्यमात्र अनुभवन रहे।

इति अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्रीमत्सहजानंद महाराज द्वारा जयपुरमें प्रवचन किये गये प्रवचनसार प्रवचनमें पीठिकाधिकार समाप्त हुआ।

Report any errors at vikasnd@gmail.com